ISSN : 2320-7604
RNI NO. : DELHIN/2008/27588
Listed in UGC Care journal
October, 21, Part 1, Serial.No. 143

त्रैमासिक

बहुरि नहिं आवना

अंक-22
जनवरी 2023 - मार्च, 2023
मूल्य : 200 रुपए

आजीवक महासंघ ट्रस्ट द्वारा निर्गत

संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य

वर्ष : 15
अंक : 22
अंक : जनवरी, 2023 - मार्च, 2023
संस्थाओं के लिए प्रति कापी : 250 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्क : 3000 रुपए
आजीवन सदस्यता : 10000 रुपए

संपादकीय पता
जे-5, यमुना अपार्टमेंट,
होली चौक, देवली,
नई दिल्ली-110080
मोबाइल : 09868701556
Email: bahurinahiawana14@gmail.com
Website-www.bahurinahiawana.in

Advertisement Rate
Full Pagen`Rs. 20,000è-
Half Pagen`Rs. 10,000è-
Qtr. Pagen`Rs. 5,000è-
Back Cover n`Rs. 40,000è- (four colour)
Inside Front n`Rs.35,000è- (four colour)
Inside Back n`Rs.. 35,000è- (four colour)

Mechanical Data
Overall Size 27.5 cms x 21.5 cms
Full Pages Print Area 24 cms x 18 cms
Half Page 12 cms x 18 cms or
24 cms x 9 cms
Qtr Page12 cms x 9 cms

प्रधान संपादक
प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'
संपादक
प्रो. दिनेश राम
सहायक संपादक
डा. अनिरुद्ध कुमार 'सुधांशु'
डा. सुनीता देवी
भाषा सहयोग
डा. हेमंत कुमार 'हिमांशु'
डा. राजकुमार राजन
कानूनी सलाहकार
एड. सतपाल विर्दी
एड. संदीप दहिया

संपादकीय सलाहकार एवं विषय विशेषज्ञ
डा. वी. पी. सिंह, प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर, बलवीर माधोपुरी, प्रो. फूलबदन, प्रो. नामदेव, प्रो. सुजीत कुमार, डा. चन्देश्वर, डा. दीनानाथ, डा. मोहन चावड़ा, विजय सौदायी, डा. यशवंत वीरोदय, डा. सुरेश कुमार, डा. मनोज दहिया

अप्रवासी समाज, संस्कृति और साहित्य के विशेषज्ञ
ओमप्रकाश वाघा, नरेन्द्र खेड़ा, राम बाबू गौतम, डा. गुलशन नजरोवना जुगुरोवा, डॉ. बयात रहमातोव, डा. सिराजुद्दीन नूरमातोव

* पत्रिका पूरी तरह अवैतनिक और अव्यावसायिक है।
* पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
* अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।
* 'बहुरि नहिं आवना' के सारे भुगतान मनीआर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट 'बहुरि नहिं आवना' के नाम से स्वीकृत किये जायेंगे।
* स्वामी, संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक प्रो. दिनेश राम की ओर से भारत ग्राफिक्स, सी-83, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-20 द्वारा मुद्रित एवं एफ-345, लाडो सराय, नई दिल्ली- 30 से प्रकाशित।
* 'बहुरि नहिं आवना' में प्रकाशित लेखों में आये विचार लेखकों के अपने हैं जिन से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

अनुक्रम

हमें पत्र-पत्रिकाएं क्यों चाहिए?—*संपादकीय*	*—श्यौराज सिंह 'बेचैन'*	4
छायावादी साहित्य और प्रयाग की साहित्यिक पत्रकारिता	*—डा. बृजेंद्र कुमार अग्निहोत्री*	7
आजीवक वैचारिकी तथा सूरजपाल चौहान की काव्य अभिव्यक्ति	*—अंकित कुमार वर्मा*	11
उदय प्रकाश की कहानियों में दलित-चेतना	*—मृत्युंजय कोइरी*	14
समकालीन कविता में दलित वैचारिकी	*—अनुज कुमार रावत*	18
रामधारी सिंह दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विवेचनात्मक अध्ययन	*—विजय कुमार पाल*	22
सभ्य समाज से संवाद करती कविताएँ	*—डा. बन्ना राम मीना*	25
अजन्ता की गुफाओं का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक बुद्धमय पक्ष	*—आनंद शत्रुघ्न प्रताप*	29
सत्य परेशान हो सकता है परास्त नहीं (पुस्तक समीक्षा)	*—डा. दीनानाथ*	33
सुमित्रनंदन पंत की छायावादी विचारधारा	*—डा. अशोक कुमार यादव*	40
'त्यागपत्र'—आत्मपीड़ा का संघर्ष और उसके मायने	*—डॉ. कुमार भास्कर*	43
डा. भीमराव अम्बेडकर द्वारा सम्पादित लेखों में दलित चिंतन	*—बृजेश कुमार* *—प्रो. राजेश गर्ग*	47
तुलनात्मक दृष्टि से दलित और आदिवासी साहित्य में 'अस्तित्व का संघर्ष'	*—डॉ. राम बिनोद रे*	51
कबीर की परंपरा का कवि 'विद्रोही'	*—जितेंद्र कुमार यादव*	54
दलित स्त्री पीड़ा की मुखरित आवाज 'हवा सी बैचैन युवतियाँ'	*—रेखा अहिरवार*	57
'कुच्ची का कानून' कहानी में अभिव्यक्त स्त्री-प्रतिरोध का स्वर	*—शिव देव प्रजापति*	61
गोर्की के उपन्यास 'माँ' में चित्रित स्त्री पात्रों का संघर्ष एवं चरित्र-चित्रण	*—राकेश कुमार*	64
तिब्बत के समए मठ में बौद्ध धर्म पर भारतीय और चीनी सम्प्रदाय की बीच के वाद-विवाद पर विश्लेषण	*—नीमा टाशी (शोध छात्र)*	68
हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना का विवेचनात्मक अध्ययन	*—जितेन्द्र कुमार मौर्य*	71
दलित स्त्री-विमर्श के संदर्भ में दोहरा अभिशाप की प्रासंगिकता	*—तान्या लाम्बा*	74
साहित्य, सिनेमा और संस्कृति की पारस्परिकता	*—डा. पूनम शर्मा*	77
अमरकान्त के कथा साहित्य में मध्यमवर्ग की अवधारणा का विश्लेषणात्मक अध्ययन	*—अंजनी शरण गुप्ता*	81
वैश्विक दृष्टि से पर्यावर्णीय वायु तत्त्व का महत्त्व (अथर्ववेदीय सन्दर्भ)	*—डा. अभिमन्यु सिंह*	84
अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती की कहानियों में चित्रित परिवेश	*—डा. गुलाब सिंह यादव*	88
शैलेश मटियानी की कहानियों में जीवन संघर्ष	*—डा. नीरज कुमार*	92
आदिवासी साहित्य के विविध आयामों का अध्ययन	*—शैलेन्द्र सिंह* *—डा. सुमित मोहन*	96

दशकीय वर्ष 2001-2011 के मध्य जनपद जालौन की अनुसूचित जाति की महिलाओं का शैक्षिक विकास	*–अजय कुमार अहिरवार* *–डॉ. राजीव अग्रवाल*	98
भारतीय समाज में महिलाओं का शैक्षिक विकास : एक विमर्श	*–अजय कुमार सिंह*	103
चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के कहानी संग्रह 'आधा कमरा' की कहानियों में जीवन दृष्टि	*–अविनाश यादव*	106
हिन्दी उपन्यासों में किन्नर समुदाय की सामाजिक चुनौतियाँ	*–बबीता*	110
शहरी एवं ग्रामीण माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षकों के शिक्षण शैली पर विद्यालयी वातावरण के प्रभाव का अध्ययन	*–डा. डी.पी. मिश्रा* *–अरविन्द कुमार*	113
आदिवासियों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश	*–डा. ज्योति गौतम*	117
सच होकर भी सच से दूर : झूठा सच	*–डा. मनोज कुमार पाण्डेय*	121
उपन्यास 'पिछले पन्ने की औरतें' में स्त्री जीवन	*–डा. राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी*	124
उत्तराखंड की भोटिया जनजाति में महिलाओं की सामाजिक स्थिति : खम्पा समाज के परिपेक्ष्य में	*–डा. शिवानी रावत* *–अजय सिंह खम्पा*	127
स्वतन्त्रता आन्दोलन एवं संस्कृत साहित्य	*–डा. जेबा खान*	131
गुलशेर खाँ शानी का परिवेश और रचना धर्मिता : एक अवलोकन	*–विप्लव गौतम* *–डा. अखिलेन्द्र प्रताप सिंह*	134
भारत रूस के मध्य सांस्कृतिक एवं अन्य सम्बन्ध	*–डा. पुष्कर पाण्डेय*	137
भारत और नेपाल : एक साझी सांस्कृतिक विरासत	*–प्रो. डी. आर. यादव* *–अनुराग यादव*	141
भूगोल में नारीवादी चिंतन के वैदिक आयाम	*–डा. रत्नेश शुक्ल* *–रोहणी तिवारी*	145
गिरिराज किशोर के कहानी संग्रह 'यह देह किसकी है' में कथ्य का आर्थिक संदर्भ	*–डॉ. अंजू बाला*	148
समकालीन हिन्दी गजल में गाँव	*–अक्षय सभरवाल*	151
आधुनिक हिंदी कविता में राष्ट्रीय भावना	*–आलोक रंजन पांडेय*	154
स्वाधीनता के यज्ञ में बाल आहुति : वानर सेना	*–डा. इन्दू कुमारी*	158
मुंशी प्रेमचंद की कहानियों में सामजिक अवधारणा	*–डा. नीलम देवी*	161
निर्मल वर्मा के निबंधों में उत्तर-औपनिवेशक विमर्श	*–डा. राजकुमार राजन*	164
कबीर के काव्य का लोकधर्म और दलित चेतना	*–डा. रमा शंकर सिंह*	167
जुलूस (तेलुगू कहानी)	*–बोय जंगय्या* *–डॉ. राजू गाजुला (अनु.)*	170
प्रो. रजत रानी का साक्षात्कार	*–डा. वंदना*	175
रिपोर्ट–प्रो. रजत रानी 'मीनू' को डॉ. अंबेडकर नेशनल अवार्ड और माता सावित्रीबाई फुले अंतरराष्ट्रीय अवार्ड	*–अनुज कुमार*	179

संपादकीय

हमें पत्र-पत्रिकाएं क्यों चाहिए?

–श्यौराज सिंह 'बेचैन'

क्या हमें अपने साहित्य में अभिवृद्धि करने के लिए पत्रिकाओं के प्रकाशन की आवश्यकता है? क्या हमें पत्रिका रूपी दर्पण की दरकार है जिस में समाज अपनी बनती-बिगड़ती सूरत का अवलोकन कर सके–अर्थात, हम क्या हैं, कैसे हैं, इस दर्पण में हमारी सूरत कैसी प्रतिबिंबित हो रही है? 29 जनवरी, 2023 को 'महात्मा ज्योतिबा फुले प्रतिष्ठान' के बुलावे पर मैं औरंगाबाद गया था। बाबा साहेब के द्वारा निकाले गये समाचार पत्र 'मूकनायक' के 103 वर्ष पूरे होने के अवसर पर आयोजित चर्चा में शामिल हुआ था। उस में बाबा साहेब के पौत्र यशवंतराव के पुत्र भीमराव अम्बेडकर ने कहा, ''बाबा साहेब ने जब 'मूकनायक' निकाला था तब 'बहिष्कृत भारत' में शिक्षितों की संख्या बहुत कम थी। हमारे लोगों के पास पैसे का भी अभाव था फिर भी पत्रिका निकाली गयी और पाठकों ने दोहरी-तेहरी भूमिका निभायी। पत्रिका को एक व्यक्ति पढ़ता था पाँच व्यक्ति सुनते थे। चंदा एकत्र करते थे, खरीद कर पढ़ते थे और संग्रह करते थे।

आज शिक्षितों की संख्या अधिक है। क्रय क्षमता भी बढ़ी है। इतना पैसा है कि पत्रिका खरीद कर पढ़ी जा सके, बल्कि आर्थिक मदद दे कर दस और प्रतियाँ पढ़वायी जा सकें। परन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। क्या हमारे सामाजिक भाई-बहनों में पठन-पाठन की इच्छा शक्ति की कमी है या हमारी पत्रिकाएं उन की अपेक्षाएं पूरी नहीं कर पा रही हैं? संपादकों-लेखकों से हमारे समाज की अपेक्षाएं क्या हैं, क्या हम ने जानने का कोई ऐसा प्रयास किया है और क्या ऐसा कोई सर्वे हमारे पास है? स्वतंत्रता आंदोलन की पत्रिकाओं में ऐसी पत्रिकाएं नगण्य थीं जो अस्पृश्ययों के प्रश्नों को हमारे उपेक्षित-पिछड़े समाजों की ओर से उठाती रही हों, जब कि अपने सीमित संसाधनों में प्रयास होते रहे हैं। 'मूकनायक' के प्रवेशांक में संपादक डा. अम्बेडकर ने पूर्व की पत्रिकाओं का उल्लेख किया है और बताया है कि उन में कई पत्रिकाएं अकाल ही गुजर गयीं। कुछ ने जैसे-तैसे दिन गुजारे।

दत्तो पवार ने 'मूकनायक' निकलवाने में बाबा साहेब डा. अम्बेडकर की मदद की। उन्होंने इस काम में बाबा साहेब डा. अम्बेडकर और छत्रपति शाहू जी महाराज के बीच सेतु का काम किया। साहू जी महाराज की विशेष सहायता से 'मूकनायक' निकलता तो रहा, परन्तु उसे कितनी कम उम्र मिली यह भी विचारणीय है। पत्रिका के बगैर समाज को जागृत नहीं किया जा सकता। समाज के मुद्दे, समस्याएं, सुधार की संकल्पनाएं बिना मंच के आगे नहीं चल सकतीं।

सदियों से संतप्त जातियों के लिए इन की बहुत आवश्यकता होती है। जो व्यक्त नहीं होता वह व्यक्ति नहीं होता।

प्रिटिंग की पुरानी पद्धति और साधनों के अभाव के बावजूद—मराठी, गुजराती, पंजाबी और हिन्दी आदि सभी भाषाओं में हमारे पूर्वज संपादकों-स्वामियों ने पूरे प्रयास किये। उन्होंने दलित पत्रकारिता का एक प्रेरणादायी इतिहास रचा। परन्तु, जिस अनुपात में संपन्न-सवर्णों ने मीडिया-मार्फत अपना विकास किया दलितों की पत्रकारिता नहीं कर सकीं। इसलिए लोकतांत्रिक भागीदारी और समता के लक्ष्य को पाने की बात तो छोड़िए उन का अस्तित्व ही संकट में है। अग्रज पत्रकारों ने जो प्रयास किये उन का स्वरूप राजनैतिक अधिक रहा साहित्यिक कम। हमारे दो मूर्धन्य और सक्रिय पत्रकार—कंवल भारती और मोहनदास नैमिशरायने राजनैतिक सवालों पर अधिक लिखा। इन्होंने दलित राजनीति की समीक्षा करने में अधिक ऊर्जा व्यय की।

पिछले तीन दशकों में मेरी दृष्टि में जो पत्रिकाएं आयीं, उन में साहित्य की बात, खास कर विमलकीर्ति की पत्रिका 'अंगुत्तर' ने की, वह भी मराठी क्षेत्र से हिंदी में निकाल कर। वर्ष 1999 में डा. जयप्रकाश कर्दम ने 'दलित वार्षिकी' आरम्भ की। धीरे-धीरे यह पत्रिका भी सिमटती चली गयी, बल्कि सम्यक प्रकाशन पर जाने के बाद वह लगभग व्यावसायिक और स्तरहीन होती चली गयी। परन्तु उस के आरम्भिक अंक संग्रहणीय रहे। नैमिशराय जी ने पत्रकारिता में कई प्रयोग किये और निरंतरता बनाये रखी। उन्होंने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा पूर्णकालिक लेखक के रूप में गुजार दिया। परन्तु बड़बोलापन, शेखी और मैं-मैं ने उन के पाठकों को नाखुश किया। उन्होंने 'बयान' पत्रिका को परिपक्व अवस्था में आ कर निकाला लेकिन उस में साहित्यिक गम्भीरता का परिचय नहीं मिला। किसी साहित्य अध्येयता के लिए वह संग्रहणीय नहीं रही।

अपने निजी प्रयासों से निकली 'अम्बेडकर इन इंडिया' सामाजिक प्रश्नों पर काफी मुखर बनी रही, परन्तु साहित्य के लिए उस में भी जगह नहीं थी। शायद इसलिए कि संपादक दयानाथ निगम एक सामाजिक कार्यकर्ता थे, साहित्य से उन का कोई लगाव नहीं था। सो, वही उन की पत्रिका में दिखायी पड़ता रहा। परन्तु समाज-सरोकार की दृष्टि से, इस पत्रिका के कई अंक यादगार दस्तावेजी बन पड़े। समस्या यह है कि दलित पत्रिकाएं संस्थागत नहीं वैयक्तिक प्रयासों से चल रही हैं। हालांकि, जब कद और समर्पण बड़ा हो जाता है तब व्यक्ति भी संस्था का पर्याय हो जाता है। 'हंस' पत्रिका का उदाहरण है हमारे सामने है।

हम साहित्यक गतिविधियों की जगह अन्यत्र तलाश करते रहे। राजेन्द्र यादव का 'हंस' रमणिका गुप्ता का 'युद्धरत आम आदमी' छिटपुट मंच बने। विभांशु दिव्याल ने दैनिक पत्र राष्ट्रीय सहारा के हस्तक्षेप के आठ पृष्ठ दलित लेखन को वर्ष 1997 में दे दिये। बहुजन समाज पार्टी के संस्थापक मान्यवर कांशीराम ने 'बहुजन संगठक' सहित कई पत्रों की स्थापना की, परन्तु वे सब राजनीति केन्द्रित रहे। यह उन के लिए स्वाभाविक था। साहित्य, संगीत और कला के प्रति बहन मायावती की रुचि नहीं थी। इसलिए उन के यहाँ साहित्यकारों के लिए कोई जगह नहीं बनीं। यह काम साहित्यकार का था कि वे साहित्यक मंच तैयार करते। वित्तीय संकट के साथ-साथ बौद्धिकों में ईगो, पारस्परिक स्पर्धा और ईर्ष्या ने उन्हें मिल कर संगठित प्रयासों के लायक नहीं बनने दिया। संपादक जिस विचार से संपन्न था उसी के अनुसार उस का व्यवहार प्रकट हुआ।

डा. तेजसिंह ने प्रो. नामवर सिंह की भक्ति से आलोचना का गुर सीखा। वास्तविकता की समझ देर से आयी पर रही बड़ी रचनात्मक। हालांकि, अम्बेडकर के अध्ययन में वे प्राथमिक छात्र जितने ही थे, परन्तु उन्होंने दलित साहित्य में अम्बेडकरवाद का ऐसा प्रयोग किया कि मानो तेजसिंह पहले और आखिरी अम्बेडकरवादी हों। वे स्वयंभू जज बने कि कौन स्त्री और पुरुष रचनाकार अम्बेडकरवादी है कौन सा मनुवादी। योगदान यह रहा कि उन्होंने 'अपेक्षा' पत्रिका के कई अंक रचनात्मक साहित्य विशेषांक के रूप में निकाले। उन की स्मृति के लिए यह योगदान अहम रहा। अब अपना मुंह भी दर्पण में देख लिया जाए कि हम ने कौन से तीर मारे। 'दलित प्रक्रिया' बमुश्किल एक दर्जन अंक निकाल कर बंद बरनी पड़ी। 'सम्यक भारत' और 'दलित अस्मिता' को प्रूफ की परवाह नहीं। अर्थ का अनर्थ होता है तो होता रहे।

'हम दलित' पत्रिका को ले कर पत्रकार राजकिशोर ने टिप्पणी की थी, ''यह बहुत बुरे संपादन की पत्रिका है।'' राजनैतिक तस्वीरों के मोह को ले कर ऐसी ही टिप्पणी कमला नेहरू कॉलेज की संगोष्ठी में साहित्यिक पत्रकार प्रियदर्शन ने 'सम्यक भारत' को देख कर की थी। 'बहुरि नहिं आवना' आरम्भ से ही वैचारिक सामग्री से बोझिल बनी रही। साहित्य की अन्य विधाओं को इस में जगह नहीं मिल पायी। रचनात्मक साहित्य के लिए पत्रिका के आकार-प्रकार में भी बदलाव की जरूरत थी। क्या हम ने समय के किसी खालीपन की पहचान की है जिसे भरने की कवायद हमें करनी चाहिए।

साहित्य से हमारी रोटी-रोजी नहीं चलती। हर महीने महानायक का नया संस्करण आने का दावा करने वाले मोहनदास नैमिशराय भी आर्थिक संकट में है, ऐसा मानते हैं।

'मूकनायक' की तीस हजार प्रतियाँ छपती थीं फिर भी वह अल्पजीवी रहा। अब तीन हजार प्रतियाँ छपना मुश्किल हो तो पत्रिका वित्तीय संकट से कैसे मुक्त हो? हमारे कई लेखकों ने अपनी गाढ़ी कमाई व्यय कर के अपने पैसे से अपना साहित्य प्रकाशित कराया और मुफ्त वितरित किया। इस के बावजूद, उन का दूसरा संस्करण नहीं आया। हजारों रुपया दे कर आत्मकथा छपवाना और फिर पचास प्रतियाँ बाँट कर संतोष करना कितने पाठकों का भला कर सकती हैं?

प्रोफशनल पत्रकार हमारे पास नहीं हैं। गुजरात में दलितों ने सामूहिक प्रकाशन का एक प्रयास किया था। यदि इतना पैसा दे कर चंद प्रतियाँ पानी हैं तो हमें प्रकाशन खोलने के सामूहिक प्रयास करने ही चाहिए। माना हर पत्रिका की पहुंच सीमित है तो अपने-अपने दायरों में लघु पत्रिकाएं बड़ा काम कर सकती हैं। हम ने पुलंदे भी बाँध दिये और चर्बी चढ़ी काया पत्रिका भी बना दी तो वह बीमार पत्रिका किस काम की? पतली छोटी कसी हुई पत्रिका धारदार तलवार सी होगी। वह भोथरे या खारिज तोप से बेहतर होगी।

आइये, हम अपने पत्र-पत्रिकाओं की सेहत की फिक्र करें। लोकतंत्र ने रानी-मेहतरानी का अंतर समाप्त करने की नींव रखी, मुक्ति के मार्ग खुले। गैर-दलित सुविधाभोगी स्त्रियाँ चौका-चुल्हे से निकल कर ज्ञान-विज्ञान, कला, राजनीति, फिल्म, मीडिया, साहित्य-संगीत, सेना, चिकित्सा इत्यादि क्षेत्रों में आयीं। पूनापैक्ट के बाद पृथक निर्वाचन और उस से सत्ताओं में मिलने वाली भागीदारी मानो कल्पनातीत हो गयी। आज मीडिया में, फिल्मों में, चिकित्सा में, कला, संगीत और साहित्य में कौन महिलाएं आगे आयी हैं? दलित महिलाओं के प्रतिनिधित्व की नगण्यता सामाजिक दासता मूलक है।

मीडिया, न्यायपालिका, सिनेमा, साहित्य, कला और संगीत आदि में दलित-बहुजन और आदिवासी महिलाओं का अनुपात क्या है? दलित महिलाओं की दस करोड़ आबादी और उन की दस किताबें, कैसे संतोष हो? द्विज वर्ग की महिलाओं का साहित्य पर कब्जा और पत्रकारिता पर दबदबा है। वे साहित्य अकादमियों के पदों और पुरष्कारों को पा लेने में समर्थ हैं। दलित महिलाएं अपने सुसंपादन में संवेदनशील अपीलिंग साहित्य देंगी तब कहीं युग परिवर्तन होगा। क्या ऐसा पठन-पाठन दलित बच्चियों का हो रहा है जिन में हम भविष्य के संपादक और लेखिकाएं देख सकें?

–श्यौराज सिंह 'बेचैन'

छायावादी साहित्य और प्रयाग की साहित्यिक पत्रकारिता

—डा. बृजेंद्र कुमार अग्निहोत्री

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दो दशकों में नवजागरण की जिस चेतना का प्रस्फुटन हो रहा था, उसे हिंदी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी युग' कहा जाता है। यह वह समय था जब देश में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन व्यापक स्तर पर हो रहे थे। फ्रांस की राज्यक्रांति के रूसो और वाल्टेयर जैसे क्रांतिकारी विचारकों के संदेश भारतवासियों के मानस को आंदोलित कर रहे थे। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में स्वातंत्र्य-चेतना ने जीवन के सभी अंगों को प्रभावित करना आरंभ कर दिया था। द्विवेदीयुगीन साहित्य इसी की फलश्रुति है। द्विवेदीयुगीन साहित्य की वस्तुनिष्ठता, इतिवृत्तात्मकता ने रचनाकारों के वैयक्तिक भावनाओं को दबा दिया था। इन्हीं वैयक्तिक भावनाओं का प्रकटीकरण छायावादी साहित्य के रूप में हुआ, ऐसा माना जाता है। सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने इस वैयक्तिक-चिंतन को प्रोत्साहित कर आगे बढ़ाने का कार्य किया। उस समय साम्राज्यवादी शासन का आश्रय पाकर पूंजीवादी व्यवस्था की पकड़ दिनोदिन मजबूत होती जा रही थी, जिसके परिणामस्वरूप मध्यवर्गीय चेतना में विद्रोह की भावना बढ़ती जा रही थी और व्यक्तिवादी आदर्शों का प्रादुर्भाव हो रहा था। लोग यह अनुभव करने लगे थे कि सामाजिक-आर्थिक संघर्षों का मुकाबला व्यक्तिगत-चिंतन के आधार पर पर किया जा सकता है। छायावादी साहित्य के अन्दर जो व्यक्तिवादी आत्माभिव्यक्तिमूलक रचनाधर्मिता है, वह इन्हीं सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की उपज है। इस व्यक्तिवादी चेतना ने आगे चलकर बाह्य संघर्षों से छुटकारा पाने के लिए प्रेम और सौंदर्य के रोमांचकारी स्वप्न देखे और वैयक्तिक प्रणय को वाणी प्रदान की। प्रिय के सौंदर्य के रूप में नारी-सौंदर्य का चित्रण होने लगा। जिस नारी-प्रेम और सौंदर्य को द्विवेदीयुगीन की आदर्शवादिता ने प्रतिबंधित कर रखा था, उसे छायावादी साहित्यकारों ने कलात्मक रूप में प्रतिष्ठित किया। सौंदर्य और प्रेम के प्रति इसी आकर्षण को मनोवैज्ञानिक पद्धति से विचार करने वाले आलोचकों ने अतृप्त एवं दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति के रूप में देखा-परखा है। उनके विचार से छायावाद के मूल में यह मनोवैज्ञानिक कारण है।

छायावादी साहित्य का प्रारंभ वैसे तो सन् 1909 ई. में जयशंकर प्रसाद के संपादन में प्रकशित 'इंदु' के प्रकाशन से माना जाता है, परंतु सन् 1920 ई. तक इसमें कोई निखार दृष्टिगत नहीं होता। इस दृष्टि से जयशंकर प्रसाद छायावादी काव्य के प्रवर्तक माने जाते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और सियारामशरण गुप्त छायावाद के प्रवर्तक मैथिलीशरण गुप्त

और मुकुटधर पाण्डेय को मानते हैं। इसी तरह सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' को भी छायावाद का जनक मानने वाले अनेक विद्वान् हैं। इस तरह हम देखते हैं कि जो जिस रचनाकार से प्रभावित था, उसने उसे ही छायावाद का प्रवर्तक मान लिया; जबकि छायावाद हिंदी साहित्य में किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा नहीं लाया गया। 'छायावाद' एक प्रतिक्रिया थी जीवन, समाज और राजनीति के प्रति। साहित्य के क्षेत्र में यह द्विवेदी युग के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी। इसके भाव रोमांटिक या ब्रह्मसमाज के क्षेत्र से ग्रहण किये गये थे। इसका नेतृत्व करने वाले बंगाली रचनाकार थे। इस संबंध में 'सरस्वती' में अनेक बंगाली कवियों की अनुदित रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं। इसका मूल कारण सन् 1918 ई. में रवींद्रनाथ टैगोर को नोबल पुरस्कार प्राप्त होना था। इसके परिणामस्वरूप हिंदी साहित्य की दृष्टि बंगाल की ओर उन्मुख हुई। इससे रचनाकारों में दार्शनिक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, जिसकी पुष्टि बीसवीं सदी के दूसरे दशक की रचनाओं में दिखाई पड़ती है। लाला भगवानदीन, रामचंद्र शुक्ल, ज्वालाराम नागर 'विलक्षण', ज्योतिप्रसाद मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे अनेक आलोचकों ने 'छायावाद' के स्वरूप को स्पष्ट करने के स्थान पर उसके रूप को और अधिक अस्पष्ट कर दिया।

पत्र-पत्रिकाओं के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि सन् 1920 ई. तक 'छायावाद' संज्ञा का प्रचलन हो चुका था। जबलपुर से प्रकाशित होने वाली 'श्री शारदा' पत्रिका के सन् 1920 ई. के जुलाई, अगस्त, सितम्बर, नवंबर और दिसंबर के अंकों में मुकुटधर पाण्डेय ने 'हिंदी छायावाद' शीर्षक से चार निबंधों की एक लेखमाला प्रकाशित करायी थी। इस लेखमाला को छायावाद संबंधी प्रारंभिक निबंध कहा जा सकता है। इस युग की प्रतिनिधि पत्रिका 'सरस्वती' में जून, 1921 ई. के अंक में 'छायावाद' का प्रथम उल्लेख मिलता है। 'हिंदी में छायावाद' शीर्षक से 'सरस्वती' में यह लेख सुशील कुमार ने लिखा था। आरंभ में 'छायावाद' नाम को लेकर अनेक भ्रांतियाँ और अनर्गल बातें प्रचलन में थीं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने छाया डालने वाली कविताओं को छायावाद कहा। आचार्य द्विवेदी छायावाद को एक अन्योक्ति पद्धति मानते थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे यूरोप और बंगला कविताओं की छाया कहा। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आध्यात्मिकता की छाया को छायावाद की संज्ञा प्रदान की। जयशंकर प्रसाद के अनुसार-रहस्यात्मकता ही छायावाद है। डॉ. नगेन्द्र ने स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह को छायावाद कहा है। 'छायावाद' की प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए जयशंकर प्रसाद ने कहा था, " 'छाया' भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्य, प्रतीक-विधान तथा उपमान-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्त छायावाद की विशेषताएं हैं।"[1]

इसी प्रकार अन्य साहित्य समीक्षकों ने भी छायावाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। संक्षेप में, अगर कहें तो छायावाद की चार ऐसी विशेषताएं हैं जो इसे पूर्ववर्ती साहित्य-धाराओं से पृथक करती हैं- 'अज्ञात सत्ता के प्रति जिज्ञासा और प्रेम', 'प्रकृति के प्रति नूतन दृष्टिकोण', 'सांस्कृतिक भावना' और 'नारी के प्रति आकर्षण'। ये चारों विशेषताएं परस्पर इस तरह अन्योन्याश्रित हैं कि इन्हें पृथक करना आसान नहीं है। इन विशेषताओं के कारण ही छायावादी हिंदी साहित्य मानव-जीवन और चिंतन को साथ लेकर चलने में समर्थ हुआ। इन चारों विशेषताओं में से सबसे प्रधान स्वर 'प्रकृति के प्रति नूतन दृष्टिकोण' से उत्पन्न हुआ 'प्रकृति के प्रति तन्मयता और आकर्षण' है। प्रकृति को छायावादी साहित्यकारों ने नारी-रूप में देखा है। इनकी सौंदर्य-भावना, श्रृंगार अथवा प्रेम-भावना और जीवन-दर्शन का केंद्र बिंदु 'प्रकृति' ही है। इस समय के साहित्य में 'प्रकृति-प्रेम' के कारण ही सौंदर्य और करुणा का समन्वय मिलता है।

द्विवेदी युग के रचनाकारों ने काव्यभाषा के रूप में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित अवश्य किया, किंतु उसमें प्राण-प्रतिष्ठा छायावादी रचनाकारों के द्वारा ही हुई। कोमल शब्दावली, धीर ललित पद-विन्यास, चारुता और चित्रमयता छायावादी साहित्य की प्रमुख विशेषताएं है। प्रमुख छायावादी रचनाकार सुमित्रानंदन पंत की कविता 'नौका विहार' छायावादी साहित्य की भाषा का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करती है :

''मृदु मंद-मंद मंथर-मंथर,
लघु तरणि हंसिनी-सी सुंदर।
तीर रही खोल पालों के पर ॥''[2]

छायावादी रचनाकारों ने हिंदी के पुराने शब्दों को परिमार्जित करके संस्कार प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। प्रचलित लोक-धुनों को ग्रहण करके मात्रिक छंदों में ढाल दिया और छंद-परंपरा में अनेक अनाम किंतु सशक्त छंद जोड़ दिए। रोला, सखी और पद्धरि जैसे छंदों को नया जीवन ही मिल गया। 'आंसू' में जयशंकर प्रसाद ने 'सखी' छंद का इतना सफल प्रयोग किया है कि इसे 'आंसू छंद' ही कहा जाने लगा। इसी प्रकार 'श्रद्धा सर्ग' में प्रसाद जी ने 'पद्धरि' छंद का अभिनव प्रयोग किया है। छायावादी साहित्य में मुक्त छंद की 'उन्मुक्त शैली' का भी

प्रयोग आरंभ हुआ जिससे छंदों के शासन से कविता को मुक्ति का मार्ग भी मिला। 'जागो फिर एक बार', 'संध्या सुंदरी' जैसी रचनाएं मुक्त छंदों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। छायावादी स्वच्छंद चेतना ने मात्रा और वर्ण के बन्धनों को तोड़कर भाव-लय के आधार पर मुक्त-वृत्तों का सफल और सुंदर प्रयोग किया। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' इसमें अग्रणी थे।

छायावाद चेतना की यह प्रवृत्तियां केवल पद्य में ही दृष्टिगत नहीं होतीं, अपितु उस समय के नाटकों, कहानियों और संस्मरणों में भी दिखाई पड़ती हैं। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में सांस्कृतिक-ऐतिहासिक कथा-सूत्रों के माध्यम से राजनीतिक स्वतंत्रता की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है। इस प्रतिध्वनि में राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ व्यक्ति-स्वातंत्र्य का मूल छायावादी स्वर धूमिल नहीं होता है। राज्य-सुख की मादकता और निःसारता का उद्घोष करने वाला व्यक्ति प्रेम जीवन में चरम स्थान रखता है। इस समय के गद्य-साहित्य में रूढ़ियों की पराधीन श्रृंखलाओं को तोड़ने से भी परहेज नहीं किया गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' की कथा सामाजिक स्वतंत्रता पर आधारित है। 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार' जैसी कहानियाँ भी सामाजिक-वैयक्तिक स्वातंत्र्य की कशमकश से भरी हुई हैं। महादेवी वर्मा के करुण गीतों और उनके 'घीसा' जैसे अनेकों संस्मरणों में केंद्रीय सूत्र व्यक्ति और समाज की वास्तविक स्वतंत्रता की अकुलाहट ही है। डॉ. रामकुमार वर्मा के गीतों और उनकी एकांकियों में भी यही उभयनिष्ठ तत्व विद्यमान है। इस तरह हम देखते हैं कि छायावाद की आत्मीयता, संवेदनशीलता, नैसर्गिक जीवन-आकांक्षा, वास्तविक जीवन की कल्पना-दृष्टि और अभिव्यंजना में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की बहुविध विवृत्ति है। इसी से इस समय की रचनाओं में आत्माभिव्यंजक साहित्य-सृजन, सौंदर्य प्रेम की मुक्त व्यंजना, प्रकृति का सहज स्नेहिल साहचर्य, भाषा-छंद-अलंकार की मुक्त वृत्ति, देश की स्वतंत्रता और गौरवशाली स्वतंत्र अतीत का स्मरण 'छायावाद का स्वर' बनता है। डॉ. नामवर सिंह ने उचित ही कहा है, ''छायावाद का स्थायित्व उसके व्यक्तिवाद में नहीं उसकी आत्मीयता में है, काल्पनिक उड़ान में नहीं आत्मप्रसाद में है, समाज-भीरुता में नहीं प्रकृति प्रेम में है, प्रकृति-पलायन में नहीं नैसर्गिक जीवन की आकांक्षा में है, आवेशपूर्ण भावोच्छ्वास में नहीं संवेदनशीलता में है, सौंदर्य-कल्पना में नहीं सौंदर्य की भावना में है, स्वप्न में नहीं स्वप्न की वास्तविक आकांक्षा में है, दृष्टिकोण में नहीं दृष्टि में है, उक्ति-वैचित्र्य में नहीं अभिव्यंजना के प्रसाद में है।''[3]

छायावाद को आधुनिक हिंदी साहित्य की अत्यंत विकसित और क्रांतिकारी रचना-धारा होने का श्रेय प्राप्त है। छायावाद हो या कोई अन्य युग, उसका विकास विकास साहित्यिक पत्रकारिता के योगदान के बिना संभव नही होता। छायावाद युगीन हिंदी साहित्य के विकास में भी हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। देश के विविध क्षेत्रों से प्रकाशित होने वाली हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं के साथ इस युग के हिंदी साहित्य के विकास में प्रयाग की साहित्यिक पत्रकारिता का योगदान भी अविस्मरणीय है। इस युग की प्रयाग से प्रकशित हिंदी साहित्य की प्रतिनिधि पत्रिका 'सरस्वती' के जून, 1932 ई. के अंक में अभिव्यक्ति की अस्पष्टता को लेकर सुशील कुमार द्वारा लिखे गए 'हिंदी में छायावाद' नामक व्यंग्यात्मक निबंध का हिंदी साहित्य जगत में अपना अलग महत्व है। छायावादयुगीन हिंदी साहित्य के संवर्द्धन में प्रयाग की साहित्यिक पत्रिकाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। इन पत्रिकाओं ने नवीन विचारों से ओत-प्रोत रचनाकारों की पीढ़ियों का निर्माण किया।

हिंदी साहित्य में 'छायावाद' को सामंतवादी युग के प्रेत-मूल्यों के विरुद्ध एक रूढ़ि-भंजक और विद्रोहमूलक विचारधारा के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि छायावाद युगीन प्रयाग की साहित्यिक पत्रकारिता के जो उत्कृष्ट जीवन-मूल्य हैं, वे किसी भी युग और किसी भी मानवीय-सभ्यता के लिए पुरातन और अप्रासंगिक नहीं हो सकते हैं। इस संदर्भ में छायावाद की प्रमुख लेखिका महादेवी वर्मा का वक्तव्य दृष्टव्य है–''खड़ी बोली की सौंदर्यहीन इतिवृत्ति दीर्घकाल से हमारे ऊपर सौंदर्य के अधिकार को हिला भी न सकता था। परन्तु छायावाद ने उसे हटा कर अपने संपूर्ण प्रवेग से प्रकृति-जीवन के सूक्ष्म सौंदर्य को असंख्य रंग-रूपों में अपनी भावना द्वारा सजीव करके उपस्थित किया। मनुष्य की वासना को बिना स्पर्श किये हुये जीवन और प्रकृति के सौंदर्य को उसके समस्त वैभव के साथ चित्रित करने वाली उस युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित करेंगी।''[4] महादेवी वर्मा के इस कथन से यह स्पष्ट है कि 'छायावाद' एक विकसित चेतन का प्रतिफलन था। वस्तुतः छायावादी समयावधि में आधुनिक मनुष्य की चेतना और हिंदी साहित्य के विकास की सारी संभावनाएं इस विचारधारा से प्रभावित हो रही थीं। इस आधार पर यह कहना उचित होगा कि हिंदी साहित्य में 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' के रूप में विकसित होने वाली विचारधाराएं 'छायावाद' का ही

विकास हैं।

छायावाद युगीन साहित्यिक पत्रकारिता में हिंदी साहित्य और समाज में व्याप्त तत्कालीन परिस्थितियों का क्रमिक विकास दृष्टिगत होता है। हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक प्रो. शिवनंदन प्रसाद के अनुसार-''छायावाद देश तद्युगीन सामाजिक जीवन और उसकी परिस्थितियों की काव्य-चेतना पर प्रतिक्रिया है। उसकी जड़ तत्कालीन सामाजिक परिस्थितयों में है।''[5] स्पष्ट है कि छायावादयुगीन पत्रकारिता साहित्य में छायावादी हिंदी साहित्य की संपूर्ण प्रेरक शक्तियों का समावेश था। प्रयाग से प्रकाशित होने वाली तद्युगीन साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित काव्य, कहानी, नाटक, निबंध, हास्य-व्यंग्य और संपादकीय टिप्पणियों में इसकी स्पष्ट झलक देखी जा सकती है।

अपने युग की साहित्यिक-प्रक्रिया के साथ पत्रिकाओं का घनिष्ठ संबंध होता है, इसीलिए उसका महत्व शैली और साहित्य-संरचना की दृष्टि से भी बहुत अधिक होता है। साहित्यिक पत्रिकाएं ही साहित्य-सृजन का उत्स मानी जाती हैं। ये पत्रिकाएं अपने समय की साहित्यिक प्रतिभाओं का संपोषण करने का गुरुतर दायित्व निभाती हैं। इसमें संशय नहीं किया जा सकता कि जितना प्रोत्साहन साहित्यिक प्रतिभाओं को पत्रिकाओं के माध्यम से प्राप्त होता है, उतना पुस्तक-प्रकाशन के माध्यम से प्राप्त नहीं होता। प्रयाग से प्रकशित होने वाली छायावाद युगीन पत्रिकाओं ने भी अपने दायित्व का निर्वहन पूर्ण निष्ठा के साथ किया। इस समय प्रयाग से प्रकाशित होने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं ने गद्य-साहित्य की प्रमुख विधा निबंध की भाषा-शैली को परिष्कृत, परिमार्जित और प्रांजल बनाया; जिसके परिणामस्वरूप अनेक तरह की निबंध-शैलियों का विकास हुआ। निबंध-लेखन के लिए नए-नए विषयों की खोज की गयी। डॉ. रमेशचंद्र त्रिपाठी के शब्दों में–''इन पत्रिकाओं ने साहित्यिक निबंधों के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति कर दी।''[6] इस समय प्रयाग की साहित्यिक पत्रिकाओं में वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामयिक समस्याओं और उनके निराकरण, स्मृत, दर्शन, नारी-जीवन, मनोविज्ञान सहित विविध विषयों पर रचनाकारों की सशक्त लेखनी चली।

छायावादयुगीन समय में प्रयाग से प्रकाशित होने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं में वैविध्यपूर्ण संपादकीय लेख प्रकशित होते थे। समसामयिक समस्याओं और उनके निराकरण इन संपादकीय लेखों के वर्ण्य विषय होते थे। उदाहरणार्थ-'समाज में प्रचलित अंधविश्वास', 'रूढ़ियाँ', 'अस्पृर्श्यता', 'वैधव्य', 'वर्ग-संघर्ष', 'सती-प्रथा', 'पर्दा-प्रथा' जैसे विषयों को ले कर संपादकीय लेख प्रकाशित किये जाते थे। इस समय की अधिकांश साहित्यिक पत्रिकाओं में गंभीर गवेषणात्मक लेख, कविताएं, कहानियाँ और उपन्यासों के अंश या धारावाहिक रूप में प्रकाशित होते थे। छायावाद युग की साहित्यिक पत्रिकाओं ने भाषा का ऐसा संघर्ष आरम्भ किया, जिसके परिणामस्वरूप भाषा में एकरूपता, व्यवस्था और शुद्धता का प्रादुर्भाव हुआ। इस समय प्रयाग की साहित्यिक पत्रकारिता ने जन-जागरण को वरीयता दी जिससे जन-सामान्य प्रभावित हुआ। इन पत्रिकाओं ने अनेक ऐसे शब्दों और मुहावरों को जन-सामान्य के लिए बोधगम्य बनाने का महत्वपूर्ण कार्य किया, जिसके कारण हिंदी भाषा का विकास होने के साथ हिंदी गद्य की विविध गंभीर शैलियों का मार्ग प्रशस्त हुआ। प्रयाग से प्रकशित होने वाली छायावाद युगीन साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री विचारोत्तेजक और लोकोपयोगी होती थी। प्रयाग से छायावादी युग में प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं-'सरस्वती', 'चाँद', 'खिलौना', 'भारतेंदु', 'हिंदुस्तानी', 'विश्ववाणी' और 'रूपाभ' जैसी पत्रिकाओं ने हिंदी साहित्य को पुष्टता और प्रौढ़ता प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य करने के साथ नयी शैलियों की पृष्ठभूमि की संरचना भी तैयार की। इस तरह यह कहा जा सकता है कि छायावादयुगीन समय में प्रयाग से प्रकाशित अधिकांश साहित्यिक पत्रिकाओं ने हिंदी की गद्य-शैली की बहुविध और बहुरंगी संरचना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

संदर्भ

1. सिंह, डॉ. कन्हैया (सं.), साहित्यिक निबंध, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण, 2008, पृ. 122
2. गुप्त, डॉ. सुरेशचंद्र, कविवर सुमित्रानंदन पंत, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 2006, पृ. 129
3. सिंह, नामवर, छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण, 2007, पृ.28
4. वर्मा, महादेवी, आधुनिक कवि, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग संस्करण, 1941, पृ. 10
5. त्रिपाठी, डॉ. रमेशचंद्र, छायावाद युगीन साहित्यिक पत्रकारिता, भवदीय प्रकाशन, फैजाबाद संस्करण, 2008, पृ. 193
6. वही, पृ. 253

–डा. बृजेंद्र कुमार अग्निहोत्री
सहायक प्रोफेसर (हिंदी)
सामाजिक विज्ञान एवं भाषा संकाय,
लवली प्रोफेशनल विश्वविद्यालय,
फगवाड़ा, पंजाब-144411
मो. 9918695656

आजीवक वैचारिकी तथा सूरजपाल चौहान की काव्य अभिव्यक्ति

—अंकित कुमार वर्मा

विमर्श की सत्ता अस्मिता के सवाल के बगैर अधूरी है। अब तक दलित साहित्य का चिंतन अम्बेडकर की स्थापनाओं तक अनुकरणीय था। आज वह नवोन्मेष की ओर अग्रसर है तथा खुद को किसी क्षत्रिय का वंशज न मान कर आजीवक मानने को प्रतिबद्ध है। क्षत्रिय मानने का एक अर्थ यह है कि स्वयं को वर्णव्यवस्था की सत्ता से विमुक्त न करना। लेकिन यथार्थ यह है कि दलित किसी वर्णव्यवस्था को नहीं मानते हैं। तब, आजीवक के निहितार्थ को समझने के लिए बौद्ध दर्शन की सम्यक विवेचन अपरिहार्य है।

बुद्ध के दर्शन में प्रत्यक्ष के साथ-साथ अनुमान की भी सत्ता को महत्त्व दिया गया है। मसलन, पुनर्जन्म तथा परलोक ऐसे ही विषय हैं जिनको किसी ने भी प्रत्यक्ष नहीं देखा है। लेकिन बुद्ध ऐसे अन्धविश्वास को प्रश्रय देते हैं। इसके बरक्स आजीवक धर्म यथार्थ को महत्त्व देता है, इसलिए यह पूर्ण लौकिक तथा भौतिकवादी दर्शन है। सूरजपाल चौहान की विचारधारा इसी भौतिकवादी दर्शन से ओतप्रोत है जिसका सत्यान्वेषण करने से पहले हमें बौद्ध धर्म की परलोक तथा पुनर्जन्म की शब्दावली का अध्ययन करना लाजिमी जान पड़ता है। असल में, परलोक की सत्ता को स्वीकारने का अर्थ है कि वर्तमान जन्म के कर्म विपाक को मान कर पाप-पुण्य को पुनः प्रतिष्ठापित करना। तब हमें यह भी मानना पड़ेगा कि अच्छे कर्म करेंगे तो उसका अच्छा फल भुगतना पड़ेगा। लेकिन सवाल दलित के कर्म का है, वह अच्छे कर्म करेगा कैसे जब उसकी दीन-हीन दशा बनाये रखने के लिए ही वह व्यवस्था जिम्मेदार है? इसलिए वर्णव्यवस्थापरक व्यवस्था से उद्‌भूत किसी भी पाप-पुण्यपरक तथा कर्मफल से उन्मुख व्यवस्था दलित के लिए कैसे ग्राह्य हो जायेगी? डॉ. दिनेश राम ने लिखा है, ''पुनर्जन्म के दर्शन का एक पैकेज है जिसे आत्मवाद कहते हैं। अन्धविश्वास एवं चमत्कार इस के दो पहिए हैं। आत्मा, कर्मफल और स्वर्ग-नरक के विचार इन्हीं के सहारे बढ़ते हैं। छुआछूत, जाति-प्रथा और वर्णव्यवस्था इन के सामाजिक परिणाम हैं।"1 ऐसे में, दलित को इन्हीं से लड़ना है। उसके लिए हिन्दुओं का मोक्ष, जैनियों का कैवल्य तथा

बोद्धों का निर्वाण किसी काम का नहीं है। धर्म की इन सत्ताओं का अंतिम परिपाक यही है कि जन्म-मृत्यु के बन्धन अर्थात् पुनर्जन्म को रोक दिया जाए। लेकिन एक दलित की दशा इसी प्रत्यक्ष जगत में ऐसी बनी है, वर्णव्यवस्था की आततायी व्यवस्था की पीड़ा तथा अवमानना से वह यहीं संघर्षरत है, इसलिए वह समाधान भी यहीं चाहता है।

इसलिए कवि सूरजपाल चौहान के लिए हिन्दू तथा बौद्ध व्यवस्था दोनों ही त्याज्य हैं। इसी महत्वपूर्ण बिंदु से टकराते हुए वे अस्मिता के सवाल पर 'आजीवक की सन्तान हूं' नामक कविता में लिखते हैं– *'मैं पा गया हूं/अपनी पहचान/खोज ली है/अपनी अस्मिता'*[2]

कवि के अन्तर्मन में आजीवक समाज, धर्म तथा संस्कृति की स्पष्ट रेखा परिलक्षित होती है। यहाँ बता दें कि यह आजीवक समाज परिश्रम करके अपनी जीविका का निर्वहन करता था। कँवल भारती ने लिखा है, ''आजीवक वे लोग थे, जो घूम-फिर कर अपनी जीविका कमाते थे। दूसरे शब्दों में, अपनी जीविका के लिए भ्रमण करने वाले लोग आजीवक कहलाते थे। ऐसे लोग अभिजात वर्ग के नहीं हो सकते थे, साधारण जन ही हो सकते थे।''[3] ऐसे साधारण जन क्यों पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म में विश्वास करेंगे। जब इनकी स्थिति को दयनीय बनाये रखने के लिए ऐसी व्यवस्था ही जिम्मेदार है?

ऐसे में, जानना यह आवश्यक है कि बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का साधारण समाज से कोई सरोकार नहीं था। वे खुद राजकुमार थे तथा उन्हें सामंतों तथा राजाओं का समर्थन प्राप्त था। वे अस्पृश्यता तथा गरीबी जैसी हिकारत भरी जिन्दगी से कोसों दूर थे। डा. धर्मवीर ने सही लिखा है, ''बुद्ध एक राजकुमार थे. उनके परिचय और दोस्ताने राजाओं से थे. मगध के सम्राट बिम्बसार उनके मित्र थे, ऐसे ही, कोसल के राजा प्रसेनजित उनकी बहुत जान-पहचान के थे।''[4] लेकिन इससे इतर दलित गरीबी तथा अस्पृश्यता जैसी विडम्बना के द्रष्टा ही नहीं भोक्ता भी है। दलितों का किसी तरह के संन्यास से कोई संबंध नहीं। वे कमा कर खाने वाले लोग हैं। वे किसी तरह की भिक्षा पर आश्रित नहीं हैं। कवि सूरजपाल चौहान लिखते हैं– *''मैं-परजीवी कतई नहीं/गृह-त्यागी से नहीं रहा है/ मेरा सम्बन्ध/मैं आजीवक हूं''*[5]

दलित कवि की समस्याएं बहुत गहरी तथा व्यापक हैं। भारतीय समाज में जन्म लेते ही जाति का निर्धारण हो जाता है और यदि कोई दलित जाति में जन्मा है तो सदियों की पीड़ा एवं अवमानना उसे संस्कार रूप में मिल जाते हैं। इससे कोई दलित अछूता नहीं है।

दलितों के लिए पुनर्जन्म सब से बड़ा अन्धविश्वास है। बाबा साहेब ने जिस बौद्ध धर्म को अपनाया उस में पुनर्जन्म का अन्धविश्वास पसरा पड़ा है। स्वयं बाबा साहेब डा. अम्बेडकर भी इस धर्म की प्रशंसा करते-करते अंधविश्वासों को तरजीह दे गए हैं। पहला सवाल पुनर्जन्म तथा परलोक की व्यवस्था का है, जिसका वे 'बुद्ध और उनका धम्म' में बचाव करते ही नजर आए हैं। दूसरे वे पारमिताओं की महत्ता पर विश्वास करते हुए इस अंधविश्वास को प्रश्रय दे गए हैं कि बुद्ध ने स्वयं की मर्जी से महामाया के उदर में गर्भ धारण किया है। बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने लिखा है-''तब सुमेध नाम का एक बोधिसत्व उनके पास आया और उसने प्रश्न किया, मैंने अपना जन्म पश्थ्वी पर धारण करने का निश्चय किया है, क्या तुम मेरी माता बनना स्वीकार करोगी?''[6] उसका उत्तर था-''बड़ी प्रसन्नता से।''[7]

बताइए हिन्दू व्यवस्था के अवतारवाद, जहाँ ईश्वर, धर्म की हानि होने पर पृथ्वी पर अवतरित होते हैं तथा उक्त कथन में क्या ही अन्तर है? दोनों ही जगह वे अपनी मर्जी से गर्भ धारण निश्चित कर रहे हैं और बाबा साहेब अम्बेडकर भी इस बात का संज्ञान नहीं ले रहे हैं कि कोई अपनी मर्जी से गर्भ-धारण नहीं कर सकता है। तब उनकी 22 प्रतिज्ञाओं में यह कहने का क्या अर्थ रह जाता है कि 'मैं अवतारवाद में विश्वास नहीं करूँगा।'

इस के विपरीत कवि सूरजपाल चौहान स्वयं को आजीवक मानते हुए लिखते हैं– *''मैं आजीवक हूँ/जिसने सदा से ही तोड़े हैं/अन्ध-विश्वासी बन्धन।'*[8]

यह कबीर की चिंतन परंपरा है जो आजीवक से मिलती है। कबीर ने पुनर्जन्म का जोरदार तरीके से खण्डन किया है– *''बहुरि नहिं आवना या देश/जो जो गये बहुरि नहिं आये पठवत नहिं संदेस/''बहुरि हम काहै को आवहिंगे/बिछुरे पंच तत्व की रचना/ तब हम रामहि पावहिंगे॥''*[9]

कंवल भारती ने लिखा है–''बुद्ध ने परलोक और पुनर्जन्म में विश्वास जगाकर आजीवक दर्शन की सारी आग को ठण्डा कर दिया था। इस पर डा. आंबेडकर की मुहर लग जाने से नवबौद्ध (दलित) फिर उसी दलदल में फंस गये, जिसमें से उन्हें आजीवक कबीर ने निकाला था।''[10]

आजीवक होने का अर्थ है कि भौतिकवादी सत्ता से उद्भूत यथार्थ को महत्व देना। इसलिए आजीवक जब पुनर्जन्म को नहीं मानते हैं तो इसका अर्थ है कि उन पर थोपी गयी वर्ण-व्यवस्था से आविर्भूत अस्पृश्यता तथा अन्य

दमनात्मक व्यवस्था का प्रतिकार वे यहीं इसी लोक में करेंगे। इसलिए आजीवकों के लिए कानून व्यवस्था प्रमुख है और वे किसी अंधविश्वास को नहीं मानते हैं।

इसलिए कवि सूरजपाल चौहान अपनी ना-पुनर्जन्म की परम्परा एवं संस्कृति की ओर लौट आये हैं– *''बिसराये बैठा था/धर्म परिवर्तन के नाम पर/अपने पुरखों को''*[11]

कवि ने अपनी परम्परा को खोज लिया है इसलिए उसके लिए धर्मांतरण का मतलब है कि भौतिकवादी सत्ता से इतर परलोक तथा पुनर्जन्मवादी अंधविश्वास को पुनः अंगीकार करना। इसलिए वे बौद्ध धम्म में धर्मान्तरण को उचित नहीं मानते हैं। कवि के आजीवक धर्म में परलोक ही नहीं है इसलिए पुनर्जन्म भी नहीं होगा। बौद्ध धर्म की युद्ध से विमुखता तथा संन्यास की प्रमुखता के कारण जारकर्म जैसी अनैतिक सम्बन्धों पर कोई संकट नहीं पड़ता है। लेकिन आजीवक समाज को वर्णव्यवस्था, जातिवाद जैसी क्रूरतम व्यवस्था से तो इसी जीवन में लड़ना है। ऐसे में वह जंगल में जाकर संन्यास को ग्रहण करेगा तो घर, परिवार एवं समाज के सभी सम्बन्ध टूट जायेंगे तथा शोषक वर्ग शोषण करने में लगातार जारी रहेगा। इस विडम्बना से टकराते हुए कवि सूरजपाल चौहान 'हम वीर, देश के हैं रक्षक' कविता में लिखते हैं– *''हम युद्ध-क्षेत्र से न भागें/न भटके जंगल-जंगल''*[12]

आजीवक धर्म में तलाक, पुनर्विवाह जैसी नैतिक व्यवस्था अनुमत है। यहाँ विवाह हिन्दुओं जैसा ब्राह्म विवाह अर्थात् जन्म-जन्म का बन्धन नहीं है। हिन्दुओं के यहाँ विवाह सामाजिक संस्कार होने के कारण जारकर्म जैसी अनैतिक व्यवस्था जन्म लेती है। लेकिन आजीवक दर्शन जारकर्म जैसी व्यवस्था का समर्थन नहीं करता है। इस अनैतिकता ने समाज को खोखला करके रख दिया है। इसलिए कवि दलित साहित्यकारों के व्यक्तित्व में नैतिकता की पराकाष्ठा की चाह रखते हैं। यथा– *''इसे मत समझना मेरा उपदेश/कोई नसीहत बस/ एक चाहत है कि बच जाए/ हमारा परिवार हम और तुम''*[13]

कवि की यह सोच दलित साहित्य की संवेदना तथा मानवता की गहन अनुभूति है। यह दलित साहित्य के सरोकारों की विराटता ही है जिस पर कवि ने अपनी कलम चलायी है। इस तरह कवि सूरजपाल चौहान की कविताओं की व्यापकता अप्रतिम तथा मानव मूल्यों को जोड़ने वाली है।

आजीवक धर्म अकर्मवादी, अवर्णवादी तथा नियतिवादी दर्शन होने के कारण भौतिक सत्ता को महत्त्व देता है। यहाँ कर्मफल, भाग्यवाद तथा आडम्बर या चमत्कार जैसी कोई चीज नहीं है। इसलिए दलित साहित्य के लिए यह दर्शन ग्राह्य है। दलित की पीड़ाएँ, गरीबी एवं अस्पृश्यता को कायम रखने वाली यही शब्दावलियाँ हैं। इसलिए कवि सूरजपाल चौहान इस सम्यक तथा दार्शनिक वैचारिकी के तहत अपनी काव्य सर्जना करते हैं तथा दलित साहित्य के एक बड़े कवि के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं।

सन्दर्भ

1. डॉ. दिनेश राम, डॉ. अम्बेडकर बुद्ध से बड़े थे, अनामिका प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2019 पृ. 300
2. सूरजपाल चौहान, वह दिन जरूर आएगा, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2014, पृ. 38
3. कंवल भारती, आजीवक परम्परा और कबीर अर्थात् दलित धर्म की खोज, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2009, पृ. 40
4. डॉ. धर्मवीर, शुद्धोधन के घर में गुलाम, आलेख, हंस पत्रिका, दरियागंज नई दिल्ली, 2014, पृ. 68
5. सूरजपाल चौहान, वह दिन जरूर आएगा, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, 2014, पृ. 38
6. डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर, बुद्ध और उनका धम्म, गौतम बुक सेंटर, शाहदरा, दिल्ली, 2019, पृ. 27
7. वही, पृ. 27
8. सूरजपाल चौहान, वह दिन जरूर आएगा, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2014, पृ. 38
9. वही, पृ. 38
10. डॉ. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2017, पृ. 436
11. कंवल भारती, आजीवक परम्परा और कबीर अर्थात् दलित धर्म की खोज, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2009, पृ. 92
12. सूरजपाल चौहान, वह दिन जरूर आएगा, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2014, पृ. 38
13. सूरजपाल चौहान, कब होगी वह भोर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2007, पृ. 58
14. वही, पृ. 62

अंकित कुमार वर्मा
सहायक प्रोफेसर (हिंदी)
जतन स्वरूप (पीजी) कॉलेज
सिकंदराबाद, बुलंदशहर-203205

उदय प्रकाश की कहानियों में दलित-चेतना

—मृत्युंजय कोइरी

उदय प्रकाश 'पुतला', 'हीरालाल का भूत', 'पीली छतरी वाली लड़की' और 'मोहनदास' आदि कहानियों में दलितों के दुःख-दर्द और उन पर होने वाले जुल्म को उजागर करते हैं। उदय प्रकाश ने 'पुतला' कहानी में दलितों पर किए जा रहे अत्याचार व अन्याय को प्रस्तुत किया है। रामलीला में रावण का पार्ट करने पर विवश समनू गाँव के मोची धनुख का लड़का है। पुतला बनाने में निपुण कारीगर किसनू पासी पिता के झालसाजी कर्ज को पूरा करने पर विवश है। समनू और किसनू दुराचारी जमींदार के क्रूर अत्याचार से पीड़ित हैं। दयाहीन हरनारायण और नरेश प्रसाद हर वर्ष की भांति इस वर्ष भी राम और हनुमान का पार्ट निभाते हैं। हरनारायण चौधरी भीखमदास का पुत्र है और नरेश प्रसाद पंडित गयादीन का भांजा। इस राम-रावण के संग्राम में राम का बाण और हनुमान का लात खा-खाकर रावण (समनू) अधमरा-सा हो जाता है। उनकी खुशी के लिए उन्हें हर मुष्टिका प्रहार और गदा के वार पर हंसना पड़ता है। सवर्ण जाति के युवक नीच जाति के युवक को पशु के समान समझते हैं। यथा—''रामलीला में सबसे ज्यादा शामत आती है समनू पर, जो रावण का पार्ट खेलता है। राम उसे पहले बाण से मारते हैं। बाण बाँस की कमटियों को चीरकर बनाये जाते हैं जो अच्छा-खासा चुभते हैं। हरनारायण के धनुष से निकले हुए कमटियों के तीर उसके सारे शरीर पर लगते हैं। हरनारायण का निशाना भी कच्चा है और थोड़ा वह रौब में भी रहता है इसीलिए बिना सोचे-समझे, देखे-सुने, जगह-बेजगह मार देता है। ....राम-रावण युद्ध में हरनारायण फिर तलवार से लड़ते हैं और गदा भी मारते हैं। मुष्टिका प्रहार भी होता है। इस सबके बीच, सारी चोट सहते हुए समनू को रावण के पार्ट के मुताबिक ही अट्टाहास करना पड़ता है।''[1]

बहरहाल किसनू जैसे दरिद्र को जमींदार अपने जाल में फंसा ही लेते हैं। किसनू के पिता जो सौ रुपये कर्ज को अदा करने के लिए बाईस साल तक दिन-रात चौधरी के खेतों में काम करता रहा और अंत में मर गया। आज पुत्र को पिता के सौ रुपये कर्ज को पूरा करने के लिए पुतला बनाने पर विवश किया जाता है। चौधरी पिता के कर्ज का झालसाजी देकर मुफ्त पुतला बनवा रहा है और खाने के लिए रात का बचा-खुचा खाना भेजवा देता है। जल्द पुतला तैयार नहीं होने पर उल्टा गाली भी देता है। जमींदार चौधरी का अन्यायपूर्ण बर्ताव देखिए—''कान में खपच्ची ठोंक रखी है क्या? चूतिया समझ रखा है हमें? यहीं खनकर गाड़ देंगे हरामजादे।''[2] किसनू रावण, कुंभकर्ण और मेघनाथ के पुतले की जगह पर चौधरी

भीखमदास और हरसूप्रसाद के पुतले बनाता है। हरनारायण द्वारा रावण के पुतले पर बाण मारते ही पुतला में फिट अनार झरझराकर जलने लगा और रोशनी के तेज होते ही चौधरी भीखमदास का पुतला दिखाई देने लगा। वहीं कुंभकर्ण के पुतले पर हरसूप्रसाद का चेहरा दिखाई देने लगा। यह देख रामलीला में रावण का पार्ट निभाने वाले समनू के अट्टाहास में दलित की जीत की खुशी है।

'हीरालाल का भूत' कहानी में जमींदारों के अत्याचार व क्रूरता को उजागर करते हैं। हीरालाल ठाकुर हरपाल सिंह की हवेली का सारा काम रात-दिन करता है। हीरालाल मुश्किल से दो घंटे सोता है। लकड़ी चीरना, घर में झाड़ू लगाना, लिपाई-पोताई करना, कुएं से पानी लाना, घर के सभी सदस्यों के नहलाने का पानी कुएं से खींचना, कपड़े धोना, सब्जी काटना, बिछौने-बिस्तर लगाना, गाय-भैंस को सानी-भूसा देना, बाजार से सब्जी लाना, ठाकुर हरपाल सिंह का हर रात तेल मालिश करता एवं अन्य छोटे-बड़े कामों को अकेले करता। मानो हीरालाल ने अपनी जिन्दगी ठाकुर की हवेली के नाम कर दिया हो। लेखक ने उसकी दयनीय हालत के बारे में लिखा है–''फुलिया ने उठकर बाहर देखा, तो पूस-माघ के उस भयानक जाड़े में नंगे बदन हीरालाल एक पेड़ की तरह आँगन में खड़ा था और उसके शरीर पर पाले की सफेद पर्त जम गयी थी। फुलिया चीख पड़ी। उसकी चीख से वह चौंका और एक पत्थर की मूर्ति की तरह चलता हुआ आया। उसका चेहरा बिल्कुल सपाट था।''[3]

जब एक दिन हीरालाल दोपहर के जूठे बर्तन को माँजने और हवेली के अन्य काम बाकी रहते ही सामान खरीदने बाजार चला जाता है तो उन बाकी कामों को निपटाने फुलिया हवेली आ जाती है। ठाकुर फुलिया को आवाज देकर बुला लिया और उसे पटवारी का कागज बही देने के बहाने पटवारी के पास भेज देता है। वहाँ पटवारी जबरन फुलिया के साथ यौन संबंध बनाता है। कहानीकार ने लिखा है–''ठाकुर साहब ने फुलिया को आवाज देकर बुलाया और उसे कागज बही खाता देकर कहा कि इसे वह पटवारी को दे आये। शायद ठाकुर और पटवारी में पहले ही बातचीत हो चुकी थी। फुलिया कमरे में पहुँची तो पटवारी ने उसे पकड़ लिया, साँकल भीतर से चढ़ा ली, रेडियो की आवाज खूब ऊँची कर दी और इस तरह हीरालाल की संपत्ति का आखिरी कोना, उसकी औरत की आबरू भी जाती रही। आधे घंटे बाद ठाकुर हरपाल सिंह भी उस कमरे में आ गये और फुलिया पटवारी के पलंग पर सिसकती रही।''[4] एक दिन बारह बजे रात ठाकुर और पटवारी का तेल मालिश करके घर लौट रहा था कि रास्ते में एक पागल कुत्ता ने उसे काट लिया। हीरालाल का चेहरा, हाथ, पैर सब फूलने लगा। किंतु दुराचारी शोषक ठाकुर की हवेली से ना कोई देखने आया और ना ही दवा-दारू के लिए पैसा ही दिया। कहानीकार बेला की माँ के माध्यम से जमींदार के इस निर्दयता पर करारा प्रहार करते हैं। यथा–''हीरालाल में जब तक दम रहा, उसने हवेली का काम जिन्न-जिन्नातों की तरह किया, अब बीमार है तो कोई देखने तक नहीं आया। मुआ पटवारी भी नहीं फिरा कि फुलिया के पेट में उसका कीड़ा कैसे पल रहा है, देख जाये। बड़े घरों का बड़प्पन घटता है हीरालाल को देखने में। कुकर्म करते नहीं घटता।''[5]

उदय प्रकाश भारत के कपटी जमींदारों की हवेली में दो वक्त रोटी के लिए कठिन परिश्रम करने वाले देश के गरीब परिवारों की दारुण पीड़ा में जमींदारों की निष्ठुरता को उद्घाटित करते हुए लिखते हैं''हीरालाल भौंक रहा था। पागल कुत्ते की तरह। भौंक भी नहीं रहा था। भौंकने और रोने के बीच का यह दारुण स्वर था। फुलिया रोने लगी जोर-जोर से। उसे खुद तेज बुखार था। एक पशु और एक स्त्री की करुण आवाजें उस रात सारे गाँव में गूँजती रहीं। पटवारी, ठाकुर, मलखान, पंडितजी, मँझली ठकुराइन-सभी ने सुना और उन्होंने अपनी रजाई सिर तक खींच ली। धनुकलाल, परमेसुरा, सँभारू, कोदू, रामचरण, दुअसिया, बेला सबकी आँखें गीली हो गयी थीं। कोई सो नहीं पा रहा था। भय और करुणा में पूरा गाँव निश्चल था। जैसे रात के अँधेरे में पूरा गाँव पथरा गया हो।''[6] हीरालाल मरने से पहले ठाकुर की हवेली का भरुआ मिर्च और आम का आचार खाना चाहता है। उसकी इच्छा सुनाने बेला की माँ ठाकुर की हवेली चली जाती है। ठकुराइन हीरालाल के दुःख-दर्द पर दया दिखाने के वजाय उसकी निंदा करती है। बेला की माँ के मन में सामंती-व्यवस्था के प्रति एक विद्रोह जन्म लेता है। वह सोचती है–''इतना खून, पसीना, जमीन-जायदाद, सेवा और बीवी की आबरू तक सोख लेने के बावजूद हिरवा के लिए ममता का एक तिनका तक इस हवेली में नहीं। उसका मन हुआ कि वह जोर-जोर से कहे, पाप हिरवा को नहीं, तुम सबको ले डूबेगा नर पिशाचो! तुम्हें नरक में भी जगह नहीं मिलेगी। बिना तोंद हिलाये हीरालाल की जान के ऊपर तुम सब ऐश करते रहे। पटवारी और ठाकुर हरपाल के शरीर में तो पिस्सू पड़ेंगे। कोढ़ फूटेगा। टट्टी के रास्ते मवाद निकलेगा...।''[7] उदय प्रकाश 'हीरालाल का भूत' कहानी के माध्यम से दलितों की सहिष्णुता व सहनशीलता को प्रस्तुत करते हैं। वहीं

हीरालाल को गूँगा बनाकर अत्याचारी जमींदारों की निर्दयता व क्रूरता को उजागर करते हैं। यूँ कहें तो सामंती- व्यवस्था का खाल उखाड़ने का सा काम करते हैं।

उदय प्रकाश 'पीली छतरी वाली लड़की' कहानी में शैक्षणिक संस्थानों में चल रहे जाति-पांति व भेदभाव को उजागर करते हैं। इस कहानी का नायक राहुल एक दलित पात्र है आर्गेनिक केमिस्ट्री से एम. एस .सी. किया हुआ बेरोजगार छात्र है। कहीं नौकरी नहीं मिलने के कारण वह फुफेरे भाई किन्नू दा की प्रेरणा से पुनः एंथ्रोपोलॉजी से एम. ए. करने के लिए पहाड़ी पर स्थित देश के कैंब्रिज कहलाने वाले विश्वविद्यालय में नामांकन लेता है। छात्रावास में शिफ्ट होने के कुछ ही दिनों के अंदर उसे खिड़की से पीली छतरी वाली लड़की नजर आती है। जो राज्य के लोक निर्माण विभाग के मंत्री एल. के. जोशी की लड़की अंजली जोशी है। राहुल उसी सवर्ण की लड़की अंजली जोशी के प्यार में फंस कर एंथ्रोपोलॉजी छोड़ कर हिन्दी विभाग में नामांकन कराता है जिसमें ब्राह्मण के अलावे एक भी दलित अध्यापक नहीं है। हिन्दी विभाग के डॉ. डंगवाल और डॉ. लोकनाथ त्रिपाठी दलित छात्र राहुल के कैरेक्टर पर झूठा आरोप लगाते हैं। इस संदर्भ में उदय प्रकाश लिखते हैं–''राहुल का माथा घूम रहा था। ऐसा क्यों हो रहा है उसके साथ? इसलिए कि वह मेहनत के साथ पढ़ रहा है? इसलिए कि वह किसी टीचर की चापलूसी नहीं कर रहा है? क्या इसलिए कि उसने और एस.एम.टी.एफ. के दूसरे साथियों ने मिलकर दूसरे राज्यों और इलाकों से आये लड़कों के साथ लूटपाट और वहशियाना हरकत करने वाले गुंडों को ऐसा करने से रोक दिया था? क्या इसलिए कि उसका शरीर और चेहरा ऐसा है, जिसे वह बिगाड़ नहीं सकता? या इसलिए कि वह ब्राह्मण नहीं है।''[8]

आज भी हिन्दी साहित्य के प्राध्यापक हिन्दी विभाग में दलितों को महत्व नहीं देते। दलित छात्रों की बेबसी देखिए–''राहुल, शैलेंद्र, जॉर्ज और शालिगराम इस पवित्र अनुष्ठान से दूर, अलग हटकर खड़े थे। अछूत, भंगियों की तरह। यज्ञ स्थल पर पतित, शूद्र और कुत्ते शास्त्र द्वारा निषिद्ध हैं।''[9] जब राहुल अपनी प्रेमिका अंजली जोशी के साथ संभोग करता है, उस क्षण वह दलितों पर किए गए अन्याय व अत्याचार का प्रतिशोध लेता है। राहुल के माध्यम से उदय प्रकाश दलितों को प्रतिशोध लेने के लिए प्रेरित करते हैं। अंजली जोशी के भाई डी. के. जोशी समाज में अपनी इज्जत बचाने के लिए राहुल को मुँह बंद रखने के लिए कहता है। साथ-ही मुँह खोलने पर जान से मारने की धमकी भी। इस कठिन परिस्थिति में राहुल का साथ अंजली जोशी देती है। राजधानी एक्सप्रेस ट्रेन संख्या 2002, कम्पार्टमेंट नं. एस-8 के बर्थ नम्बर 41-42 पर राहुल अपनी प्रेमिका अंजली जोशी को ले कर भाग जाने में सफल होता है।

उदय प्रकाश 'मोहनदास' कहानी में बेरोगजार दलितों की दास्तां को उजागर करते हैं। कहानी का नायक मोहनदास पैंतीस-सैंतीस साल का बेरोजगार दलित युवक है। बंसहर-पलिहा जाति का एक मात्र लड़का है जो सरकारी एम. जी. डिग्री कॉलेज से बी. ए. में प्रथम श्रेणी के साथ विश्वविद्यालय में दूसरा स्थान प्राप्त किया था। साक्षात्कार में सवर्ण के सोर्स-सिफारिश, रिश्वत-सम्पर्क और भाई-भतीजावाद के सामने आरक्षण प्राप्त मोहनदास को दरकिनार कर दिया जाता है। उसकी जगह पर आठवीं-दसवीं पास और थर्ड-सेकेंड डिवीजन बी. ए. लड़कों की नियुक्ति की जाती है।

ओरियंटल कोल माइंस की लिखित और शारीरिक परीक्षा में मोहनदास सबसे आगे रहता है। डेढ़ सौ प्रतियोगियों में से चुने गये पाँच नाम पुकारे गये, उनमें पहला नाम मोहनदास का ही था। उस दिन मोहनदास के सभी प्रमाण-पत्र जमा करवाए गये और नियुक्ति पत्र का इंतजार करने को कहा गया। वहीं नगेंद्रनाथ भर्ती दफ्तर के बाबू को पटाकर मोहनदास वाली नौकरी का लेटर अपने आवारा बेटे बिसनाथ को दिलवा देता है। मोहनदास को जालसाजी दे कर बिछिया टोला का बिसनाथ ओरियंटल कोल माइंस में मोहनदास, पिता काबादास, जाति कबीरपंथी विश्वकर्मा बन कर इत्मीनान से डिपो सुपरवाइजर की नौकरी चार साल से करने लगा है और दस हजार की माहवारी पगार लेने लगा है। देश के बिसनाथ जैसे बहुरूपिया के कारण ही नौकरी के योग्य मोहनदास जैसे दलितों की आर्थिक स्थिति दयनीय है। यथा–''उसका आज का हुलिया उसके इस अतीत की कत्तई कोई सूचना नहीं देता। एक फटी हुई, बेरंग हो चुकी, जगह-जगह पैबंद लगी, किसी समय में नीली डेनिम की फुलपैंट, एक सस्ते टेरिकॉट की आधी बाजू की, दायें कंधे के पास उधड़ी हुई बुश्शर्ट। इसमें किसी समय चौखाने बने थे, जिनकी वे लकीरें धुंधली होकर मिट रही हैं, जिनके रंग कभी हलके रहे होंगे। और एक रबड़ का सस्ता-बरसाती जूता, जिसे मिट्टी, धूल, दुख, पानी, समय और धूप ने इतना चाट डाला है कि अब वह कभी चमड़े और कभी मिट्टी का बना दिखता है।''[10] समकालीन समाज में उच्च जाति के लोग अपनी शक्ति पर नौकरी हासिल कर लेते हैं। वे भर्ती दफ्तर के अधिकारियों को पटा कर किसी दलित की नियुक्ति पत्र को अपने नाम करा लेते हैं। या

उनकी नियुक्ति पत्र पर स्वयं नौकरी करते हैं। जो नाम, पते और फोटो पर अदालती हलफनामा से लेकर गजेटेड ऑफिसर तक से प्रमाणित करा लेते हैं। जालसाज बिसनाथ मोहनदास बनकर ओरियंटल कोल माइंस में सुपरवाइजर बनकर ऐश कर रहा है, जबकि असली मोहनदास कठिना नदी के किनारे खेती करके किसी तरह परिवार चला रहा है। वह अपने बीमार माता-पिता का इलाज नहीं करा पा रहा है, ना ही बच्चों की ठीक से परवरिश ही कर पा रहा है। आज उसके बच्चे बालश्रम करने पर मजबूर हैं और उसकी पत्नी मजूरी करने पर मजबूर।

दलितों के शैक्षणिक प्रमाण-पत्रों और काबिलियत पर देश की सरकारी व गैरसरकारी संस्थानों में नौकरी करने वाले बहुरूपिया बिसनाथ का अनुचित बर्ताव देखिए–''सुनो, अब अपना पुराना नाम बिसर जाओ और अब आज के बाद से कभी लेनिन नगर की ओर गोड़ झै बढ़ाना, समझे! आज तो हम दारू नहीं लस्सी पी रखे थे, ऊपर से बिजली का खंभा आड़े आ गया, नहीं तो आजै चांप देते। दुबारा कहीं आसपास दिखे तो कॉलरी की भट्ठी में राखड़ बना देंगे।''[11] बहरहाल वर्तमान समाज का सच यही है कि बिसनाथ जैसे अनेक सवर्ण दलितों के शैक्षणिक प्रमाण-पत्रों और काबिलियत से नौकरियाँ कर रहे हैं। आज दलितों को न्याय देने में न्यायालय भी असमर्थ हैं। मोहनदास ओरियंटल कोल माइंस के ईमानदार ऑफिसर जनरल मैनेजर एस. के. सिंह से ले कर न्यायालय तक जाता है। भारत के भ्रष्टाचार से लिप्त इंक्वायरी अधिकारी औरत, शराब और पैसों के लालच में आ कर फाइल के शब्द ही बदल देते हैं। वे कूकुर को बैल, सुअर को शेर, खाई को पहाड़, चोर को साहू, चूहा को हाथी, खेत को सड़क और कुँवारी लड़की को छह बच्चों की माँ, किसी को भी कुछ बना सकते हैं। उन्होंने न्यायालय में बिसनाथ को मोहनदास ही साबित कर देते हैं। सवर्ण बिसनाथ के आतंक और पुलिस इंस्पेक्टर विजय तिवारी के अत्याचार से पीड़ित मोहनदास के माध्यम से उदय प्रकाश वर्तमान समाज में सवर्ण के अत्याचार से पीड़ित दलितों की विवशता को प्रस्तुत करते हैं–''मैं आप लोगों के हाथ जोड़ता हूं। मुझे किसी तरह बचा लीजिए। मैं किसी भी अदालत में चलकर हलफनामा देने के लिए तैयार हूं कि मैं मोहनदास नहीं हूं। मेरे बाप का नाम काबादास नहीं है और वह मरा नहीं है, अभी जिंदा है। बहुत मारा है मुझे पुलिस ने बिसनाथ के कहने पर। सारी हड्डियां तोड़ डालीं। सांस तक लेने पर छाती दुखती है।''[12]

वर्तमान समाज में दलित उच्च वर्ग की क्रूरता व अत्याचार से त्रस्त हैं। शोषक वर्ग सोर्स-सिफारिश व रिश्वत से नियुक्ति अधिकारी, जाँच अधिकारी व पुलिस को अपना लेते हैं। जमींदार दलितों पर अपना आधिपत्य कायम किये हुए हैं। यदि राहुल और किसनू की भाँति उच्च वर्ग का प्रतिकार नहीं किया गया तो मोहनदास जैसा जिन्दा रहने के वास्ते बड़बड़ाने पर मजबूर होना पड़ेगा।

संदर्भ-संकेत

1. दरियाई घोड़ा, उदय प्रकाश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति, 2010, पृ. 71-2
2. उपरिवत्, पृ. 79
3. तिरिछ, उदय प्रकाश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति, 2013, पृ. 131
4. उपरिवत्, पृ. 128
5. उपरिवत्, पृ. 133
6. उपरिवत्, पृ. 133-34
7. उपरिवत्, पृ. 134
8. पीली छतरी वाली लड़की, उदय प्रकाश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति, 2009, पृ. 114-15
9. उपरिवत्, पृ. 108
10. मोहनदास, उदय प्रकाश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति, 2013, पृ. 8
11. उपरिवत्, पृ. 41
12. उपरिवत्, पृ. 85

डा. मृत्युंजय कोईरी
द्वारा कृष्णा यादव
करमटोली (अहीर टोली)
पो.– मोराबादी, थाना- लालपुर
जिला–रांची, झारखंड, पिन-834008
मो. 7903208238

समकालीन कविता में दलित वैचारिकी

—अनुज कुमार रावत

दलित चेतना या दलित विमर्श समकालीन हिंदी कविता का महत्त्वपूर्ण वित्तय रहा है। दलित कविता ने समकालीन हिंदी कविता के तेवर और नये साँचे में ढाल कर उसके लिए नये मुहावरे और अर्थवत्ता प्रदान की है। इस कविता की यह विशेषता है कि यह कविता समाज के सबसे नीचे तबके से जुड़ी उनके सरोकारों के साथ खड़ी है। ये कविता दलित सामज की अस्मिता से जुड़ी हो कर उसके लिए परिवर्तनकारी चेतना का संचार करती है। दलित कविता डॉ. आंबेडकर और उनके विचारों से प्रभावित और प्रेरित है। सदियों से पीड़ित-शोषित दलितजनों की व्यथा-कथा, दलित कविताओं में बहुत संजीदगी के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। दलित कविता पर बात करने से पहले हम दलित शब्द और दलित साहित्य को पहले समझ लेते हैं। हिंदी साहित्य में जब दलित साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ तब बहुत से लोगों के मन में ये सवाल आया कि क्या साहित्य को अलग अलग खेमों में विभक्त करना उचित है। ये हम सभी जानते हैं कि महात्मा ज्योतिबा फुले ने मराठी में दलित शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया था। डॉ. ए. पी. शिवाजी ने इस बात को विस्तार से हमारे सामने रखा हैं-''भारत में प्रथम बार महात्मा ज्योतिबा फुले (1827-1890) द्वारा जागृति का दीप प्रज्वलित किया गया। पहली बार उन्होंने जाति बहिष्कृतों और अस्पृश्यों के लिए दलित शब्द का प्रयोग किया। माली जाति के होते हुए भी सन 1873 मे सत्य शोधक समाज का निर्माण कर दलितों के मसीहा के रूप में चेतना को जाग्रत किया जिसके प्रभाव के कारण अंग्रेज सरकार ने सन 1935 में पद दलित अभिव्यक्ति को हटा कर 'अनुसूचित जाति' का प्रयोग किया...।''[1]

दलित साहित्य का जन्म महाराष्ट्र में एक आंदोलन के रूप में सन 1960 में हुआ था। सन 1972 तक आते-आते दलित साहित्य ने अपनी साहित्यिक और वैचारिक रूप में विकसित हो कर साहित्य में अपने पैर जमाने लगा। दलित पैंथर्स ने 'दलित' शब्द को व्यापक रूप में परिभाषित किया है-''अमेरिकी साम्राज्यवाद के षड़यंत्र में आज सारी दलित दुनिया उत्पीड़ित देश और दलित जनता पिसती जा रही हैं। अमेरिका के मुठ्ठीभर प्रतिक्रियावादी गोरे लोग नीग्रो लोगों पर जुल्म ढा रहे हैं उन्हीं अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठाने के लिए 'ब्लैक पैंथर' आंदोलन का सूत्रपात हुआ, ब्लैक पैंथर आंदोलन से ही ब्लैक पावर (काले लोगों की सत्ता) का निर्माण हुआ। संघर्ष की चिंगारी सुलगी इन्हीं सुलगती चिंगारियों से, इसी भड़कते आंदोलन से हमारा रिश्ता है। वियतनाम, कंबोडिया, अफ्रीका के आदर्श हमारे सामने हैं। दलित का

मतलब है अनुसूचित जाति, बौद्ध कामगार, भूमिहीन मजदूर, कृषि-मजदूर, गरीब किसान, खानाबदोश जातियाँ, आदिवासी समाज और नारी समाज।''[2] गाँधी जी द्वारा दिया हरिजन शब्द दलितों ने नकार दिया और अपना विद्रोह दर्ज करने के लिए उन्होनें दलित शब्द का प्रयोग किया यही वजह है कि दलित साहित्य कला वस्तु की वजह से नहीं बल्कि विषय वस्तु के लिए जाना जाता है। दलित साहित्य मनोरंजन का साहित्य नहीं है। वह सच्ची अनुभूति का साहित्य है–''दलित साहित्य, आनंद और मनोरंजन का साहित्य नहीं है बल्कि हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति से दलितों को जो यातना और वेदना मिली है, उसे परिवर्तनकामी स्वर में बदलने का साहित्य है, सम्पूर्ण जनमानस को संवेदनशील बनाने का साहित्य है।''[3]

दरअसल, दलित साहित्य का संबंध अंबेडकरवाद द्वारा निर्मित उस चेतना से है जो विद्रोह और नकार को लेकर आगे बढ़ती है। यह चेतना दलितों को अपनी दुर्दशा के मानवकृत कारण को समझने मे मदद करती है और उसे आत्मबोध के उस स्तर पर ले जाती है जहाँ से वह तथाकथित सभ्य समाज को प्रश्नांकित करने का ज्ञानात्मक बोध अर्जित करता है। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, जैसे मूल्यों की उसकी मांग और उसके लिए संघर्ष इसी ज्ञानात्मक निर्मिति का प्रतिफलन है। कंवल भारती दलित साहित्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं–''दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला नहीं, बल्कि जीवन और जिजीविषा का साहित्य है। इसलिए कहना न होगा कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है।''[4] यदि हम पूरे हिंदी साहित्य पर प्रकाश डाले तो पाते हैं कि भक्तिकाल से पहले दलित साहित्य जैसी कोई अलग परिचर्चा नहीं दिखाई देतीं। भक्तिकाल में संत साहित्य में वर्ण व्यवस्था के खिलाफ उठे स्वरों को देखा जा सकता है। बहुत सारे संत कवियों के पद दलित साहित्य के उत्थान के लिए लिखे गए। उन संत कवियों में रैदास का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। रैदास के साहित्य में जाति-पांति और वर्ण-व्यवस्था को जन्म के आधार पर मानने को नकारता है– *''रैदास एक ही बूँद सौ/ सब ही भयो बित्थार/मूरख है जो करत हैं/ वरन, अवरन विचार''*[5]

ये बात सही है कि सरस्वती में प्रकाशित (1914 में) हीरा डोम की कविता, 'अछूत की शिकायत' को दलित हिन्दी साहित्य की प्रथम रचना के रूप में स्वीकृति मिली। हालांकि इस पर विवाद है। हीरा डोम अपनी कविता 'अछूत की शिकायत' में भगवान से शिकायत करते हैं कि आप प्रहलाद, गजराज, विभीषण और द्रौपदी की रक्षा में तत्परता दिखाते है; हम ने ऐसा क्या अपराध किया है कि हमारी विनती तनिक नहीं सुनते हो– *''हम ने के राति दिन दुखवा भोगत बानी/हमनी के सहेब से मिली सुनाइवि/हमनी के दुख भगवनओं ने देख ताजे/हमनी के कबले कलेसवा उझाइबि।''*[6]

जिन्होंने रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा गली-सड़ी परम्पराओं ने दलितों को और दलित बना दिया– *''अब नहीं वह जमाना जुल्म हरिहर मत सहो/तोड़ दो जंजीर जकड़ें मत गुलामी में रहो।''*[7]

आजकल देश की सभी भाषाओं में दलित साहित्य लिखा जा रहा है। हिंदी में भी गंभीर दलित साहित्य लेखन हो रहा है। हिंदी में दलित साहित्य एक प्रकार का विरोध, आक्रोश और क्रोध का साहित्य है। इस में समाज से बहिष्कृत किये जाने का, समाज के द्वारा पीड़ित हो जाने का ज़िक्र है। सवर्ण समाज के द्वारा सदियों से उन्हें हाशिये पर रखे जाने के बाद दलित उस रूढ़ बंधन से निकलने की कोशिश में हैं। उस संघर्ष से हम दलित साहित्य में रूबरू होते है। उस संघर्ष में समानता, समरसता और सामाजिकता का आग्रह दिखाई देता है। कविता की विधा में भी गंभीर लेखन हो रहा है। दलित के शोषण के दो मुख्य कारण है; गरीबी और अशिक्षा। लेकिन गरीबी और अशिक्षा से भी बड़ी समस्या है छआछूत इस बड़ी समस्या को अम्बेडकर भी अपनी कविता में इंगित करते हैं– *''गरीब होना बुरा है/पर, उससे बुरा नही जितना कि अछूत होना/ गरीब स्वाभिमानी हो सकता है/किंतु अछूत नहीं हो सकता है/निम्न होना बुरा है/पर उतरा बुरा नहीं, जितना कि अछूत होना/निम्न व्यक्ति ऊपर उठ सकता/दुखी होना बुरा है/पर उतना बुरा नहीं/ जितना कि अछूत होना/दुखी किसी दिन सुखी भी होगा/किंतु अछूत उसकी आशा नहीं कर सकता।''*[8]

एक बड़ा विवाद के रूप में सवाल उठता रहा कि क्या दलित साहित्य केवल दलित ही लिख सकता है? दलित कविता दलित साहित्य एक ऐतिहासिक विचारक्रम की उपज है। यह कोई एका-एक प्रकट हुआ नारा नहीं था, बल्कि इसके पीछे एक सुचिंतित राजनीति काम कर रही थी और इस राजनीति की यह सफलता ही कही जायेगी उसने आंदोलन की बागडोर अपने हाथों में रखी। तमाम आरोपों-प्रत्यारोपों को झेलते हुए विमर्श और राजनीति के

नाजुक संतुलन को साध कर आज वह बेहतर विश्लेषण व आत्मविश्लेषण की ओर बढ़ चुका है।

बहरहाल हिन्दी में दलित साहित्य को ले कर मुख्यतः तीन तरह की प्रतिक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। एक तो यह कि साहित्य दलित अदलित नहीं होता। कई बार यहाँ तक कहा जाता है कि साहित्य दलित होता है इसलिए साहित्य सृजन में दलित-अदलित जैसा प्रश्न बेमानी है। यह धारा है जो छिपे ढंग से दलित साहित्य को ही नकार देना चाहती है। शरण कुमार लिंबाले प्रश्न उठाते हुए लिखते है–''साहित्य दलित नहीं होता पर दलितों का साहित्य हो सकता है क्योंकि दलित जाति-जमात यहाँ की धर्म व्यवस्था में से पैदा हुई, तुम श्रेणी बद्ध समाज व्यवस्था जारी रखोगे, ऊंच-नीच भाव परोसते रहोगे और दलित साहित्य ऐसा न कहे, ऐसा आग्रह करते रहोगे यह कैसे होगा?''[9] दूसरी धारा स्वयं दलित साहित्यकारों की है जिसमें लगभग इस बात का एका है कि दलित साहित्य दलित ही लिख सकता है। कुछ थोड़े विरोधी स्वर भी हैं लेकिन वे दलित साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। तीसरी तरह की प्रतिक्रिया दलित साहित्य को स्वीकार करती है और उदारतापूर्वक उसका स्वागत भी करती है लेकिन इस धारा में दो तरह के मत देखने को मिलते हैं। कुछ लोग अनुभव से उपजे साहित्य को सच्चा दलित साहित्य मानने के पक्षधर हैं पर दूसरे वे हैं जो इस तरह के विभाजन को उचित नहीं मानते। इन दोनों धाराओं के प्रतिनिधि के तौर पर हम दिवंगत मैनेजर पाण्डेय और नामवर सिंह को देख सकते हैं। मैनेजर पाण्डेय ने स्वानुभूति पर बल देते हुए लिखा है, 'जहाँ तक दलित साहित्य की अवधराणा की बात है तो दलित साहित्य को दो रूपों में देखा जा सकता है। एक तो दलितों के द्वारा दलितों के बारे में दलितों के लिए लिखा गया साहित्य और दूसरा दलितों के बारें में गैर-दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य। मेरे विचार में करूणा और सहानुभूति के सहारे गैर दलित लेखक भी दलितों के बारे में अच्छा साहित्य लिख सकते हैं लेकिन सच्चा दलित साहित्य वही है, जो दलितों द्वारा अपने बारे में या सवर्ण समुदाय के बारे में लिखा जाता है।''[10] नामवर सिंह जी भी इस बात को मानते है–''दलित होना व्यक्ति की ऐसी हकीकत है और अनुभव है कि जो दलित होने के कारण उसे जिन चीजों से गुजरना पड़ता है उसका प्रत्यक्ष अनुभव स्वयं दलित के जैसा है, वह अपनी पूरी अनुभूतियों व अपनी कल्पना का विस्तार करने के बावजूद मैं जो गैर दलित हूँ, उस अनुभव की तीव्रता और तनाव को मैं अपने आप को अनुभव नहीं करा सकता।''[11]

स्वाधीनता के इतने दिनों बाद भी इस लोकतांत्रिक देश में दलितों की स्थिति बहुत ठीक नहीं है। उसका हर क्षेत्र में शोषण हो रहा है। इस दमनकारी व्यवस्था के खिलाफ आक्रोश कविता के रूप में ज्यादा मुखर हुआ–''दलित कविता, दलित समाज की व्यथा-वेदना, खीझ, इच्छा-आकांक्षा और छटपटाहट का रचनात्मक दस्तावेज है। दलितों पर हो रहे अमानुषिक अत्याचार तथा सवर्णी बर्बरता को दलित कवि पूरी शिद्दत के साथ समाज के सामने प्रस्तुत करता है। अब दलित भी धीरे-धीरे विद्रोही हो रहे हैं, जिसके संकेत कुछ दलित रचनाकारों की कविताओं में मिलने भी लगे हैं। वे इस सम्पूर्ण दुरावस्था का जिम्मेदार व्यवस्था को मानते हैं क्योंकि सामन्ती युग में तो दलित शोषण और अत्याचार के शिकार थे ही, लेकिन आज भी उन पर अत्याचारों में कमी नहीं आई है।''[12] दलित समाज ने अपनी अनुभूतियों को इन कविताओं में बहुत ही ईमानदारी के साथ बुना है। यही कारण है कि दलित साहित्य को आज व्यापक स्तर पर स्वीकृति प्राप्त हुई है। समाज में दलित होने के पीछे दो कारण विद्यमान है। एक जातीय आधार और दूसरा आर्थिक पिछड़ापन या दरिद्रता। जातीय शोषण को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की श्रेणी में आता है, ''पूर्व में दलितों को चांडाल, हीन, अवर्ण, अत्यंज, अछूत, अस्पृश्य, परियाह, पंचम आदि के नाम से सम्बोधित किया जाता था। दलितों को उनकी जाति जैसे चमार, धोबी, खटीक, पासी आदि के नाम से बुलाया जाता था। ये जाति सूचक शब्द अपमान का प्रतीक बन गए थे। इन सभी अस्मिताओं की हम दलितों की विकृत पहचान कर सकते थे क्योंकि इनको सवर्ण समाज द्वारा दलितों पर थोपा गया है जिसे हिन्दू धार्मिक पुस्तकों ने मान्यता प्रदान कर पुख्ता कर दिया है।''[13]

समकालीन हिन्दी काव्य में दलित साहित्य की अभिव्यक्ति अछूतानंद की कविता से आरम्भ होती है। जिन्होने रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा गली-सड़ी परम्पराओं ने दलितों को और दलित बना दिया– *''अब नहीं वह जमाना जुल्म हरिहर मत सहो/तोड़ दो जंजीर जकड़े मत गुलामी में रहो।''*[14]

हिन्दी क्षेत्र में दलित साहित्य के उभार के साथ ही कई और घटनाएँ घट रहीं थी एक तरफ मण्डल कमीशन की सिफ़ारिशों के खिलाफ उग्र सवर्ण आंदोलन था तो दूसरी ओर उग्र धार्मिकता के जरिए सांप्रदायिक माहौल बनाया जा रहा था और इन्हीं सब के बीच भारत में वैश्वीकरण और उदारीकण का घोड़ा भी प्रवेश कर चुका था। कहने का मतलब दलित वैचारिकी का रास्ता आसान नहीं था उस पर

इन तमाम परिघटनाओं का गहरा असर पड़ा है और इसे लेकर दलित साहित्य के भीतर गंभीर बहस भी छिड़ी है। दलित साहित्य के साथ सबसे शानदार बात यह रही कि इसने कभी बहस से किनारा नहीं किया बल्कि हर सवाल पर गहरे विमर्श को जन्म दिया। पहले आधुनिक दलित कवि के तौर पर माने गए देवेन्द्र कुमार बंगाली की कविता 'भेड़िया' कुछ इस तरह पेश करती है– *''रात के उन्हीं उन्हीं पहरों में/जिसमें नींद अपनी जवानी पर होती है/वह आता है और बगल में सोये हुए/बच्चों को उठा ले जाता है/इससे पहले कि लोग उसे जाने-सुनें देखें/उसका पीछा करें/एक को छोड़कर वह;/दूसरे गाँव की ओर मुड़ चुका होता है/फिर लौटकर आये न आये/इससे कोई अतंर नहीं पड़ता/बल्कि उसका आतंक बराबर बना रहता है।''*[15]

आज दलित साहित्य वेदना और नकार से आगे बढ़ कर विश्लेषण के चरण में पहुंच चुका है और यह मानने को तैयार है कि साहित्य स जन के कई स्रोत हो सकते हैं। संदर्भ में गंगाधर पानतावड़े से बजरंग बिहारी तिवारी की बात-चीत का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें पानतावड़े जी साहित्य को तीन स्रोतों, ''स्वानुभूति, संवेदनानुभूति, एवं कल्पना से उपजा हुआ मानते हैं। इनमें से कल्पना तो वास्तविकता से विलग होती है। इसके इतर प्रथम दो स्रोतों में से उनके अनुसार स्वानुभति से रचित साहित्य ही सच्चा दलित साहित्य है जबकि संवेदनानुभूति से रचित साहित्य अनुभव ताप से वंचित होता है। उनके अनुसार, प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि का यही फर्क समझना चाहिए।''[16]

यह हम सभी जानते हैं कि प्रगतिशील समाज बनाने के लिए सबसे पहले राष्ट्रीय एकता की जरूरत है। आज देश में व्यक्ति का जाति के आधार पर ही मूल्यांकन किया जाता है। सामाजिक विषमता का मुख्य कारण है जाति। समूचा दलित साहित्य सामाजिक आंदोलन की उपज है। यही वजह है कि दलित कविता केवल वर्तमान चुनौतियों से ही नहीं टकराती बल्कि वह उनके सरोकारों को ले कर चलती हुई आने वाले खतरों से टकराती हुई आमजन को उसके प्रति आगाह करती है। आज दलित कविता सही मायने में साहित्य के प्रतिपक्ष की भूमिका महत्वपूर्ण अदा कर रही है। 21वीं सदी की हिंदी दलित कविता ने दलित चेतना को नया स्वर दिया है। ऐसे स्वर हैं– ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्यौराज सिंह बेचैन, कंवल भारती, मोहनदास नैमिशराय, सूरजपाल चौहान, जयप्रकाश कर्दम माता प्रसाद, डॉ. एन. सिंह, सुशीला टाकभौर आदि न जाने कितने और नाम हैं जो दलित वैचारिकी को आगे बढ़ाने का काम कर रहे हैं।

संदर्भ

1. मसीही धर्मानुसार दलित शब्द की व्याख्या, डॉ. ए. वी. शिवाजी, दलित साहित्य सृजन के संदर्भ, डॉ. पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी, पृ. 134-136.
2. सारिका, समांतर कहानी विशेषांक-7, सं. कमलेश्वर, दलित साहित्य (मराठी) अप्रैल, 1975, ले. प्र. श्री नेरूकर, दलित साहित्यः प्रक्रिया और रूपरेखा, पृ. 74.
3. डॉ. रामचन्द्र, 'दलित कविताओं का स्वर परिवर्तनकामी है', दलित चेतना की कविताएं, सं. रामचन्द्र, प्रवीण कुमार, नई दिल्ली, स्वराज प्रकाशन, 2014, पृ. 124
4. भारती, कंवल, 1998, 'युद्धरत आम आदमी', अंक 41-42
5. संत कवि रैदासः मूल्यांकन और प्रदेय, सं. डॉ. एन. सिंह (वाणी खंड) पृ. 28, साखी सं-86
6. मोहनदास नैमिशराय, बयान, अक्टूबर, 2009, पृ. 09
7. स्वामी अछूतानंदः सचित्र जीवनी, शील प्रिय बौद्ध, पृ. 3
8. डॉ. अम्बेडकर की कविताएं, कंवल भारती, बोधिसत्व प्रकाशन, प्र. सं. 1996, पृ. 32
9. चमनलाल, दलित अश्वेत साहित्य कुछ विचार, शिमला भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, 2001, पृ. 23
10. शाही, सं. सदानंद, दलित साहित्य की अवधरणा और प्रेमचंद. प्रेमचंद साहित संस्थान, गोरखपुर, 2005. पृ. 52
11. वही, 192
12. डॉ. एन. सिंह, हिन्दी काव्य में दलित चेतना, दर्द के दस्तावेज, सं. डॉ. एन. सिंह, आनंद साहित्य सदन, अलीगढ़ 1992, पृ. 14
13. डॉ. विवेक कुमार, दलित समाज पुरानी समस्याएं नई आकांक्षाएं, पृ. 11
14. स्वामी अछूतानंद सचित्र जीवनी, शील प्रिय बौद्ध, पृ. 31
15. देवेन्द्र कुमार बंगाली, ऑथर्स प्राइड पब्लिशर प्राइवेट लिमिटेड, मयूर विहार, नई दिल्ली, 2017 पृ. 277-78
16. तिवारी, बजरंग बिहारी, दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा, नवारूण प्रकाशन, 2015, पृ. 24

अनुज कुमार रावत

सह अध्यापक, देशबंधु कॉलेज,

हाउस न. 44 बी, कालकाजी ऐक्सटेंशन, पोकेट 3,

नई दिल्ली-110019

रामधारी सिंह दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विवेचनात्मक अध्ययन

–विजय कुमार पाल

राष्ट्र केवल एक देश की भौगोलिक सीमा का परिचायक नहीं है। वह उसकी स्वाधीनता, राजनीतिक एवं सामाजिक एकता एवं सांस्कृतिक सम्पन्नता का परिचायक है। राष्ट्रीय चेतना का विकास जिस आधार पर होता है उसमें एक भौगोलिक सीमा और उसका भूमिखंड विशेष महत्त्व रखता है। देश या भूमिखण्ड का सम्बन्ध उस पर निवास करने वाली जनता और उसकी सांस्कृतिक धरोहर से होता है। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने राष्ट्र के स्वरूप निर्माण में भूमि, भूमि पर बसने वाले जन और जन की संस्कृति को राष्ट्र निर्माण का आधार माना है। उनका कहना है, ''पृथ्वी सच्चे अर्थों में समस्त राष्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है, जो राष्ट्रीयता पृथ्वी के साथ नहीं जुड़ी वह निर्मूल होती है। राष्ट्रीयता की जड़ें पृथ्वी में जितनी गहरी होंगी उतना ही राष्ट्रीय भावों का अंकुर पल्लवित होगा।''[1]

सामाजिक और धार्मिक परिवेश के अनुसार किसी विषाल देश में विविध संस्कृतियों का उदय हो सकता है, पर सबमें आन्तरिक एकता होती है, सबका मूलाधार एक ही होता है। किसी देश का साहित्य, कला, नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद उस देश की संस्कृति के अंग हैं। इस प्रकार भूमि, उस पर रहने वाले लोग और उनकी संस्कृति किसी राष्ट्र के निर्माण का आधार प्रस्तुत करते हैं। ''हिमालय से हिन्द महासागर तक फैला हुआ विषाल क्षेत्र भारतवर्ष कहलाता है। विष्णु पुराण में इसकी सीमाओं को निर्दिष्ट करते हुए यहाँ रहने वाले लोगों को भारतीय संतति कहा गया है।''[2] इस देश को पहले अजनाम वर्ष भी कहा जाता था। आरंभ में जब फारस और यूनान के लोगों ने इस पर आक्रमण किया तो इसे हिन्दुस्तान कहा। 1600 ई. से 1757 ई. तक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपना प्रसार किया। बम्बई, मद्रास और बंगाल को अपना व्यापारिक केन्द्र बनाकर भारतीय सम्पदा की लूट-खसोट आरंभ कर दी। उसके बाद तो पूरे भारत में उनकी विस्तारवादी नीति बड़े जोरों के साथ आगे बढ़ने लगी। ''सन् 1803 ई. तक तो मुगल सम्राट शाहआलम अंग्रेजों के संरक्षण में आ गया। अब वह अंग्रजों का राजनीतिक बन्दी हो गया था।''[3] 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की उथल-पुथल के बाद भी अंग्रेजों का यह शासन 15 अगस्त 1947 तक (भारत के स्वतंत्र होने तक) बना रहा। भारत की इन समस्त राजनीतिक

परिस्थितियों ने हमारे देश में राष्ट्रीयता के विकास और राष्ट्रीय चेतना के जागरण को एक नयी दिशा दी।

दिनकर वामपंथी विचारधारा के कवि थे। उनकी रचानाओं पर मार्क्सवादी विचारधारा का भी प्रभाव है। वे समाज में अन्याय और अत्याचार के विरोधी हैं। वे क्रान्तिकारियों के स्वर में स्वर मिलाते हुए दिखायी पड़ते हैं। क्रान्तिकारियों के स्वर को काव्यात्मक वाणी देने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। डा. सावित्री सिन्हा ने लिखा है- ''दिनकर की कविता इस पीढ़ी की राष्ट्रीय कविता से अलग है क्योंकि आरंभ से ही उसमें गाँधीवादी युग के उन नवयुवकों की विद्रोही और उग्र मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है जो दक्षिण पंथी काँग्रेसियों के विरुद्ध थे जिनका प्रतिनिधित्व उस समय कांग्रेस में और बाहर नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस तथा जय प्रकाश नारायण कर रहे थे।''[4] वस्तुतः दिनकर के क्रान्ति के स्वर उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो भगत सिंह की उग्र एवं क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का उपासक था और जिसकी जवानी का गर्म रक्त ब्रिटिश सरकार की दमन नीति के विरोध में उबल रहा था, हुंकार तक आते-आते कवि की यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण औदात्त पर आ गयी थी।

दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना क्रमशः विकास की ओर अग्रसर रही है। स्वतन्त्रता के पूर्व उनमें राष्ट्रीयता के प्रति हुंकार का स्वर दिखाई पड़ता है। इसमें विद्रोह और क्रान्ति का स्वर मुखरित हुआ है। किन्तु देश के आजाद हो जाने के बाद कवि की राष्ट्रीय चेतना पंचशील, सहअस्तित्व और विश्व मानवता की ओर उन्मुख हो गयी है। भारत-चीन युद्ध तक आते-आते उसने एक नवीन मार्ग का अनुगमन किया है। इसमें विद्रोह है, आतंक है और आक्रोश का भाव है। दिनकर की राष्ट्रीयता देश की परिस्थितियों से जुड़ी हुई है। उनके काव्य में राष्ट्रीयता का स्वर कई रूपों में प्रस्फुटित हुआ है।

दिनकर के काव्य की राष्ट्रीय चेतना का प्रारम्भिक रूप रेणुका में प्रस्फुटित हुआ है। इसमें कवि का क्रान्तिकारी स्वर सुनाई पड़ता है। तांडव का रूप रौद्र भाव का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि युगीन अनाचार और आडम्बर ध्वस्त कर संसार के समस्त पापों को जला देना चाहता है– *''गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो/लगे आग इस आडम्बर में/अहंकार के उच्च शिखर से/स्वामिन अंधड़ आग बुझा दो/जले पाप जग का क्षणभर में ॥''*[5]

हिमालय शीर्षक कविता में भी शंकर से प्रलय नृत्य का आह्वान करता है– *''कहदे शंकर से आज करें/वे प्रलयनृत्य फिर एक बार।*

सारे भारत में गूँज उठे
हर-हर बम-बम का महोच्चार।''[6]

उनकी राष्ट्रीय चेतना के आरम्भिक स्वर में विनाश का ही सशक्त स्वर सुनाई पड़ रहा है। उसमें निर्माण की चेतना का अभाव है। उनके चारों ओर देश में जो दानवी लीला दिखायी पड़ रही है, जिससे वे स्वयं आक्रान्त हैं, उसे वे ध्वंस कर देना चाहते हैं। उसके समूल विनाश के लिए वह विप्लव का शंख फूंक देना चहता है। उनकी इस राष्ट्रीयता में भावुकता की प्रधानता है। कुछ आलोचकों ने कवि की इस भावुकता को सस्ती भावुकता की संज्ञा दी है। डॉ. सावित्री सिन्हा ने भी उनकी वीरता को अंधी वीरता तथा अंधी क्रान्ति कहा है किन्तु ऐसा नहीं है।

हमें इन कविताओं का मूल्यांकन तत्कालीन परिवेश और परिस्थितियों से अलग रह कर नहीं करना चाहिए। उसे समय युग-क्रान्ति के कगार पर खड़ा हो कर आर-पार की लड़ाई लड़ना चाहता था। आजादी प्राप्त करने के लिए क्रान्तिकारियों में जो अद्भुत तिलमिलाहट थी उसका अनुभव कवि को भली-भाँति था। उसने क्रान्ति के बढ़ते कदम को और तीव्रता से आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। उसमें क्रान्तिकारी चेतना का सहज उद्गार है। कवि क्रान्ति की चेतना का वाहक होता है, स्वयं क्रान्ति की आग में कूद नहीं पड़ता। क्रान्तिकारियों में क्रान्ति की वह चेतना फूंकने में दिनकर सदैव तत्पर रहे हैं। उसे सस्ती और अंधी भावुकता की संज्ञा देना स्वयं हमारे अंधेपन का प्रतीक होगा। क्रान्ति का आह्वान करने वाला कवि शान्ति की माला नहीं जपता। वह चौराहे पर खड़ा क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करता दिखायी पड़ता है जो परिस्थितियों के थपेड़ों को झेल रहा है और पीड़ित मानवता की कराह सुन कर तिलमिला रहा हो उसकी कविता से शान्ति और सुधार के स्वर नहीं, क्रान्ति और विप्लव के स्वर ही फूटते हैं। दिनकर की कविता में यथार्थ परिस्थितियों का स्वर मुखरित हुआ है। कवि ने अपनी आकुल भावनाओं की सहजानुभूति व्यंजित की है। दिनकर के काव्य में राष्ट्रीयता का मूल्यांकन युगीन परिस्थितियों से अलग रह कर करना, दिनकर के प्रति अन्याय करना है।

दिनकर में राष्ट्रीय परिस्थितियों और समस्याओं के प्रति सजग दृष्टि दिखाई पड़ रही है। रेणुका युगीन राजनीतिक परिस्थितियों को देखना हो तो हमें 'वाणी', 'कस्मै देवाय' और 'बोधिसत्व' कविताओं को देखना होगा जिनमें अछूतोद्धार, किसान आन्दोलन, साम्प्रदायिकता और आर्थिक शोषण के चित्र हैं। ये समस्याएं जहाँ सम्पूर्ण राष्ट्र को प्रभावित कर

रही थीं, वहीं समाज को भी खोखला बना रही थीं। इसलिए दिनकर आदि कवि की वाणी को में युग वाणी ढालना चाहते हैं– *''लाखों क्रौंच कराह रहे हैं/जाग आदि कवि की कल्याणी/फूट-फूट तू कवि कंठों से/वन व्यापक निज युग की वाणी।''*[7]

कवि अनुभव करता है कि यह युग जब देश परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा पड़ा है, अध्यात्म और उच्च मानवीय आदर्शों की बात करना और उसके माध्यम से आजादी प्राप्त करने की बात सोचना उचित नहीं है। आवश्यकता हो तो कवि हिंसात्मक तौर-तरीकों से भी आजादी प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करना चाहता है– *''रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ/जाने दे उनको स्वर्ग धीर/पर फिरा हमें गांडीव गदा/लौटा दे अर्जुन भीम वीर/तू मौन त्याग कर सिंहनाद/रे तपी आज तप का न काल/नव-युग शंख-ध्वनि कर जगा रही/तू जाग जाग मेरे विशाल ॥''*[8]

हिमालय शीर्षक प्रस्तुत कविता में कवि शक्ति और शौर्य के प्रतीक की खुली माँग कर रहा है। तत्कालीन परिस्थितियों में वह अर्जुन और भीम को याद कर रहा है। युधिष्ठिर की उसे आवश्यकता नहीं रह गयी है। इसी प्रकार हुंकार की कविता अनल किरीट में कवि का कथन है कि जो जवानी तेजों से खेलती है, उसकी आस्था अहिंसा में नहीं क्रान्ति के सैनिक में है। दिनकर में क्रान्ति की इस सैनिक भावना का विकास आगे चलकर परशुराम की प्रतीक्षा में दिखायी पड़ता है– *''ऊब गया हूँ देख चतुर्दिक/अजा धर्म का ग्लानि विहीन प्रवर्तन।''*[9]

महा मानव की खोज कविता में कवि गांधीवादी नीति का प्रत्यक्ष विरोध करता दिखायी पड़ रहा है। स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीयता का बदलता स्वर देश की आजादी के लिए जो कवि आजादी के पूर्व देश में क्रान्ति और विप्लव का आह्वान कर रहा था जो अपनी कविता से जन-जन में क्रान्ति की चिनगारी जगा देना चाहता था, वह स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश के स्वाभिमान और उसकी मान मर्यादा की सुरक्षा के लिए सजग दिखायी पड़ रहा है।

आजादी की प्राप्ति के बाद उनकी क्रान्ति की गर्जना मन्द पड़ गयी। उसके स्वर में राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीति का स्वर मुखरित होने लगा। नील कुसुम उस युग की प्रमुख रचना है जिसमें कवि का बदला हुआ स्वर स्पष्टतः सुनाई पड़ रहा है। 'जन तन्त्र का जन्म', 'भूदान', 'किसको नमन करूँ मैं', और 'राष्ट्र देवता का विसर्जन' आदि कविताएं युग प्रेरित शांतिवादी और मानवतावादी भावनाओं से सम्पृक्त हैं।

कवि का यह शांतिवादी स्वर एक दशक तक बना रहा पर जब सन् 1962 में देश पर चीन का आक्रमण हो गया। चीन हमारे आस्तीन का साँप बन गया उस समय कवि का अन्तर्मन फिर आहत हो उठा। उसकी राष्ट्रीय भावना आहत हो उठी। वह अपने मन के सुषुप्त अनल को पुनः जगाने लगा। किन्तु, शांति और अहिंसावादी मान्यता के ध्वस्त होने पर भी गाँधी के प्रति जो उसके मन में आस्था पैदा हो चुकी थी, उसे वह दूसरे ढंग से अभिव्यक्त करता है– *''गिराओ बम गोली दागो/गाँधी की रक्षा करने को गाँधी से भागो।''*[10]

गाँधी की अहिंसा वादी नीति से हट कर शत्रु से सीधी टक्कर लेने के लिए कवि आवाहन करता है। उसका कहना है कि गाँधी के देश के आदर्शों की उनकी मर्यादा की रक्षा करने के लिए राष्ट्र की प्रतिष्ठा को बचाने के लिए अब गाँधी की अहिंसावादी नीति को छोड़ो और दुश्मन से सीधे लोहा लो। इस समय गाँधी की रक्षा करनी है तो तुम्हें गाँधी की अहिंसावादी नीति से दूर हो कर युद्ध का सामना करना होगा।

दिनकर जी 'रेणुका' से 'परशुराम की प्रतीक्षा तक' युगीन राष्ट्रीयता के उद्घोषक रहे हैं। वे युगानुरूप युवकों को क्रान्ति और संघर्ष के लिए प्रेरित करते रहे हैं। 'रेणुका' से 'परशुराम की प्रतीक्षा' काव्य तक कवि ने तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों के बीच युवा पीढ़ी को क्रान्ति और विप्लव के लिए प्रेरित किया है।

सन्दर्भ

1. पृथ्वी पुत्र (निबन्ध संग्रह), डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल
2. हिन्दी साहित्य, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रथम खण्ड पृ. 1
3. हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, पी. ई. रावर्ट, पृ. 258
4. युगचारण दिनकर, डॉ. सावित्री सिन्हा, पृ. 31
5. रेणुका, रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 3
6. वही, पृ. 7
7. वही, पृ. 32
8. हिमालय, रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 3
9. हुंकार, रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 62
10. परशुराम की प्रतीक्षा, रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 58

सभ्य समाज से संवाद करती कविताएं

—डॉ. बन्ना राम मीना

समकालीन आदिवासी कविताएँ आदिवासी समाज के असली स्वरूप और सत्ता के नकली चरित्र का परिचय हमें देती हैं। ये कविताएँ पिछली काव्य पीढ़ियों से आगे की, जीवन के ज्यादा विस्तारों को देखती-पहचानती हुई कविता हैं। इसकी संवेदना बिल्कुल नई और अपनी है। इस संवेदना में यह जानने की बेचैनी है कि समाज, मानव संबंध और राजनीति में हमने क्या-क्या खोया है, कौन-सी दुनिया हमसे छूट गई है और हमारी मूल भूमि का और हमारी स्थानीयता का क्या हाल है। हमारे सामने जो घट रहा है उसके प्रति पूरी शिद्दत और संवेदना के साथ जुड़ते हुए तथा जो होता रहा है या होना चाहिए को रेखांकित करते हुए रचनाकार अपने समय का यथार्थ लिखते हैं। यथार्थ के प्रति गहरा संताप, अतीत को हेरते हुए भविष्य के स्वप्न बुनने की प्रक्रिया से निःसृत कविताओं में भारतीय आदिवासी समुदाय की आकांक्षाएँ हिलोरें लेती हैं।

समकालीन कविता में प्रत्यक्ष अनुभूति पर अधिक बल दिखाई देता है। यह प्रत्यक्ष अनुभूति प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित होती है। समकालीन कविता निश्चय ही विशिष्ट और अभूतपूर्व है। वह अपने समय से टकरा रही है, अपने समय की धड़कनों को पहचान रही और उन्हें व्यक्त ही नहीं कर रही है, वरन् उनका प्रतिरोध भी कर रही है। इस संदर्भ में विजय कुमार कहते हैं—''20वीं सदी के अंतिम वर्षों में कविता सभ्यता के इस ''स्लोपोईजन'' को पहचान रही है। घटनाओं, हादसों और प्रसंगों से ठसाठस भरे सच के बारे में छिपी दरारों से प्रवेश करती हुई, तात्कालिकता के लंपट आवरण को भेदती हुई, विशेषताओं के भूल भूलैया में मनुष्य के त्रास, चित्कार और उम्मीद का निजी स्फीयर रचती हुई, यांत्रिक तर्कवाद के घटाटोप में आदमी को हिलने-डुलने सरकने और सांस लेने की जगह देती है। गनीमत है कि कवि आज भी यह मानता है कि कविता अब भी इस संसार के बारे में एक अज्ञान, एक मुक्ति, एक ताकत और एक समर्पण है। वह अब भी दुनिया का विवरण देती है और एक आध्यात्मिक अनुभव बन जाना चाहती है, वह इस दुनिया को खोलती है और दूसरी दुनिया बन जाती है''।[1]

बीसवीं सदी के अंतिम दशक की परिस्थितियों का प्रभाव समकालीन कविता पर पड़ता है। समकालीन कविता बीसवीं सदी के अंतिम दशक तक आए उथल-पुथल को सीधे और बेबाक ढंग से अभिव्यक्त करती है। वह जीवन के

यथार्थ को व्याख्यायित करती है, बिना किसी दुराव-छिपाव के। सच्चाई और ईमानदारी इस कविता की मूलभूत विशेषताएं हैं, जो उसे अन्य काव्य धाराओं से विशिष्ट बनाती है। 20वीं सदी के अंतिम दशक की स्थितियों के विषय में नामवर सिंह लिखते हैं-''कोई एक दशक युग नहीं होता, लेकिन इस दशक की घटनाओं दुर्घटनाओं को याद करें तो यह एक युग ही नहीं, बल्कि कई युगों का युग है। सहस्त्राब्दी का यह अंतिम दशक दरअसल एक युगांतर है। गरज कि यह पूरा दशक एक ऐसे संकट का दौर है जो देश के समकालीन इतिहास में अभूतपूर्व है, साथ ही सर्वग्रासी और बहुत गहरा भी।"[2]

समकालीन कविता में जो स्वर मुख्य रूप से अपनी संपूर्ण ऊर्जा और शक्ति के साथ सुनाई पड़ते हैं, उनमें आदिवासी स्वर भी महत्वपूर्ण है। यह एक ऐसा समाज है जो मुख्यधारा से अलग थलग पड़ा है। समकालीन कविता में सदियों से हाशिए पर फेंके गए लोगों की आशा और आकांक्षा के स्वर मौजूद हैं। आदिवासी कविताएं प्राकृतिक वरदानों को साम्राज्यवादी ताकतों के कब्जे से मुक्त कर आने का प्रतिरोधी स्वर लेकर उठ खड़ी होती हैं। इन कविताओं के भीतर अनुभव की विशिष्टता भी है और विरोध का भाव भी है, इसके साथ आदिवासी जीवन की दुखात्मक गाथाएं भी मौजूद हैं। आदिवासी कविता में संगीत की आहट है, बांसुरी के स्वर हैं, मॉदल की थाप है और ऐसा गहरा अनुभव है जो कहीं और दुर्बल है। आदिवासी कविता के भीतर वर्तमान व्यवस्था के प्रति गहरा विरोध मौजूद है। विस्थापन के दर्द से ले कर अपने अस्तित्व और अस्मिता को बचाने की बेचैन पीड़ा समकालीन आदिवासी कविताओं के भीतर मौजूद है।

आदिवासी समाज के भीतर बहुत से ऐसे लेखक हैं जो अपने अस्तित्व और अस्मिता को ले कर अपनी कलम को धार दे रहे हैं। इधर हाल ही के कुछ वर्षों में यह लेखन जोर शोर से हो रहा है और हिंदी पट्टी के भीतर अकादमिक गलियारों में इस विमर्श की अनुगूंज सुनाई पड़ रही है। यह विमर्श अब धीरे-धीरे केंद्र में आ रहा है, हिंदी में भी बहुत से आदिवासी लेखक लगातार अपनी कविताओं के माध्यम से प्राकृतिक संपदाओं की खुली लूट पर अपनी सृजनात्मकता का परिचय दे रहे हैं। इस शोध-लेख का उदेश्य हिन्दी में लिख रहे आदिवासी कवियों की कविताओं में आदिवासी स्वरों की गूँज को सामने लाना है। अनुज लुगुन, महादेव टोप्पो, हरिराम मीना, जसिंता केरकेटटा, ज्योति लकड़ा, ग्लैडसन डुंगडुंग और वंदना टेटे मुख्य रूप से हिन्दी में लिख रहे हैं। इन सभी लेखकों का हिन्दी पट्टी के भीतर लगातार चर्चा का विषय बनना उनकी रचनात्मकता का प्रमाण है। इनकी कविताएं समकालीन रचना संसार को एक ऊर्जा देती हैं क्योंकि ये कविताएं एकरसता को तोड़ने में कामयाब होती हैं। समकालीन आदिवासी कवि अपनी कविताओं के जरिये अपनी आदिम संस्कृति के प्रति आस्था का भाव रखते हैं जो उनके जीवन दृष्टिकोण को निरूपित करता है। अपने परिवेश से गहन रागात्मक सम्पृक्ति वही कर सकता है जिसके अंदर प्रविधि एवं तकनीक की निरन्तर उपस्थिति के बावजूद, चेतना का क्षरण नहीं हुआ है। यह चेतना भाव ही मनुष्यता की जय यात्रा है जो कि लगातार हाशिए पर पड़ता जा रहा है।

आदिवासी कविता अतीत के आदिम इतिहास से ले कर आदिवासी जीवन के समकालीन घटनाक्रम को दर्ज कर रही है। यह कविता इतिहास के पन्नों से गायब प्रसंगों को भी बेबाक ढ़ग से उठा रही हैं। यह सच है कि इतिहास के पन्नों के भीतर आजादी की लडाई में आदिवासियों के योगदान को हमेशा नकारा गया है। भारतीय इतिहास के ग्रंथों के भीतर आदिवासियों को बंदर, भालू आदि की उपाधि से नवाजा गया है, उनकी संस्कृति और गौरवशाली इतिहास का कहीं भी नोटिस नहीं लिया गया। कवि महादेव टोप्पो कहते हैं–

''इतिहास तुम्हारा
इतिहास के पन्नों पर
गढ़ा नहीं शब्दों में
ना ही दर्ज हो सकता है ग्रंथों में।"[3]

आदिवासियों के वन छीन कर उन्हें सदियों से सताया जा रहा है। विकास के नाम पर हो रहे विस्थापन को कवि ने महसूस किया है। विकास के नाम पर होने वाली इस क्रूरता के शिकार हुए आदिवासी लोगों की पीड़ा को यह कविता अभिव्यक्त करती है। कवि महादेव टोप्पो का मानना है कि विकास के नाम पर पूंजीपति लोग सिर्फ अपनी जेब भर रहे हैं। कविता इन लोगों के दर्द, विस्थापन आदि का चित्रण करके आज की सभ्यता की चकाचौंध पर गहरा आक्रोश एवं विडम्बना भी प्रकट करती है–

''सहानुभूति दिखाते
राष्ट्र के विकास की प्रक्रिया में-
जंगल के लोग
पहाड़ के लोग
उजड़ रहे हैं।"[4]

आज मुख्यधारा का समाज उनकी पहचान और अस्मिता को ले कर अलग-अलग नामों से संज्ञायित करने पर आमादा है, परंतु आदिवासी समाज की संस्कृति एकदम अलग है। कवि इसी उधेड़बुन में लगा रहता है कि हमें अपनी संस्कृति और अस्मिता को बचाने हेतु क्या करना चाहिए। इन्हीं पीड़ाओं, शोषण और अत्याचार की वजह से अपनी प्रश्न भंगीमा के साथ महादेव टोप्पो कह उठते हैं–

''मैं पूछता हूं तुम सबसे
आखिर इस देश में, इस प्रजातंत्र में
हम क्या हैं?
हम क्या हैं?''[5]

यांत्रिक सभ्यता और विकास के साथ सहज रिश्ता नहीं बन पाने के कारण आदिवासी समाज आज के परिवेश में विदूषक की भांति नजर आता है। यांत्रिक सभ्यता में इनकी सहज जिंदगी में लगातार दखल अंदाजी की है। यही वजह है कि अपने पर्यावरण की चिंता हेतु आदिवासी कवि कह उठते हैं-

''हां, छोटा नागपुर के जंगलों में
नहीं आती अब तितलियां
सारी की सारी चली जाती हैं
कुल्लू मनाली की घाटियों में।
लेकिन हम तितली नहीं हैं
हम हैं जंगल के वासी''[6]

आदिवासी समाज के लिए उनके जल, जगंल और जमीन उनकी पहचान का प्रमुख हिस्सा है। औद्योगिकरण के चलते यह समाज अपनी जड़ों से निरंतर बेदखल हो रहा है। इनकी जमीनों पर आलीशान इमारतों, कारखानों, बांध आदि निर्मित होने के बाद जमीन और जंगलों से इनका अधिकार समाप्त हो गया। परिणामस्वरुप, यह अपनी जमीनों से बेदखल हो गए। अपनी आदिवासी खासियत के लिए यह जाने जाते थे, वही खासियत इनसे निरंतर छीनी जा रही है। कवि को लगातार यह चिंता सता रही है कि आदिवासी समाज का अस्तित्व मिटने को है-

''लड़ रहे हैं आदिवासी
अघोषित उलगुलान में
कट रहे हैं वृक्ष
माफिया की कुल्हाड़ी से
और बढ़ रहे हैं कंक्रीट के जंगल
दांडू जाये तो कहां जाए
कटते जंगल में
या-
बढ़ते जंगल में...?''[7]

जल, जंगल और जमीन आदिवासी समाज की प्रमुख पहचान है। आदिवासी समाज अपनी आजीविका के लिए इन्हीं पर निर्भर करता है।, इनसे वंचित किए जाने पर आज इनकी जिंदगी में एक प्रश्न चिन्ह लग गया है। इनकी कुछ जमातें समाप्त होने की कगार पर हैं या फिर इनका तेजी से धर्म परिवर्तन किया जा रहा है। किंतु आज का शिक्षित आदिवासी विस्थापन और सभ्यता से दूर किए जाने वाले षड्यंत्र को समझ रहा है। वह मानता है कि सिसनदरी के पत्थर हमारे पूर्वजों की कब्र ही नहीं बल्कि हमारी सांस्कृतिक विरासत और पहचान का हिस्सा भी हैं। अपने पूर्वजों की विरासत को इन मृत पत्थरों में ढूंढ़ते हुए अनुज लुगुन लिखते हैं–

''इसी तरह इतिहास रचते गये
पुरखों के नाम पत्थर गाड़ कर
हम तैयार होते गये
नये मौर्चों पर लड़ाई के लिए...''[8]

आदिवासी समाज में स्त्री दोहरी पीड़ा की मार झेल रही है। पुरुष की सत्ता, अंधविश्वासों और रूढ़ियों का बोझ पुलिस, बनिया, सरकारी अफसर, सबकी पैशाचिक नजरों से दिन रात छलनी होती आदिवासी स्त्री की चीख उनकी कविताओं में दिखलाई पड़ती है। जसिंता केरकेट्टा अपनी कविताओं में स्त्री के शोषण, पीड़ा और अत्याचार की अंतहीन कहानी कहती है–

''तुम सकपकाती हो, डर जाती हो
तुम्हें समझना होगा हर छुअन को
इंसान नहीं उसकी नियति को।''[9]

आदिवासी कविताओं में जहां स्त्री पर किए जा रहे अत्याचार और शोषण का जिक्र है, वहीं दूसरी ओर उसकी पीड़ा और व्यथा का अंधेरा एवं क्षोभ है और इस अंधेरे को भेदने के संकल्प से जुड़ा जोश और जुनून भी है–

''सुनो जमुनी अपने अंतर्मन की पुकार
कि अपने दर्द के ताप से
तुम बना लो एक मजबूत हथियार।''[10]

आधुनिक युग में जहां बाजारवाद एवं उपभोक्तावाद का वर्चस्व पूरी दुनिया पर हावी है, वहां बाहरी हस्तक्षेप ने इन आदिवासियों की चेतना को भी बदला है जिससे इनकी

परंपरागत जीवनशैली में बदलाव आया है। विकास के नाम पर औद्योगिक कारखाने स्थापित होने से आदिवासी समाज बेहद परेशान है। उद्योगीकरण आने से आदिवासी समाज तेजी से विस्थापित हो रहे हैं। अनुज लुगुन की यह चिंता जायज है–

''हमारे जंगल में लोहे के फूल खिले हैं
बॉक्साइट के गुलदस्ते सजे हैं
अभ्रक और कोयला तो
थोक और खुदरा दोनों भाव से
मंडियों में रोज सजाए जाते हैं
यहां बड़े बड़े बांध भी
फूल की तरह खिलते हैं
इन्हें बेचने के लिए
सैनिकों के स्कूल खुले हैं।''[11]

आदिवासी समाज अपने स्वच्छंद परिवेश और स्थानीयता के प्रति सम्मानित दृष्टि के लिए जाने जाते रहे हैं। उनके आजाद परिवेश में मुख्यधारा के समाज में जैसे-जैसे दखलअंदाजी की वैसे-वैसे उनका अस्तित्व संकट के कगार पर पहुंच गया। आदिवासी समाज प्रकृति को मानव जीवन से भी नहीं बल्कि जीवन के साहचर्य के साथ विकसित होता हुआ देखते हैं। दैनिक कार्य व्यापार के साथ ही प्रकृति इनके जीवन में विभिन्न रूपों में आती है, लेकिन जीवन के जुड़ाव भी साथ लाती है। इस प्रकार हिंदी कविता आदिवासी समाज के विभिन्न पहलुओं, दुखों, संवेदनाओं और तनावों को अभिव्यक्त करने में सक्षम रही है। आदिवासियों की स्थिति सबसे विचित्र है, क्योंकि शिक्षा और आधुनिक सभ्यता से उनकी पीढ़ी आज भी कोसों दूर है। इसी वजह से मुख्यधारा का समाज उनके साथ लगातार छल कर रहा है। वस्तुतः सभ्य लोगों की ऐश्वर्य पूर्ण जिंदगी उनके श्रम की बदौलत ही अस्तित्व में है। इन्हीं आदिवासी समाज की विडंबना का रेखांकन समकालीन हिंदी कविता का सरोकार रहा है। समकालीन आदिवासी कविताओं में अपनी सभ्यता, संस्कृति और परिवेश को बर्बाद होते देखने को अभिशप्त आदिवासी समाज की चीख है और अपनों के द्वारा बार-बार छले जाने वाले समाज की पीड़ा है। इनकी कविता में एक दर्द है जिससे आदिवासी समाज इक्कीसवीं सदी में भी जूझ रहा है।

संदर्भ-सूची

1. विजय कुमार, संपादकीय, सदी के अंत की कविता, उदभावना (कवितांक), पृ. 47-8
2. नामवर सिंह, पुनर्नवा, आलोचना, (अप्रैल-जून 2002)
3. जगंल पहाड़ के पाठ, महादेव, टोप्पो, अनुज्ञा बुक्स, पृ. 14.
4. वही, पृ. 62-3
5. वही, पृ. 90
6. वही, पृ. 93
7. कलम को तीर होने दो, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ. 66
8. वही, पृ. 58
9. वही, पृ. 194
10. वही, पृ. 195
11. वही, पृ. 77

डॉ. बन्ना राम मीना
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
पीजीडीएवी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मोबाईल-9910272879

अजन्ता की गुफाओं का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक बुद्धमय पक्ष

—आनंद शत्रुघ्न प्रताप

जब विश्व में कोई भी रॉक-कट आर्किटेक्चर और मूर्तिकला के बारे में सोचता है, तो भारत के बारे में सोचता है। केवल भारत में ही चट्टानों को काट कर बनाए गए बौद्ध स्तूप, मंदिर और मठवासी आवासों की एक सतत कलात्मक परंपरा है, जो अबाधित चट्टान से स्थापत्य रूपों का पुर्ननिर्माण करती है। अन्य स्थानों में, विशेष रूप से चीन, ईरान, जॉर्डन और मिस्र में चट्टानों को काट कर बनाए गए मकबरे और मूर्तिशिल्प मिलते हैं। भारत में पाए गए उत्खननों की तुलना में उनमें आंतरिक वास्तुकला और मूर्तिकला की विस्तार की कमी है। उदाहरण के लिए, मध्य एशिया के तुनहुआंग में और चीन के युंकंग और लुंगमेन में, ईरान के नाक-ए-रुस्तम में या जॉर्डन के पेट्रा में प्राचीन नबातियन व्यापार केंद्र में और यहाँ तक कि अफगानिस्तान के बामियान में और अन्य जगहों पर बाहरी नक्काशी और आंतरिक मूर्तिकला के साथ कटी हुई चट्टानें मिलती हैं। लेकिन इनमें से किसी भी स्थल पर वास्तुशिल्प रूपों और आलंकारिक विस्तार की विस्तृत और जटिल सरणी नहीं है। प्रारंभिक भारतीय ऐतिहासिक स्थलों के बाद की अधिकांश भारतीय साइटें स्पष्ट रूप से भारतीय कलात्मक परंपरा से प्राप्त होते हैं, जबकि चीनी स्थल, विशेष रूप से, भारत के रॉक-कट स्मारकों से प्रभावित थे। अजंता के प्राचीन शहर के पास एक सुदूर खड्ढ में वाकाटक, सातवाहन, चालुक्य और कुषाण शासकों द्वारा बनाई गई उनत्तीस बौद्ध गुफाएं एक बौद्ध भक्ति परिसर बनाती हैं जो दुनिया की सबसे चौंकाने वाली उपलब्धियों में से एक है जिसे भारत के स्वर्ण युग के चरमोत्कर्ष समय गुप्तवंश में बनाया गया है।

अजन्ता का गौरवशाली इतिहास लाखों साल पहले शुरू हुआ था जब सैकड़ों वर्ग मील के आस-पास के विभिन्न पहाड़ी ढलानों से सालाना इकट्ठा होने वाले मानसून के पानी ने धीरे-धीरे विराट होने की प्रक्रिया शुरू की। जिस गहरी खाई में गुफाएं स्थित हैं, उसे चरण-दर-चरण, प्रकट करने की क्रमिक प्रक्रिया शुरू हुई। दक्कन के पठार का निर्माण करने वाले बेसाल्ट की परतों में पानी थोड़ा-थोड़ा करके खुरेदने लगा और इसके परिणाम स्वरूप वक्राकार पहाड़ की रचना निर्मित हुई। इस प्रक्रिया को पूरा होने में अनंत काल लगे होंगे। अजंता की पहली गुफा लगभग पहली शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्ध में शुरू हुई थी और इसमें प्रभावशाली चैत्य हॉल, गुफा और साधारण संबद्ध विहार शामिल थे। हालांकि, इसी अवधि में पूरे पश्चिमी भारत में उनके समकक्ष गुफाओं की निर्मिती का विकास चल रहा था लेकिन महाराष्ट्र के सुविधाजनक पहाड़ों की

उपलब्धता और दूसरी ओर एक ऊर्जावान बौद्ध धम्म की वैचारिक उपलब्धता से अजंता का विकास संभव हुआ। महाराष्ट्र में लगभग 1200 से अधिक गुफाएं हैं जिनमें से 900 से अधिक गुफाएं बौद्ध धम्म से संबधित हैं। ये सभी गुफाएं प्राचीन व्यापारिक मार्गों और केंद्रों के आसपास ही खोदी गई थीं। आज के समय गुफाएं जलगांव में निकटतम रेलवे स्टेशन से लगभग 62 किमी दूर सतपुड़ा की पहाड़ियों पर अर्धचंद्राकार घाटी में स्थित हैं जहाँ पहाड़ी के एक कोने से सात खंडों में गिरते हुए मनोरम झरने से ऊद्गमीत बाघोरा नदी घुमाव लेते हुए बहती है। इन गुफाओं का उपयोग बौद्ध भिक्षुओं द्वारा आवास के रूप मे किया जाता था। अजन्ता की गुफाओं के 150 किलोमीटर के परिधि में अनेक गुफाओं का निर्माण किया गया था जिनमें बानोटी गुफा, औरंगाबाद गुफा, एलोरा गुफा, पीतल खोर गुफा ई, गुफाएं है। इन गुफाओं से प्राप्त होने वाले अभिलेखों एवं शैलीगत विशेषताओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कला इतिहासकारों ने इन सभी गुफाओं के निर्माण काल को निर्धारित करने का प्रयास किया।

इन गुफाओं की खोज भारतीय कला के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में जो लगभग 1000 वर्षों तक कला जगत की अविस्मृती का शिकार रही। ये गुफायें सन् 1819 में मद्रास की एक अंग्रेज सेना की टुकड़ी के अधिकारी जॉन स्मिथ द्वारा प्रकाश में लाई गई। तब से आज तक अजंता की गुफाओं की खुदाई और अध्ययन किया जा रहा है। अजन्ता की गुफाओं की निर्मिती का कार्य बौद्ध धम्म के दो विभिन्न वैचारिक पड़ावों द्वारा हुआ जिसमें एक ई. स. पहली शती के उत्तरार्ध से दूसरी शती के पूर्वार्ध तक और 5 वीं शती से सातवीं शताब्दी तक है। दूसरी शताब्दी से 5 वीं शताब्दी तक किसी अज्ञात कारण वश गुफा निर्माण कार्य बंद रहा। इन गुफाओं को शुंग, सातवाहन, वाकाटक, चालुक्य और कुषाण कालों के अंतर्गत निर्मित किया गया। ये गुफाएं बौद्ध धम्म के महायान पंथ और हीनयान पंथ ऐसे दो विभिन्न पड़ाव में बनाई गई। इसमें धार्मिक दृष्टि से गुफा संख्या 8, 9, 10, 12 एवं 13 को ई. स. पूर्व पहली शताब्दी से दूसरी शताब्दी तक उत्खनित किया गया। शेष सभी गुफाएं महायान पंथ के समय काल में बनी। गुफा संख्या 3, 4, 23, 24, 27 और 28 नं की गुफाएं आज भी अपूर्ण हैं। अभिलेखों, चित्रों एवं मूर्तियों की बनावट के आधार पर अनुमानतः गुफा संख्या 6, 11, 15, 18, 20 पाँचवी सदी एवं 16, 17, 19, 21, 22, 24, 25 का निर्माण छठी सदी तक हुआ। 16 वीं गुफा को वाकाटक नरेश हरिषेण के सचिव वराहदेव ने अपने माता-पिता के पुण्य के लिए खुदवाया। यह 17 वीं गुफा के बरामदे मे उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है। अजन्ता गुफाओं के निर्माण का पहला चरण सातवाहन काल (ई. स. पूर्व 110 से 230 ईस्वी) मे प्रारंभ हुआ। इस दौरान अजन्ता में 6 गुफाओं, गुफा नं. 9, 10, 8, 12, 13 एवं 15 ए का निर्माण हुआ। प्रो. वाल्टर स्पिंक के अनुसार अजन्ता की गुफा नं. 10 सबसे प्राचीन है जिसका निर्माण दूसरी शताब्दी ई. सा. पूर्व में हुआ। इसके पश्चात अजन्ता में अगले लगभग दो शताब्दियों तक निर्माण कार्य स्थगित रहा। प्रो. ए. पी. जमखेड़कर के अनुसार यह स्थगन लगभग 150 वर्षों तक रहा और प्रो. वाल्टर स्पिंक के अनुसार यह स्थगन 300 वर्षों का माना जाता है।

अजन्ता की गुफाओं में बौद्ध विचारों की झलक पूरे स्थापत्य पर दिखाई पड़ती है। अजन्ता में निर्मित विहारों में बरामदा, सभा मंडप, गर्भगृह, अंतराल, कोठरिया, सोने एवं बैठने के लिए आसन, अलंकृत खिड़कियाँ, अलंकृत प्रवेश द्वार और स्तंभों का बहुत ही सुंदर समन्वय दिखाई पड़ता है। गुफानिर्मिती के पहले चरण में निर्मित चैत्य गृह साधारण प्रकार के हैं तथा इनमें स्तूपों की अलंकृत रचना नहीं है, जबकि दूसरे चरण में निर्मित चैत्यगृह (19 एवं 26) के स्तूप अलंकरण के साथ-साथ बुद्ध की प्रतिमा रेखाटी और शिल्पबद्ध की गई है। पहले चरण में निर्मित विहार गुफाओं में बरामदा, स्तम्भ और गर्भगृह का निर्माण नहीं किया गया था। इसके अतिरिक्त इन विहार गुफाओं में निर्मित कोठरियों में तकियों के साथ शयनयान का निर्माण दिखाई पढ़ता है, जबकि दूसरे चरण में निर्मित गुफाओं की कोठरियों में शयनयान का आभाव है। संभवतः इस चरण तक बौद्ध भिक्षु सोने के लिए चारपाई जैसे अन्य साधनों का प्रयोग करने लगे थे जो बौद्ध धर्म की धार्मिक अवधारणा में परिवर्तन की ओर संकेत माना जाता है ।

अजन्ता निर्मिती के पहले चरण में निर्मित गुफाओं में किसी भी मूर्तिशिल्प का निर्माण नहीं किया गया था। हालांकि, इन गुफाओं की समकालीन पितलखोरा, भाजा, कोंडने, नासिक, बेडसा, कार्ले एव कन्हेरी आदि गुफाओं में मूर्तियों के निर्माण का प्रमाण मिलता है। दूसरे चरण में निर्मित गुफाओं में बड़ी संख्या में मूर्तिशिल्प की रचनाएं दिखाई देती हैं जो मुख्यतः गौतम बुद्ध, बुद्ध जीवन प्रसंग, बोधिसत्व, नागराज, यक्ष-यक्षिणी एवं पशु-पक्षी इन विषयों पर आधारित है। अजन्ता के शिल्पकला में स्थानीय शैली के साथ-साथ सारनाथ की शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

बौद्ध धम्म का उद्भव धार्मिक कर्मकांडों एवं अतार्किक

विश्वासों के विरोध में हुआ था। गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात बौद्ध संघ के भिक्षुओं के आचरण संबंधी नियमों को ले कर आपसी मतभेद हुए। इन मतभेदों के कारण संघ भेद हुआ जिससे अनेक बौद्ध संप्रदायों और उप संप्रदायों का उदय हुआ। इन्हीं संप्रदायों में से एक सर्वास्तिवादी संप्रदाय था जिसने गौतम बुद्ध को ईश्वर मान कर उनकी पूजा अर्चना प्रारंभ की। जब गौतम बुद्ध को ईश्वर के रूप में पूजने की परंपरा प्रारंभ हुई तब उनकी प्रतिमा की आवश्यकता महसूस हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु गौतम बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण कुषाण शासक कनिष्क के शासन काल में प्रारंभ हुआ। प्रारंभिक बौद्ध मूर्ति निर्माण का केंद कुषाण शासक क्षेत्र में पड़ने वाला गांधार एवं मथुरा क्षेत्र रहा जिसका समय के साथ सारनाथ, अमरावती और नागार्जुनकोंडा आदि क्षेत्रों में भी विस्तार हुआ। बौद्ध धर्म में गौतम बुद्ध की मानव रूप में प्रतिमा बनने के पूर्व तक उनको प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता था। उदाहरण के तौर पर, भरहुत और सांची से प्राप्त होने वाली कलाकृतियों में देखा जा सकता है। यहाँ पर गौतम बुद्ध को प्रतीक रूप में बताया गया है जैसे बोधिवृक्ष, चरणपादुका, स्तूप आदि। इस समय स्तूप बौद्ध भिक्षुओं और उपासकों के आस्था का प्रमुख केंद्र हुआ करता था क्योंकि बौद्ध परंपरा में स्तूप को गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण का प्रतीक माना गया है। अजंता में निर्मित स्तूप को आज भी देखा जा सकता है। किन्तु दूसरे चरण में निर्मित गुफाओं में गौतम बुद्ध और उनके जीवन से संबंधित अनेक शिल्पों का निर्माण हुआ। अजन्ता में गौतम बुद्ध और उनके जीवन के साथ-साथ बोधिसत्व, यक्ष-यक्षिणी, नाग आदि जैसे विषयों पर आधारित शिल्पों का निर्माण हुआ। अजन्ता में निर्मित सभी शिल्पों का बौद्ध धम्म में अपना विशिष्ट महत्व है।

अजन्ता में निर्मित दूसरे चरण की गुफाओं में गौतम बुद्ध को मानव रूप में प्रदर्शित किया गया है जो धम्मचक्र प्रवर्तन, अभय एव वरद मुद्रा आदि में है। विहारों में परिवर्तित रूप जिसमें गर्भगृह भी बने हुए हैं और इन गर्भगृह में गौतम बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण उनके चमर धारी सेवकों के साथ किया गया है। ये चामर धारी सेवक संभवतः बोधिसत्व पद्मपाणि और बोधिसत्व वज्रपानी है। शेष अन्य बुद्ध प्रतिमाओं को गर्भगृह की पिछली दीवार में उत्कीर्ण किया गया है। विहारों के गर्भगृह के अतिरिक्त गौतम बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण गुफा की दीवारों पर उत्कीर्ण स्तूप पर भी देखे जा सकते हैं। गुफा संख्या 19 और 26 में निर्मित स्तूप पर गौतम बुद्ध की प्रतिमा बनी हुई है। स्तूप पर गौतम बुद्ध की प्रतिमा के निर्माण को बौद्ध धम्म की दार्शनिक अवधारणा में होने वाले परिवर्तन का संकेत माना जाता है। वैसे, स्तूप पर बुद्ध की प्रतिमा के निर्माण की परंपरा का प्रारंभ गांधार क्षेत्र में हुआ था जो महायान संप्रदाय के प्रचार-प्रसार के साथ अन्य क्षत्रों में लोकप्रिय होता गया। गुफा संख्या 9 और 26 के बाहरी भाग में बुद्ध की प्रतिमाओं का अंकन मिलता है। गुफा 26 के बाहर गौतम बुद्ध की वरद मुद्रा में निर्मित शिल्पों को देखा जा सकता है। इन शिल्पों के अतिरिक्त अजंता में गौतम बुद्ध के अनेक छोटे छोटे शिल्प देखे जा सकते हैं।

अजन्ता में गौतम बुद्ध की प्रतिमा के अतिरिक्त अनेक जीवन प्रसंग पर आधारित शिल्प बने हुए हैं जिनमें महाभिनिष्क्रमण, मार पर विजय, मुचिलिन्द नाग और महापरिनिर्वाण से संबंधित शिल्प प्रमुख हैं। गुफा संख्या 1 के बरामदे के बाहरी भाग में निर्मित स्तंभों के ऊपरी भागों में गौतम बुद्ध के गृहत्याग की पूरी घटना का शिल्पांकन मिलता है। इस शिल्प में महाभिनिष्क्रमन के पूर्व घटी चारों घटनाओं के साथ गृहत्याग के पश्चात वन की ओर प्रस्थान करने, गौतम बुद्ध के छंद को वापस भेजने की घटना को देखा जा सकता हैं। श्रावस्ती चमत्कार बौद्ध धम्म के महाप्रतिहार के नाम से भी जाना जाता है। अजन्ता की गुफा संख्या 7 और 26 से श्रावस्ती चमत्कार की घटना से संबंधित शिल्प प्राप्त होता है। गौतम बुद्ध चमत्कार अथवा भविष्यवाणी करने के पक्षधर नहीं थे, फिर भी बौद्ध साहित्य में उनके जीवन से संबंधित कुछ चमत्कारिक घटनाओं का उल्लेख किया गया है। अजन्ता में भी इस घटनाओं पर शिल्प एवं चित्रों का निर्माण किया गया है। संभवतः इन्हें गौतम बुद्ध को ईश्वर रूप में प्रस्थापित करने के लिए किया गया हो। गुफा संख्या 7 में श्रावस्ती चमत्कार का शिल्प प्राप्त होता है उसमें एक कमल पुष्प के दंड को नंद और उपनंद नामक नाग ने पकड़ा हुआ है। गौतम बुद्ध की प्रतिमा के दोनों ओर दो अन्य बुद्ध प्रतिमा का शिल्प बनाया गया है। इन शिल्पों के अंदर गौतम बुद्ध के अनुयायी हाथ जोड़ के बैठे हुए हैं, जबकि ऊपर की आठ पंक्तियों में गौतम बुद्ध को अनेक मुद्राओं में अंकित किया गया है।

अजन्ता की गुफा संख्या 26 में मार विजय का शिल्प बना हुआ है। बौद्ध धम्म में मार कोई व्यक्ति नहीं बल्कि साधारण व्यक्ति के आपसी विचारों का द्वंद्व है। संसारिकता और भोग की ओर प्रेरित करने वाले विचारों को बौद्ध धम्म में मार कहा गया है। इस घटना को अजन्ता के कलाकारों ने बहुत ही सुंदर ढंग से आरेखित किया है। इस कलाकृति

में मार और उसकी सेना को मानव रूप में अंकित किया गया है जो विभिन्न प्रकार से गौतम बुद्ध की साधना को भंग करने का असफल प्रयत्न कर रहे हैं। मार के इस प्रयत्न में मार की बेटियाँ भी उसका साथ देने का प्रयास कर रही हैं, किन्तु गौतम बुद्ध भूमि स्पर्श मुद्रा धारण कर ध्यानस्थ अवस्था में बैठे हैं। अजंता के शिल्पों में इस शिल्प का विशेष रूप से महत्व है। गुफा संख्या 6 के गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर मुचलिन्द नाग की कलाकृति है। बौद्ध परंपरा के अनुसार गौतम बुद्ध जब बोधगया में संबोधि के पश्चात ध्यानस्थ बैठे हुए थे तब उनको धूप, आंधी और बारिश से नाग ने अपने नागफनों से रक्षा की थी। यह नाग बौद्ध धम्म में मुचलिन्द नाम से प्रसिद्ध है।

गुफा संख्या 26 में बुद्ध के जीवन का महापरिनिर्वाण प्रसंग शिल्पबद्ध किया गया है। यह शिल्प लगभग 23 फुट लंबा एवं आकर्षक है। यह शिल्प दीघनिकाय के महापरिनिर्वाण सुत्त में वर्णित उस भावनात्मक वातावरण का प्रदर्शन करता है जो तथागत बुद्ध के महापरिनिर्वाण के समय था। इस शिल्प में गौतम बुद्ध के शिष्य एव भिक्षु नीचे उदास बैठे हैं और शिल्प के ऊपरी भाग में आरेखित देव समूह प्रसन्नता के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार अजन्ता की गुफाओं में बोधिसत्व शिल्पों की रचनाएं दिखाई पड़ती हैं। उदाहरणार्थ गुफा संख्या 4 के प्रवेश द्वार की दाईं ओर गुफा संख्या 26 के बाहर बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का शिल्प आरेखित किया गया है। गुफा संख्या 19 के मुख्य प्रवेशद्वार के बायें और बोधिसत्व दीपांकर, गुफा संख्या 4 के गर्भगृह मे बोधिसत्व वज्रपाणी और बोधिसत्व पद्मपाणी का शिल्प बना हुआ है। यक्ष, नाग, किन्नर, गंधर्व, विद्याधर, शलभंजिका, जल देवीया (गंगा एवं यमुना) एवं अन्य देव शिल्प शिल्पित किए गए हैं। इन शिल्पों में नागों से संबधित शिल्पों की संख्या अधिक मात्रा में है।

अजन्ता अपने गुफा-चित्रों के लिए अधिक मात्रा में प्रसिद्ध है। इन गुफा चित्रों का निर्माण सातवाहन काल, वाकाटक काल और वाकाटक काल के पश्चात हुआ था जिनमें अधिकांश गुफा चित्रों का निर्माण वाकाटक काल में हुआ। इन गुफा चित्रों का मुख्य विषय बुद्ध जीवन और जातक कथायें हैं। जातक कथायें बुद्ध के पूर्व जीवन संबंधी कहानियां हैं जिसमें गौतम बुद्ध को बोधिसत्व के रूप में बताया गया है। इन जातक कथाओं का मुख्य उद्देश्य बुद्धत्व की इच्छा रखने वाले बौद्ध अनुयायी या सर्वसामान्य व्यक्तित्व को बुद्धत्व प्राप्ति के मार्गपथ की ओर ले जाना, यह एक कारण था कि जातक कथाओं को अजन्ता की दीवारों पर कला रूप में प्रस्थापित करना। अजंता में जातक कथा के अतिरिक्त दो अवदान कथा का चित्रांकन किया गया है। अवदान कथा को जातक कथाओं का परिष्कृत संस्करण माना जाता है। अवदान कथाएं संस्कृत भाषा में लिखी गई हैं। इन अवदान कथाओं को सिंहलावदान और पूर्णावदान कहा गया है। अजन्ता में चित्रित जातक कथाओं और अवदान कथाओं की विषयवस्तु को देख कर कहा जा सकता है कि वे कला रूप में गौतम बुद्ध के उपदेशों एव शिक्षाओं के मूल को भिक्षुओं एवं उपासकों तक पहुंचाना चाहते थे।

भारतीय कला के इस बुद्धमय गुफाओं के कला कृतियों का निर्माण मुख्य रूप से भिक्षुओं और तीर्थ यात्रियों दोनों के लाभ के लिए पूजा और ध्यान के स्थानों के रूप में किया जाता था। यह निश्चित रूप से उनकी सांस्कृतिक विरासत का एक बड़ा हिस्सा है कि वे न केवल कला के महान कार्य थे, बल्कि नैतिक और अध्यात्मिक सत्य के भंडार भी थे, जो उनके निर्माण के लगभग 2,000 साल बाद भी आस्तिक और गैर-आस्तिकों के लिए समान रूप से सत्य की ओर परावर्तित करते हैं। ''भारत में अजन्ता का कलाकार लगभग एक बौद्ध भिक्षु की तरह था जो अपनी बुद्धमय कला में विलीन हो गया था। . . . उसने रचना की। उनकी उत्कृष्ट कृतियाँ, व्यक्तिगत सम्मान और प्रसिद्धि की इच्छा के साथ एक प्रशंसात्मक दुनिया पर अपने व्यक्तित्व को थोपने की भावना में नहीं, बल्कि खुद को मिटा दिया, लगभग सर्वोच्च संतुष्टि प्राप्त करते हुए कि उनकी कला एक सत्य के रूप में आनेवाली पीढ़ियों को बुद्धमय विचारों और बुद्धमय पक्ष के मार्ग की ओर इशारा करेगी।

संदर्भ

1. स्पिंक, वाल्टर एम, 2005, अजंता : हिस्ट्री एण्ड डेवलपमेंट, (अध्याय 1, पृ. 7. 8. 9)
2. पिया ब्रानाकाकिओ, 2011, द बुद्धिष्ट केव एट औरंगाबादः ट्रैन्स्फर्मेशन इन आर्ट एण्ड रिलीजन, (अध्याय 2, पृ. 25-52)
३. स्पिंक, वाल्टर एम, 2009, अजंता : हिस्ट्री एण्ड डेवलपमेंटः पेंटिंग, स्कल्पचर, आर्किटेक्चर (वॉ 4, पृ. 460)
4. राजेश सिंग, 2012, अन इन्ट्रोडक्शन टू अजन्ता केव विथ इग्जैम्पल ऑफ सिक्स केव, (अध्याय 1)
5. स्पिंक, वाल्टर एम, 2007, अजंता : हिस्ट्री एण्ड डेवलपमेंटः केव बाय केव (वॉ 18/5, अध्याय 1, पृ. 5-6)

आनंद शत्रुघ्न प्रताप
सहायक आचार्य, कला और डिजाइन विभाग,
विश्वकर्मा विश्वविद्यालय, पुणे
मो. 8208053076

समीक्षात्मक लेख

सत्य परेशान हो सकता है परास्त नहीं

–डा. दीनानाथ

सुभाष चन्द्र कुशवाहा द्वारा लिखित पुस्तक 'कबीर हैं कि मरते नहीं' अनामिका प्रकाशन, प्रयागराज से सन 2020 में छपी है। डा. अंशुमान कुशवाहा से इस पुस्तक की चर्चा सुनने के बाद मैंने इसे पढ़ा। 128 पृष्ठ की यह पुस्तक डा. धर्मवीर के कबीर संबंधी आलोचना कर्म को आगे बढ़ाने वाली है और कबीर के शोधार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। ऐसा कह कर मैंने उनसे इसकी प्रशंसा भी की। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अपने दो सहयोगियों–डा. जनार्दन और डा. गजूला राजू के प्रयास से 02 अक्टूबर, 2021 को 'समानांतर विचार मंच' द्वारा आयोजित आनलाइन संगोष्ठी में इस पुस्तक पर होने वाली चर्चा में मुझे हिस्सा लेने का अवसर मिला। इस सफल संगोष्ठी के साक्षी प्रोफेसर दिनेश कुशवाहा और डा. निरंजन यादव भी थे। पुस्तक की एक बड़ी खूबी मुझे यह दिखी कि लेखक ने कुछ विशेष प्राप्त करने और उसे भारतीय समाज को देने के लिए विदेशी पुस्तकालयों की भी खाक छानी है। कबीर संबंधी जिस आलोचना दृष्टि की आधारशिला सन 1997 ईसवी में 'कबीर के आलोचक' नाम की पुस्तक से रखी गई, जिससे सम्पूर्ण हिंदी जगत लाभान्वित हुआ, कमोवेश वही दृष्टि सुभाष चन्द्र कुशवाहा की इस महत्वपूर्ण पुस्तक में भी दिखाई देती है। कबीर का जन्म, उनकी जाति, उनकी उम्र, उनके गुरु, उनके आलोचक, क्षेपक, यूटोपिया, दर्शन आदि आयामों पर विद्वान लेखक ने बड़ी बेवाकी से शोधपरक संदर्भों को प्रस्तुत किया है।

पुस्तक के आरंभ में अपनी मंशा जाहिर करते हुए लेखक ने लिखा है–''कबीर 1812 में ही ब्रिटेन में प्रकाशित हो चुके थे। 1841 से लगातार ब्रिटेन के अखबारों में छप रहे थे। उनके पदों पर काम हो रहा था मगर हिंदी वाले तो जागे हैं 1928 में, जब पहली बार श्यामसुंदरदास ने कबीर ग्रंथावली का संपादन किया। उसके बाद भी कबीर पर मुकम्मल किताब आने में 1940 तक इंतजार करना पड़ा है जब हजारी प्रसाद द्विवेदी की किताब आई है। पहले आलोचक ने तो कबीर को कवि मानने से इनकार कर दिया था, फिर भी कबीर पर अनगिनत काम हुए, अभी और होंगे। कबीर का वितान इतना बड़ा है कि मारने से वह मरने वाले नहीं हैं'' (कबीर हैं कि मरते नहीं, पृष्ठ 07)। इस पुस्तक के आने से 23 वर्ष पहले शीर्षक की पृष्ठभूमि लगभग तैयार सी मिलती है, जिसका अंश इस प्रकार है–''इन्होंने दलितों के चिंतन को फ्यूज करने का यह खेल पिछले तीन हजार वर्षों से शुरू कर रखा है जो कबीर के साथ विद्वत समाज द्वारा आज हुआ है, वह एक

परंपरा है और दलितों के अन्य संतों के साथ भी यही हुआ है। देखा जा सकता है कि अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', डा. श्याम सुंदर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी और डा. रामनिवास चंडक सरीखे हिन्दू लेखकों ने कबीर के दर्शन पर चारो ओर से धावा बोल रखा है। ..... इन छह हिन्दू लेखकों ने कबीर को छह तरह से देखा है पर वह कबीर को छह तरह से उलट-पुलट कर देखना भर है। परिणाम यह निकलता है कि इन्होंने कबीर को किसी भी दृष्टि से देखने पर जीने योग्य और सम्मान योग्य न छोड़ने का प्रयत्न किया है। कबीर को पलट कर जो जिधर से देखता है उधर से मांस नोच लेता है। इन्होंने कबीर को छह पालों की गेंद बना लिया है-एक इधर से ठोकर मारता है दूसरा उधर से। इन छहों की समीक्षाओं को एक साथ मिलाकर पढ़ा जाए तो कबीर इतिहास में रक्त और मांस विहीन कंकाल मात्र बचते हैं।''(कबीर के आलोचक, डा. धर्मवीर, पृ. 86-7)

पुस्तक का शीर्षक संकेत करता है कि कबीर के जीनियस को पुराने आलोचकों ने मारने का बार-बार प्रयास किया है जिसमें सुभाष चन्द्र कुशवाहा ने प्रक्षिप्त, किंवदंती, जोगीरा और कबीरा को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है–''हमारे यहाँ पाखंडों के विरुद्ध जितने भी सामाजिक आंदोलन हुए, सभी को बदनाम करने का प्रयास किया गया है। सबसे पहले वे चार्वाक से आहत हुए। फिर बुद्ध से और उनके अनुयाइयों को इस धरती से खदेड़ दिया। इतना ही नहीं बुद्ध को अवतारवाद में उलझाकर अपने पाले में समाहित कर लिया। सिद्धों को तो ऐसे डुबोया कि सदियों बाद राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत से बौद्ध साहित्य के सहारे उनकी खोज की। नाथपंथी योगियों को, जोगीरा के सहारे तो कबीर को, कबीरा से बदनाम करने का प्रयास किया गया। 'गोरखधंधा' मुहावरा उसी कुचक्र के निशान हैं'' (कबीर हैं कि मरते नहीं, पृष्ठ 12)। प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल की पुस्तक 'अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय' तथा डा. धर्मवीर के कबीर विषयक शोध जिसमे 'कबीर : खसम खुशी क्यों होय?' में प्रक्षिप्त और किंवदंतियों को लेकर कबीर को मारने और बचाने का ही महासंग्राम चल रहा है। ऐसा लगता है जैसे यह छठी शताब्दी ईसा पूर्व का महासंग्राम है जिसमे एक तरफ मक्खलि गोसाल के रूप में डा. धर्मवीर खड़े हैं तो दूसरी तरफ बुद्ध, महावीर और वैदिक आचार्यों की जगह सारे हिन्दी के आलोचक ।

सुभाष चन्द्र कुशवाहा ने बताया है कि एक तो सिक्खों ने गुरुग्रंथ साहिब में शामिल करके कबीर को बचाया तो दूसरी तरफ ईसाइयों ने धर्म-प्रचार के लालच में 18वीं सदी में कबीर को ढूंढ़ कर बचाया। यानि, कबीर साहेब एक बड़े दर्जे के धर्मवेत्ता थे जिनकी जरूरत ईसाई धर्मानुयाई और सिख धर्मानुयाई दोनों को थी। इसीलिए कबीर और उनके धर्म को ढूंढने और अपने में शामिल करने की लालसा इन दोनों धर्मों में दिखाई देती है। पुस्तक में दिए गए तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि अंग्रेजी शोध के दबाव में ही हिंदी वाले कबीर पर लिखने के लिए मजबूर हुए। लेखक की इस बात की पुष्टि डा. धर्मवीर के चिंतन से भी होती है–''अंग्रेज विद्वानों ने कबीर के अध्ययन की जो धार्मिक और गंभीर खोज करनी चाही थी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा उसे केवल मनोरंजन की चीज मान कर उड़ा देना चाहती थी'' (कबीर के आलोचक, पृष्ठ 25)। कबीर द्वारा किसी स्वतंत्र धर्म की स्थापना के संदर्भ को समझने के लिए डा. धर्मवीर की पुस्तक 'कबीर के कुछ और आलोचक' से संदर्भ देखे जा सकते हैं जिसमें अध्याय 10 से 17 तक उन्होंने उन आठ विदेशी विद्वानों को उद्धृत किया है जो कबीर के स्वतंत्र धर्म और दर्शन को मान्यता देते हुए दिखाई देते हैं।

रेवरेंड एफ. ई. की का मानना है– ''कबीर अपने पीछे खुद एक लंबी तैयारी के धार्मिक आंदोलन की पैदायश थे। फिर भी उन्होंने उस आंदोलन को एक विशेष आवेग और तीव्रता दी जिन्हें अखत्यार करने के लिए वह आंदोलन पहले से तैयार था'' (कबीर के कुछ और आलोचक, पृष्ठ 111)। एक विदेशी विद्वान ने अपने अध्ययन में यह पाया कि कबीरदास की अपनी कोई समृद्ध धार्मिक परंपरा थी जिसने कबीर को 'कबीर' बनाया। कबीरदास ने अपने समय में अपने तरीके से उसी परंपरा को तीव्र गति प्रदान करने का काम किया है। यह अलग बात है कि वे उस परंपरा को वह नाम नहीं दे सके।

शारलोत वोदविले का मानना है–''किसी भी विद्वान ने कबीर के धार्मिक पक्ष का निष्पक्ष हो कर मूल्यांकन नहीं किया'' (वही, पृष्ठ 121)।....." हम यह सोच सकते हैं कि कबीर के पैदा होने की तैयारी का काम उत्तर भारत और दक्षिण में 12 वीं या 13 वीं सदियों के आस-पास हो रहा था'' (वही, पृष्ठ 126)। इन्होंने भी कबीर के पूर्व उनकी धार्मिक परंपरा होने का संकेत किया है जिसका तटस्थ मूल्यांकन किया जाना शेष है। विदेशी विद्वानों द्वारा उत्तर भारत ही नहीं बल्कि दक्षिण भारत में भी कबीर और उनके धर्म के होने के संकेत किए जा रहे हैं।

लिंडा हेस सवाल करती हैं–''क्या वे हिन्दू थे? क्या वे मुसलमान थे? क्या उनके पूर्वज बौद्ध थे? क्या उन्होंने योग की साधना की थी? क्या उनके कोई गुरु थे? वे कौन

थे? कबीर के धार्मिक जीवन के इन मूल तथ्यों को निश्चित न करने में उनकी परंपरा का हिस्सा मिलता है'' (वही, पृष्ठ 135)। लिंडा हेस जो स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी में धार्मिक मामलों की अध्यापिका थीं, के प्रश्नों से पता चलता है कि हिन्दू, मुसलमान और बौद्ध से अलग कबीर की धार्मिक पहचान है। चूंकि, कबीर की परंपरा का ऐतिहासिक साक्ष्य मिटा दिया गया था, दूसरे विदेशी विद्वानों की अपनी सीमाएं होती हैं जिसके कारण वे कबीर की धार्मिक पहचान का नाम नहीं दे सकीं। लिंडा हेस कबीर के समन्वयवाद का भी खंडन करते हुए लिखती हैं–''कुछ आधुनिक व्याख्याकारों ने कबीर को हिन्दू और इस्लाम धर्मों के समन्वयकर्ता के रूप में पेश किया है। लेकिन यह कबीर की सही प्रस्तुति नहीं है। जो परम्पराएं उन्हें अच्छी लगीं उन्हें अपनाने से उन्हें परहेज नहीं था लेकिन उन्होंने अपने समय के दोनों धर्मों से अपनी पृथक पहचान अलग बनाकर रखी'' (वही, पृष्ठ 135)। सच तो यह है कि हिन्दू और इस्लाम में समन्वय की बात वही करेगा जो इन दोनों में से किसी एक का अनुयाई होगा। कबीर तो इन दोनों से न्यारे थे।

गुई सोरमनका मानना है–''कबीर का समाधान गैर-पुरोहितवाद का है क्योंकि वे स्वर्ग-नरक में विश्वास नहीं रखते थे। कबीर के यहाँ न ईसायत की कोई पुनर्जीवित हो उठने की कथा है, न इस्लाम का स्वर्ग है, और न अंतहीन जन्मों और पुनर्जन्मों का भवसागर पार करने का चक्कर है जिसका ब्राह्मण लोग मनुष्यों को भय दिखाते हैं।'' (वही, पृष्ठ 133)। यह वक्तव्य भी कबीर के हिन्दू, इस्लाम और ईसाई होने की संभावना को खारिज करता है जिससे कबीर के किसी नए धर्म की संभावना को मजबूती मिलती है। इसके अलावा कबीर के स्वतंत्र धर्म और दर्शन की स्थापना को हिन्दू और मुस्लिम लेखकों ने भी अपने-अपने तरीके से स्वीकार किया है। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' लिखते हैं–''मेरा विचार यह है कि उन्होंने (कबीर ने) एक नवीन धर्म स्थापन की लालसा से ही ऐसा किया''(उद्धृत, कबीर के आलोचक, डा. धर्मवीर, पृष्ठ 31)। विदेशी विद्वानों की तरह हरिऔध जी ने भी कबीर के नए धर्म की ओर संकेत किया है। रामकुमार वर्मा ने लिखा है–''कबीर ने सफलतापूर्वक दोनों धर्मों की 'अधार्मिकता' पर कुठाराघात किया और एक नए संप्रदाय का सूत्रपात किया जो 'संत मत' के नाम से प्रख्यात हुआ। इस संप्रदाय ने शास्त्रीय जटिलताओं से सुलझा कर धर्म को सरल और जीवनमय बना दिया जिससे साधारण जनता भी उससे अंतःप्रेरणा ले सके'' (उद्धृत, सूत न कपास, डा. धर्मवीर, पृष्ठ 21)। इन्होंने भी कबीर के नए संप्रदाय की बात स्वीकार की है। अली सरदार जाफरी लिखते हैं–''इस तरह कबीर ने एक सांसारिक मार्ग वाले धर्म की ओर मनुष्य का मार्ग मोड़ दिया'' (उद्धृत, सूत न कपास, डा. धर्मवीर, पृष्ठ 27)। चूंकि, जाफरी मुसलमान थे इसलिए वे कबीर को सूफी धर्म का ही मानते हुए लिखते हैं–''कबीरदास एक मुसलमान सूफी थे जो हिन्दू भक्ति की भाषा में बात कर रहे थे'' (वही, पृष्ठ 27)। यानि, कबीर की पहचान एक धार्मिक पुरुष के रूप में इन्होंने भी की है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है–''संप्रदाय प्रतिष्ठा के भी वे (कबीरदास) विरोधी जान पड़ते हैं। परंतु फिर भी विरोधाभास यह है कि उन्हे हजारों की संख्या में लोग संप्रदाय विशेष के प्रवर्तक मानने में ही गौरव अनुभव करते हैं।'' (उद्धृत, कबीर के आलोचक, पृष्ठ 86)।

लेखक सुभाष चन्द्र कुशवाहा ने विदेशी अखबारों के उन पन्नों को खोज कर अपनी मौलिकता सिद्ध की है जिनमें कबीर के स्वतंत्र धर्म और दर्शन को आसानी से पहचाना जा सकता है। मॉर्निंग एडवर्टाइजर (10 मार्च 1865) लिखता है–''बहुत पहले भारत में अभिव्यक्ति की आजादी के द्वारा धार्मिक सुधार करने वाले कबीर दिखाई देते हैं।'' (कबीर हैं कि मरते नहीं, पृष्ठ 59)। द इंग्लिश लेक्स विजिटर एंड केसविक गार्डियन (5 मार्च, 1881) में लिखा मिलता है– ''कबीरपंथी और सतनामियों के अनुसार हिंदुओं के तैंतीस करोड़ देवता, एक साथ मिलकर भी धार्मिक जनता की इच्छाओं को पूरा नहीं कर पाते। ... बिलासपुर और छत्तीसगढ़ कबीरपंथियों का गढ़ था। ज्यादातर चमार जातियों के लोग कबीर की शिक्षाओं से प्रभावित थे जो बुनकर आदिवासी थे। बिलासपुर की तिहाई जनसंख्या कबीरपंथियों की थी।'' (वही, पृष्ठ 64)। इस तरह इस विदेशी अखबार ने कबीरपंथ को एक अलग धर्म के रूप में देखा है जो हिंदुओं से अलग है जिसमें अधिकतर अछूत मानी जाने वाली चमार जाति के लोग इनके आनुयाई थे जो बुनकर भी थे।

लंदन डेली न्यूज (24 मार्च 1883) के अनुसार–''सेंट्रल प्राविन्स में कबीर पंथियों की संख्या 347994 एवं सतनामियों की 398409 है।'' (वही, पृष्ठ 65)। इसी लेख में अखबार ने जंगलों में बहुतायत संख्या में रहने वाले प्रकृति पूजक आदिवासियों का उल्लेख किया है जिन्हें हिन्दू, मुसलमान और क्रिश्चियनों ने अपने में मिलाना शुरू कर लिया था। यानि, कहा जा सकता है कि कबीरपंथियों की जनगणना हिन्दू, मुसलमान और ईसाई की तरह अलग धर्म के रूप में होती थी। द होम वर्ल्ड मेल (16 जून 1884) लिखता

है– उन्हें क्रिश्चियनिटी के बजाय हिंदूइज्म, कबीरपंथी, ब्रह्म समाज, शिया-सुन्नी, पारसी, जैन आदि पर दरबार आयोजित करना ज्यादा बेहतर लगेगा।'' (वही, पृष्ठ 68)। इससे सिद्ध होता है कि तत्कालीन समय में कबीरपंथियों का महत्व किसी भी दूसरे धार्मिक समुदाय से कम नहीं था। इसी पत्र के 28 जनवरी, 1907 के अंक में जी. ए. ग्रियर्सन के वक्तव्य का उल्लेख है जिसमें उन्होने कहा है–''14 वीं और 15 वीं सदी में उत्तर भारत में बड़े पैमाने पर स्थानीय भाषा में एक धार्मिक क्रांति हुई।'' (वही, पृष्ठ 68)। ग्रियर्सन का यह वक्तव्य कबीर की धार्मिक क्रांति की ओर ही संकेत कर रहा है। ग्लासेस्टर जर्नल (18 जनवरी, 1890) ने कबीरपंथियों को समाज सुधारक कहा है जो अंधविश्वास और मूर्तिपूजा के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। (वही, पृष्ठ 67) काउन्ट लियो टोलस्टॉय (14 जुलाई, 1901) ने टाइम्स ऑफ इंडिया के साक्षात्कार में कहा है–'' हिन्दू धर्म की दुरूहता, पाखंड और अंधविश्वास की तुलना में जैन, बौद्ध और कबीरपंथियों के संदेश, मानवता के लिए ज्यादा जरूरी हैं।'' (वही, पृष्ठ 68)। इस वक्तव्य से भी पता चलता है कि हिन्दू धर्म के विरुद्ध जैन और बौद्ध धर्म के समानांतर कबीरपंथ भी स्वतंत्र रूप से चल रहा था। द इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज (12 जून, 1915) लिखता है–''15 वीं सदी के कबीर स्वतंत्र धार्मिक विचारक थे। वह पुरोहितवाद के बड़े दुश्मन थे। बुनकर कबीर सरल और घरेलू जीवन के हिमायती थे।'' (वही, पृष्ठ 69)। इस अखबार ने स्पष्ट रूप से कबीर के स्वतंत्र धर्म को मान्यता दी है जो कि घरबारी दर्शन होने का संकेत देता है। इसके अलावा भी इस पुस्तक में सुभाष चन्द्र कुशवाहा द्वारा दिए गए अन्य उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि कबीर किसी नए धर्म के प्रवर्तक थे। उन्होंने विदेशों में भी कबीरपंथ के संगठन होने के सबूत दिए हैं जिससे कबीरी धर्म के वैश्विक रूप का पता चलता है।

अपनी पुस्तक में कबीर के धर्म संबंधी इतने साक्ष्य प्रस्तुत करने के बावजूद, जब सुभाष चन्द्र कुशवाहा यह निष्कर्ष निकालते हैं–''मजहब मुक्त कबीर का किसी मजहब से क्या काम?'' (वही, पृष्ठ, 45) तो समझ में नहीं आता कि जाने-अनजाने वे कबीर को मारने वालों के पक्ष में खड़े हो रहे हैं या कबीर को बचाने वालों के पक्ष में। दलित ही नहीं कोई भी समाज कभी मजहब मुक्त नहीं रहा है। मध्यकालीन समाज और साहित्य पर दृष्टिपात करें तो पता चलता है कि वह धार्मिक अस्मिताओं का काल है। अकबर के दीन-ए-इलाही धर्म, नानक के सिक्ख धर्म, जायसी के सूफी धर्म, सूर और तुलसी के वर्णधर्म को तो मान्यता दे दी जाती है किन्तु कबीर और रैदास के अवर्णवादी धर्म को स्वतंत्र धर्म मानने में आनाकानी की जाती है। वर्ष 2017 तक डा. धर्मवीर के कबीर संबंधी कुल आठ शोध ग्रंथ- कबीर के आलोचक (1997), कबीर : डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रक्षिप्त चिंतन (2000), कबीर और रामानंद : किंवदंतियाँ (2000), कबीर : बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी (2000), कबीर के कुछ और आलोचक (2002), सूत न कपास (2003), कबीर : खसम खुशी क्यों होय? (2013) और महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल (2017) प्रकाशित हो चुके थे जो मील के पत्थर साबित हुए हैं। इन शोध ग्रंथों ने कबीर को हिंदुओं के चंगुल से निकाल कर दलितों और पिछड़ों के धर्म, संस्कृति और दर्शन की मुकम्मल और स्वतंत्र ऐतिहासिक परंपरा की कड़ी के रूप में प्रतिष्ठा दिलायी है। नाभादास के 'भक्तमाल' (1585) से ले कर लगभग 400 वर्षों तक कबीरदास पर जो आवरण पड़ा हुआ था उसे हटा कर डा. धर्मवीर ने अपने-अपने कबीर की जगह ऐतिहासिक कबीर को सामने ला खड़ा किया है। डा. वीर भारत तलवार अपने लेख 'दलित साहित्य के बढ़ते कदम' में लिखते हैं–''डा. धर्मवीर द्विज वर्चस्व के खिलाफ दलित की विचारधारा और सिद्धांत की लड़ाई लड़ रहे हैं। कबीर को मुद्दा बना कर डा. धर्मवीर ने हिंदी आलोचना की द्विज परंपरा में मौजूद गहरी विसंगतियों और खामियों को उजागर किया है। कबीर को ले कर जो सवाल उन्होंने खड़े किए हैं, उनको नजरअंदाज करके आगे कबीर पर कोई महत्वपूर्ण काम नहीं हो सकता। उन्होंने कबीर के पाठालोचन की अब तक की परंपरा को भी चुनौती दी है और कबीर की दलित स्थिति और विचारों को केंद्र में रखकर कबीर के दोहों और पदों की प्रामाणिकता को जाँचने की एक नई कसौटी सुझाई है। .... हिंदी के चतुर आलोचकों ने डा. धर्मवीर द्वारा उठाए गए सवालों की रोशनी, उनके द्वारा दिए गए सूत्रों का इस्तेमाल करते हुए अपनी 'मौलिक' प्रतिभा का कमाल दिखाना शुरू कर दिया है। डा. धर्मवीर के प्रति किसी आभार प्रदर्शन के बिना ही आभार प्रदर्शन कैसा? भला द्विज आलोचक भी दलित आलोचक से कहीं कुछ लेता है–वह भी दिन के उजाले में'' (उद्धृत, कबीरः खसम खुशी क्यों होय?, पृष्ठ 307)। डा. नामवर सिंह का भी मानना है–कबीर पर आगे बात बिना डा. धर्मवीर के नहीं हो सकती।'' (वही, पृष्ठ 302)। डा. प्रेम शंकर के लेख 'दलित चिंतन को मिटाने की मुहिम' को भी इसी कड़ी में देखना आवश्यक है। वे लिखते हैं–''कबीर के आलोचक समेत उपर्युक्त छह पुस्तकों और लंबी बहस के बाद कबीर पर कोई नया और गंभीर अध्ययन

डा. धर्मवीर को नजरअंदाज करके नहीं किया जा सकता, भले ही उसमे डा. धर्मवीर की काट ही काट हो। अगर उस बहस में शामिल रहने वाला कोई विद्वान अपने कबीर संबंधी अध्ययन में डा. धर्मवीर को नजरअंदाज करता है तो अकादमिक जगत के लिए यह चिंता का बायस होना चाहिए।... पहले जो महाभारत कबीर को लेकर मच चुका है, उसके बाद यह संभव नहीं है कि कबीर पर तीस-बत्तीस साल लगा कर काम करने वाले विद्वान के सामने डा. धर्मवीर के कबीर की तस्वीर न झूलती रहे।'' (वही, पृष्ठ 301)। इतना ही नहीं, 2013 तक के आँकड़े बताते हैं कि डा. धर्मवीर के कबीर संबंधी प्रदेय पर छिड़े महाभारत में हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी, मलयालम में लगभग 200 आलेख, शोधकार्य और पुस्तकें आ चुकी थीं। 2013 से 2020 यानि सुभाष चन्द्र कुशवाहा की पुस्तक आने तक न जाने कितने शोध हुए होंगे। यदि प्रेम शंकर के शब्दों में कहें तो जैसा कि उन्होंने डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल के लिए कहा था, कहा जा सकता है कि सुभाष चन्द्र कुशवाहा के सामने भी डा. धर्मवीर की तस्वीर अवश्य झूलती रही होगी।

'कबीर हैं कि मरते नहीं' पुस्तक में लेखक ने पृष्ठ 20 पर लिखा है–''बिना ज्ञान प्राप्त किए 'कबीर' होना मुश्किल था। अक्षर ज्ञान से वंचित कबीर को ज्ञान, गुरु से ही संभव था। ....घुमक्कड़ी से आत्मसात लोक भाषा या बोली की सहजता, कबीर के अनपढ़ होने या 'मसि कागद छुयौ नहीं, कलम गही नहिं हाथ' के कहने पर इतना भारी पड़ी है कि पीढ़ियाँ गुजरती गईं, कबीर को पढ़ने, समझने में।'' इस वाक्य से क्या समझा जाए? इसे लेखक गोलमोल क्यों कर रहे हैं? क्या इस तरह कबीर को बचाया जा रहा है? इसे स्पष्ट करना चाहिए था। द्विज आलोचकों ने तो कबीर को अनपढ़ घोषित कर उनकी धार को कुंद कर ही दिया था तो क्या सुभाष चन्द्र कुशवाहा ने भी यही किया है? निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो 'मसि कागद छुयौ नहीं, कलम गही नहिं हाथ' का तात्पर्य कबीर के अनपढ़ होने से नहीं बल्कि अपने हाथ से अपना साहित्य न लिखने का बोध हो रहा है। यह बड़े रचनाकारों की विनम्रता है। इसी तरह जब गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं–''कवित्त विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहउँ लिख कागद कोरे'' (बालकाण्ड 8/11) तो उनके अविवेकी होने का भाव बिल्कुल नहीं है बल्कि उनकी विनम्रता झलकती है। अपने हाथ से न लिखने की परंपरा छठी शताब्दी ईसा पूर्व से चली आ रही है। पढ़े-लिखे ज्ञानी पुरुष के बोलते जाने और उनके शिष्यों द्वारा लिखते जाने की परंपरा भारत में बहुत पुरानी है। क्या कारण है कि इस परंपरा में आने वाले महावीर, बुद्ध, गोरखनाथ आदि को छोड़कर हिन्दी आलोचकों ने सिर्फ कबीर को ही अनपढ़ कहा? यह एक गहरी साजिश का हिस्सा है जिसे डा. धर्मवीर ने स्पष्ट करते हुए लिखा है–''कबीर अपने युग के सबसे अधिक शिक्षित व्यक्ति थे। उस युग में उनके बराबर पढ़ा-लिखा और समझदार व्यक्ति मिलना कठिन था। उनका यह पढ़ना-लिखना और ज्ञान-ध्यान इस देश में मुसलमानी प्रभाव के कारण संभव हो सका था। यहाँ ध्यान रहे कि पढ़ने-लिखने का अर्थ वेद के पढ़ने से न लिया जाए। ब्राह्मणों ने चिढ़कर कबीर को अनपढ़ इसलिए कहा है क्योंकि कबीर ने उनके धर्मग्रंथ वेद की निंदा की थी अन्यथा कबीर गैर-संस्कृत भाषा के मामले में सबसे ज्यादा पढे-लिखे व्यक्ति थे।...कबीर के साहित्य को पढ़ने से लगता है कि उन्होंने गहन शिक्षा ग्रहण की थी। उनके अनुभव तर्क-संगत और व्यापक हैं। उधर उनका श्रमिक समाज ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं था। यदि कबीर के श्रमिक समाज को उस समय थोड़ा भी शिक्षा का अधिकार मिला हुआ होता तो बाद में नानक के 'सिख धर्म' से पहले इस देश में कबीर का 'गुरुधर्म' स्थापित हो गया होता।'' (कबीर के आलोचक, पृष्ठ 40-41)। वैसे भी, कबीर के पाठकों के मन में यह प्रश्न बार-बार कौंधता है कि इतना बड़ा दर्शन खड़ा करने वाले कवि को हिंदी आलोचकों द्वारा अनपढ़ कैसे और क्यों कहा जा रहा है? ऐसा इसीलिए कि अनपढ़ का ठप्पा लग जाने से इनकी बात कोई नहीं मानेगा, जोकि कबीर को मारने का एक षडयन्त्र ही है।

सुभाष चन्द्र कुशवाहा ने कबीरदास के तीन तरह के चित्र तीन जगह की म्यूजियम से इकट्ठा किया है जिसमें उन्होंने कारण सहित वास्तविक कबीर और सनातनियों के कबीर की पहचान कराई है जो कि दुर्लभ काम था। विभिन्न ग्रंथावलियों में शब्दों के अंतर की ओर पाठक का ध्यान दिला कर भी लेखक ने प्रक्षिप्त और उसकी विसंगतियों को समझने का एक बड़ा आधार दिया है। ब्रिटिश अखबारों और राजस्थान के कवि रज्जब का उदाहरण (जुलाहा गरभै उत्पन्नो साध कबीरा) देते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है, ''किसी भी ब्रिटिश अखबार में कबीर को पूर्व जन्म के ब्राह्मण कन्या से जन्मा नहीं बताया गया है।...यहाँ विधवा ब्राह्मणी द्वारा फेंका हुआ बताना तथ्यहीन कहा जाएगा। दोनों ही स्थितियों में जन्म से ही कबीर का लालन-पालन जुलाहा परिवार में हुआ था। इसलिए नीमा और नीरू ही उनके माता-पिता कहे जाएंगे।'' (वही, पृष्ठ 45)

रामानंद को कबीर का गुरु मानने से इनकार करते हुए लेखक ने एक अध्याय 'क्या रामानंद स्वामी ही कबीर के गुरु थे?' में 12 संदर्भों के साथ अपनी बात स्पष्ट की

है। इसी से संबंधित डा. धर्मवीर की पुस्तक 'कबीर और रामानंद : किंवदंतियाँ' नामक पुस्तक में कई गंभीर सवाल उठाए गए हैं। कई तथ्य सबूत के तौर पर भी दिए गए हैं जिनसे निष्कर्ष निकलता है कि रामानंद कबीर के गुरु नहीं थे। कबीर के यूटोपिया 'अमरदेसवा' को लेखक ने समाजवाद से जोड़ा है तो गोस्वामी तुलसीदास और गांधी जी के 'रामराज्य' को अधिनायकवादी राजतन्त्र से। इससे दो अलग-अलग संस्कृतियों को समझने का अवसर मिलता है। 9 सितंबर, 1841 के लंदन के 'ब्राडफोर्ड आब्जर्वर' के हवाले से लेखक ने एक आश्चर्यजनक खोज का जिक्र किया है जिसमें बताया गया है कि कबीर कविता के साथ-साथ गद्य में भी रचना करते थे। यद्यपि उनके गद्य का कोई उदाहरण नहीं दिया गया है।

लेखक ने पुस्तक के छठवें अध्याय में कबीर दर्शन पर गोरखनाथ के प्रभाव को दर्शाते हुए लिखा है–''गोरखनाथ को हिन्दू धर्म के पाखंडों के विरुद्ध खड़ा होकर, संत आंदोलन को एक नई दिशा में ले जाने का श्रेय मिलना चाहिए। अगर गोरख न होते तो कबीर, रैदास, नानक और दादू भी न होते'' (वही, पृष्ठ 83)। अपने इस वक्तव्य से सुभाष चंद्र कुशवाहा फिर उन हिंदी आलोचकों की परंपरा में जाने-अनजाने शामिल हो रहे हैं जिसका कि वे पहले खंडन कर चुके हैं। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ योगियों को ब्राह्मण परंपरा से जोड़ा है जिसका संज्ञान लिया जाना चाहिए था। इतना ही नहीं, कबीर के ब्राह्मणीकरण, वैष्णवीकरण, रामानंदीकरण, द्विवेदीकरण और नाथीकरण पर एक लंबी बहस चल चुकी है जिसमें सिद्ध हो चुका है कि ये सभी शब्दावलियाँ उन आलोचकों की हैं जो कबीर को 'कबीर' नहीं रहने देते। इनके माध्यम से कबीर मरते ही मरते हैं, बचते बिल्कुल नहीं।

डा. धर्मवीर के शब्दों में कहें तो कबीर के अध्ययन में सिर्फ कबीर का 'कबीरीकरण' ही एक तरीका है जिससे कबीर को मरने से बचाया जा सकता है। नाथों को सिद्धों का अगला विकास माना जाता है। सिद्ध बौद्ध परंपरा से आते हैं और बौद्ध परंपरा भी उसी वर्णवाद को मान्यता देती है जिसे ब्राह्मण और जैन परंपराएं पोषित करती हैं। हाँ, तीनों में अंतर वर्णक्रम का जरूर है, जबकि कबीर और रैदास की परंपरा अवर्णवादी है जो मक्खलि गोसाल के आजीवक दर्शन से मेल खाती है। पुनर्जन्म के मामले में भी वैदिक, जैन और बौद्ध से अलग कबीर पुनर्जन्म को नहीं मानने वाली आजीवक परंपरा वाले ठहरते हैं। कुछ समानताएं तो हर दर्शन में मिलेंगी ही। जैसे कबीर और तुलसी दोनों ने मंगलाचरण के गीत गाए हैं किन्तु दार्शनिक तत्वों के अलगाव के कारण दोनों को एक नहीं कहा जाता, उसी तरह कबीर और नाथों की दार्शनिक परम्पराएं भी अलग-अलग हैं। कबीर पति-पत्नी और संतान के गायक हैं जबकि नाथ संप्रदाय में स्त्री को साधना में बाधक माना गया है। कबीर के दर्शन में 'माँगन मरण समान' है जबकि नाथ योगी 'मांगि के खइबो मसीत में सोइबो' वाली परंपरा के हैं। कबीर का दर्शन घरबारी है तो नाथों का संन्यास वाला। कबीर के यहाँ 'ब्राह्मण गुरु है जगत का साधो का गुरु नाहिं, तो नाथों की परंपरा में सभी गुरु ब्राह्मण वर्ण से आते हैं। कबीर के यहाँ सदाचारी को महत्व दिया जाता है तो नाथों के यहाँ ब्रह्मचारी को। कबीर के यहाँ सुहाग, पतिव्रता और पत्नीव्रत की अकथ कथा है तो नाथों के यहाँ नारियों से दूर रहने की शिक्षा है। कबीर वाह्याचारों से दूर रहने की शिक्षा देते हैं तो नाथ सभी वाह्यचारों जैसे–जटा, भस्म, माला, खप्पर, किंकरी, कमंडल आदि को आवश्यक मानते थे। इतने बड़े दार्शनिक अंतर के बावजूद, लेखक द्वारा संतों पर गोरख का प्रभाव बताते हुए यह कहना कि 'गोरख न होते तो कबीर, रैदास, नानक और दादू भी न होते' संतों का एक तरह से अपमान ही कहा जायेगा। वर्णवादी और अवर्णवादी दर्शनों को ध्यान में रख कर इस अपमान से बचा जा सकता था। यह अंतर ठीक उसी तरह का है जैसे आज के प्रगतिशील लेखक और दलित लेखक का है जिसमें एक 'वर्ग' की बात को मुख्य मानता है तो दूसरे का कहना है कि भारत में वर्ग ही नहीं है तो वर्ग संघर्ष कैसा? सही भी है कि भारत में वर्ण ही वर्ग बना हुआ है। अपनी बात को और पुष्ट करने के लिए मैं कँवल भारती के वक्तव्य को उद्धृत करना चाहूंगा जिसमें उन्होंने सिद्धों-नाथों से कबीर को अलग करते हुए लिखा है–''सिद्ध-नाथ परंपरा बौद्ध परंपरा है, जबकि कबीर की आजीवक परंपरा है। इन दोनों परंपराओं में मूल अंतर दो हैं–एक परलोक का सिद्धांत, जिसे बौद्ध परंपरा मानता है, पर आजीवक नहीं मानता है। दूसरा, गृहस्थ जीवन का सिद्धांत, जो बौद्ध परंपरा में भिक्षुओं और योगियों के लिए वर्जित है, पर कबीर की परंपरा में अनिवार्य है।'' (आजीवक परंपरा और कबीर अर्थात दलित धर्म की खोज, कँवल भारती, पृष्ठ 24)। दलित चिंतकों के इतने गहन विचार विमर्श को सुभाष चन्द्र कुशवाहा कोई तवज्जो नहीं देना चाहते। वे नाथों की शर्तों पर ही कबीर और अन्य संतों का मूल्यांकन करना चाहते हैं। ऐसी जिद करने से तो संत परंपरा की स्वतंत्र पहचान ही छिन जायेगी।

'कबीर हैं कि मरते नहीं' पुस्तक के अंतिम निष्कर्ष में सुभाष चन्द्र कुशवाहा ने उन्हीं आलोचकों की तरह ही

कबीर को पूरी तरह लावारिस मरने के लिए छोड़ दिया है। जब वे लिखते हैं– ''धर्मवीर के इस कथन को भी स्वीकार करने का कोई आधार नहीं कि रैदास और कबीर के 'न, हिन्दू न मुसलमान' कहने का मतलब यही था कि वे दलित धर्म के हिमायती और संस्थापक थे'' (वही, पृष्ठ 118)। इसे भोजपुरी में कहते हैं–पूरा खाइके ढेपिआ तित्त कइ देहला। पूरी पुस्तक पढ़ने से पाठक को यही बोध होता है कि अधिकतर स्थापनाएं डा. धर्मवीर से ही ली गई हैं, सिर्फ उनके नाम से परहेज किया गया है, और जहाँ नाम लिया गया है वहाँ उनके सिद्धांत को खारिज करने का प्रयास किया गया है। किसी भी देश के रचनाकार को उस देश की सामाजिक संरचना को जानना बहुत आवश्यक होता है। इसके अभाव में उसकी रचना सनसनी तो पैदा करती है, वह भ्रम भी पैदा करती है। भारत में रहने वाला हर व्यक्ति जानता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से कुछ बनने की पहली आवश्यक शर्त उसे हिन्दू होने की है। कबीर और रैदास बार-बार कहते हैं कि वे हिन्दू नहीं हैं। इसका मतलब साफ समझना चाहिए कि वे वर्णधर्मों (हिन्दू, जैन, बौद्ध) के किसी भी संप्रदाय के अंग नहीं हैं। उनका चिंतन वर्णव्यवस्था से बाहर का है। कबीर की 'न हिन्दू, न तुरक' और 'हिन्दू कहौं तो हौं नहीं मुसलमान भी गारी' जैसी स्पष्ट बात बड़ी आसानी से समझ में आने वाली हैं। कँवल भारती 'आजीवक परंपरा और कबीर अर्थात दलित धर्म की खोज' नामक पुस्तक की भूमिका में ही बड़े स्पष्ट ढंग से लिखते हैं–''लोकायत और आजीवक परंपरा के अध्ययन से कबीर का 'ना हिन्दू ना मुसलमान' मत पूरी तरह स्पष्ट हो गया। यदि कबीर 'ना हिन्दू' में वैष्णव, शाक्त, योगी, यती, बौद्ध, जैन, मंदिर, तीर्थ, शून्य, बैकुंठ, मुक्ति, मोक्ष, आवागमन, अवतार, स्वर्ग-नर्क, वेद, पुराण, षड दर्शन, स्मृति और श्रुति आदि सब का खंडन करते हैं तो 'ना मुसलमान' में वे कुरान, हदीस, अल्लाह, शिया, सुन्नी, शेख, भिस्त, दोजख, पीर, पैगंबर, रोजा, नमाज, हज, मस्जिद, काबा, सबसे मुक्त हैं। तब वे एक भौतिकवादी और कल्पनावादी समाजवादी धर्म के पैगंबर रह जाते हैं, जो दोनों हाथ उठाकर घोषणा करते हैं–हम वासी उस देश को, जहाँ जाति वरन कुल नाहिं, शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं।।''

डा. धर्मवीर कबीर के अध्येताओं पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं–''भारतीय विद्वानों के सारे निष्कर्ष उनकी जाति के सापेक्ष आए हैं। सीधी सी बात है, मुसलमान कोशिश करेंगे कि कबीर को सूफी सिद्ध किया जाए। ब्राह्मण कभी मान कर नहीं देंगे कि शूद्र और अछूत का कोई धर्म भी हो सकता है। सिक्ख विद्वान कभी नहीं चाहेंगे कि कबीर के पृथक धर्म की संभावना को तूल दी जाए। कायस्थ जाति के विद्वान कबीर को नए धर्म का संस्थापक स्वीकार करना चाहेंगे लेकिन उसमें वे धर्म की परिभाषा इस रूप में बदल देंगे कि कबीर का वह धर्म ब्राह्मण के विरोध में तो हो पर हिन्दू धर्म के दायरे में ही रहना चाहिए।'' (कबीर के कुछ और आलोचक, पृष्ठ 120-121)। जिस प्रकार अपने स्वतंत्र धर्म में स्वतंत्र पहचान के साथ ही कोई हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम बना रह सकता है, उसी तरह दलित समाज की पहचान भी उसके स्वतंत्र धर्म और दर्शन से बनती है। मध्यकाल में दलितों के सद्गुरु कबीर और सद्गुरु रैदास जहाँ खुद को हिन्दू और मुसलमान होने से मना करते हैं तो उनकी पीढ़ी में आने वाले स्वामी अछूतानन्द और डा. भीमराव अंबेडकर की जोड़ी भी यही घोषणा करती है। यह अलग बात है कि स्वामी अछूतानन्द ने 'आदि हिन्दू धर्म' के नाम से दलितों को नया धर्म दिया तो सामाजिक और राजनैतिक कारणों से डा. अंबेडकर धर्मांतरण में दलितों की मुक्ति देखते हैं। आज दलितों के अपने धर्म की पहचान आजीवक के रूप में हो चुकी है। इतनी उपेक्षा और वंचना के बावजूद, यदि दलित जातियाँ सम्मान के साथ जी रही थीं, हैं तो अपने स्वतंत्र धर्म और दर्शन के बलबूते ही जी रही हैं। कोई भी स्वाभिमानी कौम बिना धर्म के नहीं रह सकती।

वर्तमान समय तक दलित साहित्य की विकास यात्रा पाँच पड़ाव तय कर चुकी है जिसमें वेदना, आक्रोश, नकार और आत्मविश्लेषण के बाद पाँचवाँ पड़ाव आजीवक धर्म के रूप में वैकल्पिक धार्मिक-सामाजिक संरचना की खोज माना जा रहा है। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी इसे मान्यता मिल चुकी है। जरूरत इसकी साहित्यिक बहसों को तेज करने की है ताकि छह सौ साल बाद कबीर के साथ न्याय किया जा सके। आज स्वतंत्र मूल्यांकन द्वारा ही कबीर अपने वास्तविक रूप में बचे हुए हैं। सही कहा गया है कि सत्य परेशान हो सकता है परास्त नहीं।

डा. दीनानाथ
एसोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग, सी. एम. पी. डिग्री कॉलेज,
प्रयागराज
मो. 9451059820

सुमित्रानंदन पंत की छायावादी विचारधारा

—डा. अशोक कुमार यादव

सुमित्रनंदन पंत मूलतः कवि हैं, प्रकृति के सुकुमार कवि। सौन्दर्य और प्रेम की उदात्त कल्पना आध्यात्मिक भौतिक धरातल पर मानव और प्रकृति के परस्पर सम्बन्धों का जो पावन स्वर्ग निर्मित करती है वह हिन्दी साहित्य-विशेषतः छायावादी प्रगतिवादी युग में किसी अन्य कवि में लक्षित नहीं है। प्रकृति के मनोरम स्थल कूर्माचल जैसे पर्वतीय सौन्दर्य से अभिभूत पन्त के हृदय से काव्य-निर्झर जीवन के अंतिम काल तक प्रवाहमान रहा। कवि-हृदय पंत की प्रवृत्ति गद्य लेखन की ओर उतनी नहीं रमी, जितनी काव्य-रचना की ओर रही। गद्य उन्होंने बहुत कम लिखा है। छायावाद का मेनीफेस्टो (घोषणा पत्र) पंत का काव्य संग्रह पल्लव को माना जाता है।

सुमित्रा नंदन पंत जी को उनका गद्य-साहित्य प्रायः उनकी काव्य-कृतियों की भूमिका बनकर आया है। ''एक प्रकार से अपने काव्य की मूल चेतना स्पष्ट करने के लिए ही उन्हें गद्य लिखना पड़ा है।''[1] फिर भी उनकी रचना का प्रथम पुष्प उपन्यास के रूप में गद्य ही है। उन्होंने गद्य-साहित्य का प्रणयन काव्य की अपेक्षा अल्प मात्र में किया है। उनकी गद्य रचनाएँ या तो काव्यों की भूमिका के रूप में हैं अथवा नाटक, कहानी, संस्मरण तथा आत्मकथा के रूप में। उनके चिन्तन प्रधान विचारात्मक निबन्ध भी कविता की भावभूमि पर ही स्थित हैं। डॉ. राम कुमार वर्मा जी छायावाद के संदर्भ में कहते हैं कि परमात्मा की छाया आत्मा पर पड़ने लगे और आत्मा की परमात्मा पर यही छायावाद है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने छायावाद को ाक्तिकाव्य मानते हुये उसका संबंध पुर्नजागरण से जोड़ा है। पंत जी ने प्रकृति का चित्रण सर्वाधिक सहज रूप में किया है।

शयकल सैय्या पर दुग्ध धवल
तनवबंगी रंगा ग्रीष्म बिरल।

पन्त जी का सम्पूर्ण गद्य साहित्य उनकी चिन्तन प्रधान विचारधारा का प्रतिफल है। वे रवीन्द्रनाथ टैगोर, विवेकानन्द, महात्मा गांधी, कार्ल मार्क्स तथा योगिराज श्री अरविन्द के विचारों से प्रभावित हैं। किन्तु उन्होंने उक्त महापुरुषों के उन्हीं विचारों को आत्मसात् किया जो मानव मात्र के लिए हितकारी थे। प्रगतिशील लेखक संघ में होकर भी वे साम्यवादी या

मार्क्सवादी नहीं बन सके। उन्होंने महापुरुषों के विचारों का मंथन कर उसका नवनीत हिन्दी साहित्य को दिया, शेष छाछ उन्होंने विभिन्न 'वादों' के लिए छोड़ दिया। उत्तरा की भूमिका में पन्त जी ने लिखा है- मैं अपने युग, विशेषतः देश की, प्रायः सभी महान् विभूतियों से किसी न किसी रूप में प्रभावित हुआ हूं। वीणा पल्लव काल में मुझ पर कवीन्द्र-रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा है। युगान्त और बाद की रचनाओं में महात्मा जी के व्यक्तित्व तथा मार्क्स के दर्शन काय किन्तु इन सब में जो एक परिपूर्ण एवं संतुलित अन्तर्दृष्टि का अभाव खटकता था, उसकी पूर्ति मुझे श्री. अरविन्द के जीवन दर्शन से मिली और इस अन्तर्दृष्टि को मैं इस विश्व-संक्रान्ति काल के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूं।[2]

पन्त जी विभिन्न महापुरुषों के विचारों को अपने चिन्तन की कसौटी पर अच्छी तरह परख कर ही उसके लोकोपयोगी स्वरूप को ग्रहण करते हैं। अन्ततः उन्हें श्री अरविन्द के दर्शन से पूर्ण संतुष्टि मिली। इसके अतिरिक्त उन्हें विभिन्न ग्रंथों से भी प्रेरणा तथा सहायता मिली। वे लिखते हैं-''इस युग में जो ग्रन्थ मेरे लिए प्रेरणाप्रद तथा सहायक प्रमाणित हुए उनमें मैं गीता, उपनिषद् ग्रन्थ तथा बाइबिल का सर्वोपरि स्थान मानता हूँ। उपनिषदों ने जहाँ मुझे नित्य शुद्ध मुक्त चौतन्य का स्पर्श दिया, वहाँ बाइबिल ने उस चौतन्य के मानवीय पक्ष दिव्य प्रेम तथा लोकसेवा का महत्व मेरे मन में अंकित किया। एक अन्य पंक्ति में पंत जी ने नारी के दैवीय रूप का वर्णन किया है।

छेवि माँ सहचरी प्राण
तुम कितनी उदार हो।
प्रथम रश्मि का आना रंगणी
तूने कैसे पहचाना।

कालिदास की कृतियों ने और विशेषकर रघुवंश और कुमारसंभव ने गंगा-यमुना की धाराओं की तरह मेरे किशोर मन की उर्वर भूमि में प्रवाहित होकर सिंचित तथा विकसित किया। कालिदास की सौन्दर्य-दृष्टि जिस ताजगी, जिस टटकेपन, जिन नवनवता तथा जिस अजेय सम्मोहन का क्षितिज मन की आँखों में खोल देती है, वह अपने में एक महाग्रं सृष्टि है, जो किसी भी कला प्राण हृदय के लिए एक चिरन्तन वरदान सी प्रमाणित होती है।

यही सौन्दर्य बोध का स्वप्न मुझे कवीन्द्र रवीन्द्र की कल्पना एवं काव्य कृतियों में मिला जिसमें मेरे तरूण हृदय को प्रेम, आनन्द तथा सौन्दर्य के स्पर्श से भाव-विभोर कर दिया। पीछे सौन्दर्यबोध का यह स्वप्न मेरे भीतर उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों विशेषकर शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ आदि कवियों के अध्ययन से पोषित तथा विकसित हुआ।"[3] हिन्दी और संस्कृत के अन्य अनेक कवियों तथा गद्यकारों से कवि प्रभावित था। रस-चेतनासम्पन्न तथा सौन्दर्य द्रष्टा होने के कारण मानव स्वभाव के निगूढ़ रहस्यों की तह तक पहुँचने तथा मानव मनोविज्ञान के समुचित ज्ञान के लिए पन्त जी ने पौरस्त्य तथा पाश्चात्य अनेक दार्शनिकों, लेखकों तथा साहित्यकारों से प्रेरणा ग्रहण की। प्रतिभाशाली तो वे थे ही, किन्तु अपने पूर्ववर्ती प्रतिभाशाली विद्वानों की जीवनदृष्टि की गंभीरता, व्यापकता तथा तुंगत्व वे आश्चर्यचकित थे।

उन्होंने स्वीकार करते हुए लिखा है- कालिदास प्रतिभा की दृष्टि से रसचेता और सौन्दर्य द्रष्टा रहे हैं।...शेक्सपियर की प्रतिभा मानव स्वभाव के निगूढ़ वैचित्र्य को थाहने में मुख्यतः सफल हुई है। यदि हम अपने ही युग में हिन्दी साहित्य के भीतर से देखें तो 'प्रसाद' तथा 'प्रेमचन्द' दोनों ही प्रतिभावान मष्टा हुए- पर दोनों के स्वभाव, रूचि तथा सृजन के क्षेत्र में महान् अन्तर है। दोनों प्रायः एक ही युग चेतना से अनुप्राणित रहे किन्तु दोनों के व्यक्तित्व, अन्तर्दृष्टि तथा मनस्तत्त्व अथवा अन्तर्वृत्ति में विभेद होने के कारण एक ने भारत के सांस्कृतिक अतीत का मंथन कर महाकवि की दृष्टि से मानव मानस का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया, दूसरे ने प्रसिद्ध उपन्यासकार की तरह अपने युग में व्याप्त लोकजागरण की चेतना को वाणी दी।[4]

महात्मा गांधी राम कृष्ण तुलसी, मार्क्स फ्रायड- ये सभी पन्त जी के लिए प्रेरणाप्रद थे। युगान्त में बापू के प्रति तथा ग्राम्या में 'महात्मा के प्रति' दोनों रचनाएँ गांधी जी को ही समर्पित हैं। मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद उन्हें भारतीय अध्यात्म दर्शन जैसा ही प्रतीत होता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों के लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष को ही ग्रहण किया है।

मार्क्सवाद के अन्तर्गत श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग संघर्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य दृश्य को मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वभूत हित की जितनी विराटू भावना मुझे वेदान्त में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी।''[5] पन्त जी के लिए राम कृषि क्रान्ति के प्रवर्तक हैं. तो कृष्ण कृषि-जीवन के वैभव के। कृष्ण युग की नारी भी 'विभव युग' की नारी है। वह राम की सीता जैसी एकनिष्ठ पत्नी नहीं है, अपितु लाख प्रयत्ल करने पर भी वह वंशीध्वनि पर मुग्ध, विस्वल और उच्छ्वसित है। श्रीकृष्ण ने, विभव युग

के नर-नारियों के सदाचार में भी क्रान्ति उपस्थित की है।[6] गद्य लेखन के क्षेत्र में पन्त जी ने सरस्वती पत्रिका तथा उसके संपादक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी से प्रेरणा ग्रहण की थी।

सन् 1926-1927 में सुकवि किंकर द्विवेदी जी के छायावाद विरोधी वक्तव्य के प्रत्युत्तर में पन्त जी ने 'वीणा' की भूमिका में द्विवेदी जी के विचारों का कटु खण्डन किया जिससे द्विवेदी जी को बड़ा कष्ट हुआ। किन्तु श्री पटल बाबू (सरस्वती के मालिक) के अनुनय पर पन्त जी ने वीणा की भूमिका का आक्षेपपूर्ण अंश निकाल दिया। फलतः द्विवेदी जी पन्त के प्रति स्नेहीजन जैसा व्यवहार करने लगे। कटुता समाप्त हो गयी। उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के उत्सव में पन्त जी की प्रशंसा करते हुए अपना आशीर्वाद तथा प्रधान द्विवेदी स्वर्णपदक प्रदान किया।

पन्त जी की गद्य-रचनाएँ पन्त जी ने गद्य की विविध विद्याओं में रचनाएँ की है। उपन्यास, कहानी, नाटक, अनुवाद, संस्मरण, रेखाचित्र, आलोचना एवं निबन्ध आदि के क्षेत्र में भी उन्होंने अपने दर्शन, चिन्तन, अध्ययन एवं प्रतिभा का दिग्दर्शन कराया है। उनकी सृजन-यात्रा आधुनिक युग में नवीन दृष्टि लिए हुए प्रारम्भ हुई। भाव-भाषा एवं शैली तथा चिन्तन के क्षेत्र में उन्होंने क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। भारतीय जनजीवन में व्याप्त परंपरा और रूढ़िग्रस्तता पर प्रहार करते हुए उन्होंने नवीन जीवन मूल्यों का प्रतिपादन किया।

पन्त जी अपने युग को संक्रान्ति काल कहते हैं इसलिए नवीन 'मूल्य' की अवधारणा स्थापित करना वे सरल नहीं मानते। उनके अनुसार - 'निश्चय ही मूल्य के बारे में कोई नपी तुली या स्पष्ट धारणा बनाना या देना उतना सरल नहीं, क्योंकि अभी नये जीवन का सांस्कृतिक संचरण धरती पर प्रतिष्ठित नहीं हो सका है।[7] फिर भी उनके मन में मानव जीवन के भविष्य तथा उसके कल्याण की सदाशा है।

इस वैज्ञानिक युग में मानव चेतना अपने अन्तःसत्य के अनुरूप सम्पूर्ण जड़ जगत् के ढाँचे को अपने आर्थिक राजनीतिक तंत्रों, नैतिक नियमों, सामाजिक सम्बन्धों, रागात्मक मर्यादाओं, विभिन्न संस्कृतियों, समस्त सभ्यताओं तथा धर्मों के मूल्यों को नवीन विश्वजीवन के व्यापक पट में संयोजित कर सकेगी। प्राचीन चिर परिचित परिस्थितियों में बद्ध आदर्शों में सीमित, रहन-सहन की पद्धतियों में जड़ीभूत, पिटी-पिटाई, रूढ़ि-जर्जर, बासी, विस्वाद जीवनवस्तु नयी चौतन्य ज्योति, नये भाव-संवेदन नये सौन्दर्यबोध तथा नयी राग-सम्पद् की गरिमा से मण्डित हो जायेगी।[8] उन्हें कवि हृदय एवं प्रतिभा ईश्वर से प्राप्त थी। अतः सौन्दर्य और रागात्मक अनुभूति उनके गद्य साहित्य में भी अपनी छटा बिखेरती चलती है। चिन्तन-प्रधान विचारात्मक निबन्धों को छोड़कर सौन्दर्य, प्रेम और आनन्द की त्रिवेणी उनके साहित्य में सर्वत्र प्रवहमान हैं।

पंत जी एक श्रेष्ठ गद्यकार हैं, किन्तु उनकी काव्य रचनाओं तथा उनके सौन्दर्य के समक्ष उनकी गद्य रचनाएँ प्रसिद्धि नहीं पा सकीं। क्योंकि काव्य सीधे हृदय को प्रभावित करता है। उसका सम्बन्ध व्यक्ति के भाव पक्ष से होता है जबकि गद्य चिन्तन-प्रधान विचारात्मक होता है, इसका सम्बन्ध बुद्धि से होता है। फलतः जो सरसता तथा प्रभावोत्पादकता काव्य में होती है वह गद्य में नहीं। पंत जी काव्य के प्रति पूर्ण समर्पित थे, जबकि गद्य उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाशन है। कवि-मन जितना काव्य-रचना में डूबा है, उतना गद्य-रचना में नहीं।

संदर्भ सूची

1. डॉ. रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, पृ. 514
2. सुमित्रा नंदन पंत, उत्तरा, भूमिका
3. सुमित्रा नंदन पंत, साठ वर्ष और अन्य निबन्ध, पृ. 64-65
4. सुमित्रा नंदन पंत, मेरी लेखन प्रक्रिया, पंत ग्रंथावली, पृ. 240
5. सुमित्रा नंदन पंत, पर्यालोचन, पंत ग्रंथावली, पृ. 277
6. वही, पृ. 273
7. सुमित्रा नंदन पंत, छायावाद पुनर्मूल्यांकन, पृ. 131
8. वही, पृ. 132.

डा. अशोक कुमार यादव
अम्बेडकर नगर
उत्तर प्रदेश

'त्यागपत्र'—आत्मपीड़ा का संघर्ष और उसके मायने

—डा. कुमार भास्कर

हिंदी साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के इतिहास पर नजर डालें तो उनमें जैनेन्द्र कुमार का नाम प्रमुखता से उभर कर आएगा। जैनेन्द्र मनोवैज्ञानिक अनुसंधान से खोजे गए सत्य को अपने उपन्यास में शामिल करते हैं। खासकर फ्रायड के, जिनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्रभाव आधुनिक साहित्य पर भी नजर आता है। फ्रायड मानते थे कि मनुष्य का सत्य बाहर नहीं बल्कि मनुष्य के अवचेतन में होता है। फ्रायड के अनुसार- ''यह अचेतन हमारी उन इच्छाओं और चेष्टाओं का पुंज है जो अनेक सामाजिक कारणों से- मूलतः सामाजिक स्वीकृति अथवा मान्यता के अभाव में चेतन मन से मुंह छिपाकर नीचे पड़ जाती हैं और वहां से अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करती रहती हैं।''[1]

मनोवैज्ञानिक उपन्यास के शुरुआती दौर की परंपरा में चार उपन्यासकार प्रमुख हैं-जिनमें जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी और डॉक्टर देवराज। जैनेन्द्र कुमार मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के शुरुआती दौर में, समर्थ रचनाकारों में से हैं। परख, त्यागपत्र, सुनीता, परदा, कल्याणी, मुक्तिबोध इत्यादि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। जैनेन्द्र के उपन्यासों का केंद्र विवाह और प्रेम संबंधों को लेकर है। इनके उपन्यास विवाह के संस्थानिकता और व्यक्ति की अपनी निजता के सवालों को लेकर चलती है। ज्योतिष जोशी लिखते हैं-''जैनेन्द्र साहित्य में नैतिकता के प्रश्नों पर व्यापक विमर्श दिखाई देता है। यह विमर्श तब एक व्यापक बहस का रूप ले लेता है जब जैनेन्द्र संस्थागत और व्यक्तिगत नैतिकता के बीच मानवीय संबंधों की छानबीन करते हैं।''[2]

जैनेन्द्र कुमार के साहित्य में नैतिकता के सवालों को लेकर एक विस्तृत विचार और विमर्श नजर आता है। यह महत्वपूर्ण इसलिए भी है कि नैतिकता और संस्थागत मूल्य के बीच मानवीय संबंधों की स्थिति किस प्रकार से उलझी हुई, जिसमें तमाम समाजिक रूढ़ियां भी मौजूद हैं जिसको जैनेन्द्र चुनौती देते हैं। जैनेन्द्र नैतिकता को आधुनिक नजरिए से जीवन और व्यक्ति के निर्माण और विकास में देखते हैं। जैनेन्द्र पर गाँधीवाद का प्रभाव है। गाँधीवाद में अध्यात्मिकता की बड़ी भूमिका है। जहाँ पर गाँधी की ही तरह अपनी पीड़ा से हृदय परिवर्तन पर भरोसा किया जाता है। जैनेन्द्र भी कहीं न कहीं इसी तरह के विचार पर विश्वास करते हैं और अपने अहं को तिरोहित करने के लिए समर्पण को महत्व देते हैं। इसलिए उनके पात्र उस तरीके से विरोध नहीं करते जो सीधे-सीधे प्रभावी हो, अपितु वह अक्सर अपने दुःख और पीड़ा से

प्रतिरोध को अभिव्यक्त करते हैं जिसको हम गाँधीवाद का पूर्ण रूप से सकारात्मक प्रभाव तो नहीं कह सकते हैं। इसकी वजह है समाज इतना भी सरल और दयालु नहीं है जहाँ आत्मपीड़ा के माध्यम से अपने अधिकारों की माँग की जा सके। आत्मपीड़ा खुद को बदलने के लिए या सक्षम बनाने के लिए मायने रखती है। लेकिन दूसरों को बदलने के लिए, समाज के परंपरागत रूढ़ियों को तोड़ने के लिए प्रतिरोध तो करना ही पड़ेगा। अपवाद की बात अलग है। इन्हीं विचारों की वजह से बच्चन सिंह त्यागपत्र के संबंध में लिखते हैं- ''बाहर के खुलेपन से, जीवन की हलचलों से मुक्त उनके पात्र प्रायः मनोरोगी, आत्महंता और निर्वासित हैं-स्त्रियाँ आत्मग्रस्त और पुरुष नपुंसक। किन्तु उपन्यास की नयी रूपात्मक आधुनिक प्रविधियों से हिन्दी उपन्यास में कुछ नया अवश्य जुड़ा।''[3]

जैनेन्द्र कुमार के ज्यादातर उपन्यासों के केंद्र में स्त्री है। विवाह में प्रेम कितना मायने रखता है, इस सवाल को जैनेन्द्र त्यागपत्र उपन्यास में उठाते हैं। सामान्य मध्यवर्गीय सीमाओं में बंधी चेतना, पारिवारिक दबाव और मर्यादा, यह सभी किस तरीके से प्रेम विवाह में बाधक बनते हैं जैनेन्द्र इसको अपने उपन्यास में रखते हैं। मृणाल का प्रेम शीला के भाई से है। एक बार शीला के घर से आने में मृणाल को विलंब होता है। तब मृणाल की भाभी उसकी इस स्वच्छंदता को आड़े हाथ लेती है और उसको बेंत से मार-मार कर हाल-बेहाल कर देती है। मृणाल अपनी दिल की बात अभिव्यक्त नहीं करती अपितु उसको दबा कर अपनी भाभी के सामने एक प्रकार से आत्मसमर्पण कर देती है और अपने प्रेमी को भूलने का प्रयास करती है। यह वाकया समाज में सामान्य तौर पर होने वाले उदाहरणों में से एक है।

मृणाल के इस कदम को देखते हुए उसके परिवार के लोग उसके लिए एक अधेड़ उम्र का व्यक्ति ढूंढते हैं और उससे उसका विवाह कर देते हैं। यह विवाह कहीं से भी सहमति या स्वीकृति को ना देख कर उसको नजरअंदाज करता है। व्यक्ति की अहमियत कोई मायने नहीं रखती है जिसकी वजह से अनमेल विवाह की समस्या को जैनेन्द्र दर्शाते हैं। स्त्री के स्वच्छंद व्यवहार को देख कर अक्सर परिवार में इस तरह के निर्णय लिए जाते हैं। लोगों को लगता है कि अभी स्त्री के अंदर काम या वासना की भावना पैदा हो रही है। इससे पहले कि वह कोई गलत कदम उठाकर परिवार में, समाज में हमारा नाम खराब करे, उससे पहले इसकी शादी कर दी जाए। अफरा-तफरी में अपनी झूठी आन-बान-शान के लिए एक लड़की का जीवन कितना बोझिल हो सकता है? यह सोचे बगैर परिवार उसके खिलाफ निर्णय कर लेता है।

जैनेन्द्र त्यागपत्र में मृणाल के माध्यम से यह दिखाते हैं कि कैसे-परिवार, समाज की नैतिकता के दबाव में किसी संभावित होने वाली दुर्घटना और चरित्रहीनता के भय से एक कोरी कल्पना कर लेता है और त्वरित निर्णय से किसी लड़की का जीवन बर्बाद हो जाता है। यही स्थिति तब और भी ज्यादा संभावित हो जाती है, जब वह लड़की अनाथ या परनिर्भर स्थिति में हो। तब अभिभावक उससे अपना पीछा छुड़ाना चाहते हैं। कई बार अपने माँ-बाप भी आर्थिक कारणों से और लड़की को पराया धन मानने के भाव की वजह से भी, अनमेल विवाह की संभावना बढ़ जाती है।

मृणाल भी अनाथ बालिका है। अपने भैया और भाभी के आश्रय में रह रही है। भाई अच्छा है, लेकिन स्त्री के मामले में उसके विचार भी परंपरागत हैं जिसकी वजह से वह अपनी बहन की महत्वपूर्ण मौकों पर उपेक्षा करता है और इस स्थिति में भाभी मृणाल को एक बोझ की तरह देखती है जो उनके मत्थे मढ़ दी गई है। पारिवारिक रिश्तों में संबंधों के दरार को जैनेन्द्र दिखाते हैं। इसके पीछे कहीं न कहीं वह आर्थिक कारण भी है। साथ ही एकल परिवार में कई बार अतिरिक्त पारिवारिक जिम्मेदारी को बोझ की तरह देखा जाता है। इसको भी जैनेन्द्र दिखाने की कोशिश करते हैं। ऐसे में जब मृणाल की भाभी को एक मौका मिलता है। जब मृणाल किसी से प्रेम कर बैठती है और इस स्थिति का फायदा उठाते हुए मृणाल का अनमेल विवाह कर दिया जाता है। मृणाल का भाई तब भी चुप रहता है। यह उसके दब्बूपन को भी दर्शाता है।

मृणाल की शादी जिस व्यक्ति से कर दी जाती है उसके साथ भी संबंध बहुत बेहतर नहीं रह पाते हैं। जब उसे पता चलता है कि विवाह पूर्व भी मृणाल के संबंध थे तो ऐसी स्थिति में वहाँ भी रिश्ते टूटने लगते हैं। समस्या सिर्फ मृणाल की पीड़ा नहीं है। मृणाल की सोच भी एक तरह से उसी परंपरागत पुरुषवादी नजरिए से हमारे सामने नजर आती है जहाँ वह पति की सेवा, पतिव्रता होना, पति धर्म को निभाना इत्यादि इस तरह के विचार उसके अंदर भी कूट-कूट कर भरे हुए हैं। पति को अपने पुराने संबंधों के बारे में वह सच बता कर, अपने संबंध को स्वस्थ और विश्वास की जमीन पर रखना चाहती थी जिसके लिए वह प्रमोद से कहती है–''छल पाप है। हुआ जो हुआ, ब्याहता को पतिव्रता होना चाहिए। उसके लिए पहले उसे पति के प्रति सच्ची होनी चाहिए। सच्ची बनकर ही समर्पित हुआ जा सकता है।''[4] और दूसरी तरफ को उसका भाई भी है

जो यह मानता है कि ''पर पति के घर के अलावा स्त्री को और क्या आसरा है? यह झूठ नहीं है मृणाल कि पत्नी का धर्म पति है। घर पति गृह है। उसका धर्म, कर्म और उसका मोक्ष भी वहीं है।''[5] नारी के भीतर पुरुषवादी गुलामी के लक्षण, उसके संस्कार और सामाजिक दबाव से मौजूद है।

मृणाल का अपने पति से सत्य कहना खतरनाक हो जाता है, क्योंकि उसका पति उस सत्य को सुनने के वैचारिकी में है ही नहीं। अपने संबंधों को लेकर मृणाल सत्यता के साथ जीना चाहती है। क्या उसका पति भी इसी सत्य के साथ अपने पूर्व संबंधों को उजागर कर सकता है? और क्या उसके बाद उसकी पत्नी उस तरह का निर्णय ले सकती है? सवाल बहुतेरे हैं। लेकिन मृणाल का पति जिस नजरिए से सोचता है उससे तो मृणाल का सत्य कह कर चोटिल होना तय था। मृणाल का पति कहता है -''बहू-बेटियों की चलन की रीति-नीति हुआ करती है।''[6] मृणाल जब अपने पति का घर छोड़ कर अपने भाई के पास आती है। भाई का उसके लिए सहानुभूति और उसकी तकलीफ में मददगार ना होकर उसको नैतिकता का पाठ पढ़ाता है। इस तरह के वातावरण में मृणाल यह सोचने को विवश हो जाती है, जहाँ वह कहती है—''स्त्री जब तक सुसराल की है, तभी तक मैके की है, सुसराल टूटी, तब मैके में तो आप ही मैं टूट गई थी।''[7] उसके सामने विकट परिस्थिति है वह करे तो करे क्या? ना उसके घर में, ना उसके ससुराल में दोनों स्थान में उसके लिए जगह नहीं है। अगर जगह है तो उसको उसी ढ़ांचे में बंध कर रहना पड़ेगा, चाहे कितनी भी प्रताड़ना क्यों न सहनी पड़े। वह इस सामाजिक व्यवस्था को समझ रही है। ऐसी स्थिति में वह नियति को स्वीकार करके अपनी पीड़ा के माध्यम से सारा दर्द और दुःख स्वयं झेलती है। किसी दूसरों को उसके लिए प्रताड़ित नहीं होने देना चाहती है। इसी वजह से मृणाल अपना दुःख व्यक्त करते हुए प्रमोद से कहती है—''पति का घर क्या होता है?. ..स्वर्ग होता है। मैंने मान लिया कि स्वर्ग होता होगा।''[8]

मृणाल भले ही अपनी पीड़ा से अपनी अभिव्यक्ति को जता रही हो, लेकिन उसके भैया-भाभी की भूमिका समाज की जड़ पुरुषवादी मानसिकता को दर्शाता है। ऐसी स्थिति में आत्मपीड़ा वह हथियार नहीं हो सकता जो समाज में दूसरों को प्रेरणा दे सके। इस स्थिति में समाज के उस गणित को समझना जरूरी है जो एक स्त्री के लिए बनाए गए हैं। उससे निकलने के लिए मृणाल को मजबूत होना पड़ेगा। स्त्री को अक्सर करुणा, उसके मातृत्व इत्यादि से जोड़ते हुए अमूमन कोमल, दुर्बल और परनिर्भर व्यक्तित्व के रूप में देखा जाता है। यह समाज के पुराने ढांचे से पैदा हुई सोच है। आधुनिक विमर्श यह मानता है कि स्त्री की आजादी उसके आर्थिक पहलुओं पर बहुत ज्यादा निर्भर करती है। इसलिए उसका पढ़ा-लिखा होना और अपने पैरों पर खड़े होने का माद्दा रखना, यह दोनों बहुत मायने रखता है। मृणाल के किशोरावस्था में माँ-पिताजी के गुजर जाने पर, भैया-भाभी के ऊपर जिस प्रकार से आश्रित रही और उसके भैया का भी मृणाल की प्रताड़ना में चुप रहना। ऐसे में भाई का प्रेम ढ़कोसला लगता है।

मृणाल किसी को बांधने की कोशिश नहीं करती है और ना ही किसी दूसरी स्त्री के घर को बर्बाद करने की कोशिश करती है। वह परिस्थितियों की मार में बस अपना जीवन यापन कर रही है। इसलिए उसके विचार परिस्थितियों की वजह से उसकी मानसिक स्थिति को कमजोर और आत्मदमनात्मक स्वरूप को ज्यादा दर्शाते हैं। मृणाल कहती है-''दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो उसका और क्या धर्म है? उससे मन माँगा जायगा, तन भी माँगा जायगा। सती का आदर्श और क्या है?''[9]

अपनी दयनीयता के सवालों से समाज के पुरुषवादी पाखंड पर सवाल खड़ा करती है। सती का आदर्श, जिसमें स्वयं को जला देने वाला भाव है। यह भाव स्वयं से नहीं अपितु समाज के दकियानूसी रूढ़ परंपराओं से पैदा हुआ कर्मकांड है। इसी के मद्देनजर ज्योतिष जोशी लिखते हैं- ''सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती देते हुए जैनेन्द्र नैतिक प्रश्नों से जूझते हुए आधुनिक जीवन बोध के तहत नारी के व्यक्तित्व-निर्माण की प्रस्तावना भी करते हैं।''[10] उपन्यास में मृणाल जब मास्टरनी का काम करती है तो वह ज्यादा स्वाबलंबी है, अपेक्षाकृत जब तक दूसरों पर निर्भर थी।

त्यागपत्र को हम मृणाल के नजरिए से, यह कह सकते हैं कि वह समाज के प्रति एक आत्मदमनात्मक विद्रोह करती है। वह अपनी पीड़ा से समाज को उद्वेलित करती है कि समाज देखे, यह सोचे कि मेरी दुर्दशा के पीछे कौन से कारण हैं जिससे मेरी यह स्थिति हुई है। मैं तो उन्हीं मानदंडों पर चली हूँ जिसको समाज मानता है। मैं उसी पतिव्रता की तरह जीवन जीना चाहती थी। पर, किशोरावस्था में किए गये प्रेम को समाज एक धब्बे की तरह देखता है जिसकी कीमत उसे पूरी जिंदगी चुकानी पड़ती है। इसमें मृणाल के माध्यम से जैनेन्द्र विवाह और विवाह के बाद के संबंधों को भी दर्शाते हैं। जहाँ मृणाल उस विवाहेत्तर संबंध में भी जीवनयापन करती है। डॉ. रामचंद्र तिवारी लिखते हैं, ''जैनेन्द्र ने अपने ढंग से स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को मानसिक धरातल पर विवेचित कर उसका उदात्तीकरण करना चाहा है। धीरे-धीरे उनका यह प्रयोग

विवाह-संस्था के निषेध का रूप ले लेता है। नारी पुरुष के अहं को विघटित करने के लिए उसके प्रति समर्पिता हो सकती है, किंतु इसके लिए विवाहिता होना आवश्यक नहीं है।''[11]

कोयले वाले के साथ मृणाल का सम्बंध इसी बात का पर्याय है। क्योंकि जीवन जीने के लिए आर्थिक और किसी न किसी सहारे की आवश्यकता होती है। परनिर्भरता की मानसिकता उसे इस दहलीज तक ले आती है। लेकिन मृणाल के विवाहेत्तर संबंध से मृणाल समाज के बने हुए तथाकथित मूल्यों में जो एक आदर्श स्त्री की छवि है, उसको तोड़ती है। नारी का शरीर हमारे समाज में बहुत पवित्रता के भाव से देखा जाता है। कोयले वाले से संबंध को लेकर प्रमोद के संशय को दूर करते हुए मृणाल कहती है- ''वेश्यावृत्ति नहीं करने लगूँगी। इसका विश्वास रखो। कृजिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है, यह मेरी समझ नही आता।''[12] मृणाल उस पवित्रता के भाव को ही कुचल देती है। शरीर उसके लिए मायने नहीं रखता आंतरिक खुशी मायने रखती है। संबंधों में विश्वास मृणाल के लिए कसौटी है। वह सिद्धांतों पर चलने वाली स्त्री है। जैनेन्द्र कुमार, मृणाल की विडंबना से समाज को बदलना चाहते हैं। उसके दुःख से एक संदेश देना चाहते हैं। जो आगे चल कर अज्ञेय भी अपनी कविताओं में लिखते हैं- ''दुःख सब को माँजता है और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु जिन को माँजता है उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।''[13]

इस उपन्यास में प्रमोद जो लगातार अपनी बुआ के साथ खड़ा रहता है। वह अपनी बुआ मृणाल के लिए बहुत कुछ करना चाहता है। पर जब बुआ ही पच्चीस साल की उम्र में दूसरी बार किसी दूसरे पुरुष के साथ गर्भवती हो गई हो, ऐसे में उस छोटे से बालक के अंदर इस तरह का भाव होना भी सकारात्मक पहलू है। लेकिन एक उम्र के बाद प्रमोद अपनी बुआ के लिए कुछ नहीं कर पाता, जितना वह करना चाहता था। उसके अंदर उस तरह का पुरुषवाद नहीं है। वह बुआ से प्रेम करता है और इस प्रेम को वह परंपरागत मानदंडों से नहीं देखता, जो अक्सर पुरुष किसी स्त्री के लिए देखते हैं। जब मृणाल कोयले वाले के साथ रहने चली जाती है और प्रमोद मिलने जाता है, फिर वह सोचता है अपनी बुआ के लिए-''पतिगृह को छोड़कर यहाँ गंदे व्यभिचार में रहने वाली नारी पति धर्म की बात करती है और उसको सुनता हुआ एक पढ़ा-लिखा मुझ जैसा समझदार युवक उस नारी को लांछित नहीं करता बल्कि उसके प्रति और खिंच कर रह जाता है। ओहः असह्य है।''[14] जैनेन्द्र प्रमोद के माध्यम से इसी बात को दर्शाने की कोशिश करते हैं, जहाँ मृणाल की दशा, दकियानूसी सोच के नजरिए से, पढ़े लिखे समाज में क्या मायने रखती है। उसकी पीड़ा कितनी दर्दनाक है जो प्रमोद की इन पंक्तियों से मालूम चलता है। एक हिचकिचाहट प्रमोद के चरित्र में नजर आती है। प्रमोद मानसिक द्वंद्व से जूझ रहा है। प्रमोद के अंदर की वह पीड़ा, जो चाह कर भी अपनी बुआ के लिए कुछ नहीं कर पाने का है, उस अफसोस और आत्मपीड़ा की शक्ति से समाज को बदलने का भाव और कर्तव्य बोध की भावना जागृत होती है। कैसे करेगा? क्या हो पाएगा? के अलावा समाज की उसको बुराइयाँ और कमियाँ नजर आने लगती हैं। इसलिए वह खुद को दोषी भी मानता है। जो अंततः त्यागपत्र की भूमिका को निर्धारित करता है।

संदर्भ

1. डॉ. नगेन्द्र, आस्था के चरण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, वर्ष, 1980, दिल्ली, पृ. 348
2. ज्योतिष जोशी, जैनेन्द्र और नैतिकता, वाणी प्रकाशन, वर्ष, 2010, दिल्ली
3. डॉ. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, वर्ष, 1996, दिल्ली, पृ. 382
4. जैनेन्द्रकुमार, त्यागपत्र, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, वर्ष, 1937, बम्बई, पृ. 69
5. वही, पृ. 29
6. वही, पृ. 39
7. वही, पृ. 71
8. वही, पृ. 33
9. वही, पृ. 68
10. ज्योतिष जोशी, जैनेन्द्र और नैतिकता, वाणी प्रकाशन, वर्ष, 2010, दिल्ली
11. डॉ. रामचंद्र तिवारी, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वर्ष, 2006, वाराणसी, पृ. 180
12. जैनेन्द्र कुमार, त्यागपत्र, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर, वर्ष, 1937, बम्बई, पृ. 68
13. संपादक, कृष्णदत्त पालीवाल, अज्ञेय रचनावली, खंड : 5, नदी के द्वीप, भारतीय ज्ञानपीठ, वर्ष, 2011, दिल्ली
14. जैनेन्द्रकुमार, त्यागपत्र, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर, वर्ष, 1937, बम्बई, पृ. 77

डा. कुमार भास्कर
एशोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
मो. 9312154532

डा. अम्बेडकर द्वारा सम्पादित लेखों में दलित चिंतन

–बृजेश कुमार
–प्रो. राजेश गर्ग

डा. अम्बेडकर ऐसे ही महापुरुष थे जो बहुजन पत्रकारिता के महास्तम्भ थे। जब बहुजन समाज पत्रकारिता के पेशे से हजारों कोस दूर था तो वे इस क्षेत्र में काम कर रहे थे। उस समय डॉ. अम्बेडकर अपने सम्पादकीय लेखों से सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के अग्रगामी इतिहास को मूर्त रूप प्रदान कर रहे थे। अपने एक संपादकीय आलेख में डॉ. अंबेडकर भारतीय समाज कि प्रमुख समस्या जाति-व्यवस्था पर लिखते हैं, ''संसार में अधिकांश देशों मे ऐसे वर्ग हैं जो निम्न वर्ग कहे जाते हैं। ये रोम में स्लेव या दास कहलाते थे। स्पार्टन में इनका नाम हेलोटस या क्रीत था। ब्रिटेन में यह विलियन्स कहलाते थे, अमेरिका में नीग्रो और जर्मनी में ये यहूदी थे। हिंदुओं में यही दशा अछूतों की थी, परंतु इनमें से कोई इतना बदनसीब नहीं था, जितना अभागा अछूत। दास, क्रीत सभी लुप्त हो गए हैं। परंतु छुआछूत का भूत आज भी मौजूद है...।''[1] पत्रकारिता को डा. अम्बेडकर ने लोकतंत्र का प्रहरी कहा और जनता के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक हितों की रक्षा के लिए समाचार पत्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया है। डा. अम्बेडकर का सम्पादकीय चरित्र उनके विचारों में अभिव्यक्त होता है। इस दृष्टि से हम उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक सम्बन्धी चिन्तन को देख सकते हैं।

बाबा साहेब ने दलित और गैर दलित पत्रकारों और सामाजिक चिंतकों की एक मंडली बनायी थी जिसका लक्ष्य हिंसा नहीं अपितु कलम के जोर पर समाज में समता स्थापित करना था। सितंबर, 1927 को उन्होंने समाज समता संघ की स्थापना की और समाज संघ की नीतियां घर-घर तक पहुंचाने के लिए उन्होंने 25 जून, 1928 को 'समता' नामक तीसरा पत्र निकाला था। डा. अम्बेडकर का उद्देश्य 'बहिष्कृत भारत' के संपादकीय लेख से अन्य पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकीय लेखों की भांति पैसा कमाना नहीं था, बल्कि वह जनजागृति के लिए ऐसी दीक्षा थी जो दलितों को हीन न समझने की समझ पैदा करता था। 'जनता' का नाम बदल कर उसे ही 'प्रबुद्ध भारत' किया गया था। प्रबुद्ध भारत नामकरण दिनांक 28 जनवरी, 1956 को किया गया था। प्रबुद्ध भारत में 4 फरवरी, 1956 से 1 दिसंबर, 1956 (11 माह तक के 39 अंक प्रकाशित हुए। आगे जा कर तीन-चार बाबा साहब के परिनिर्वाण के पश्चात प्रबुद्ध भारत के अंको में

बाबासाहेब से संबंधित महत्वपूर्ण और अप्राप्त जानकारी को ही प्रकाशित किया गया था।''[2] डा. अंबेडकर लोकतन्त्र की मूल अवधारणाओं को अपने लेखन का प्रमुख विषय बनाते हुये संपादकीय लेखन करते रहे। एक आलेख में वे लिखते हैं, ''बंधुत्व और स्वतंत्रता, यह दोनों तत्व सही मायने में धारणाएं हैं। मौलिक तथा बुनियादी तत्व हैं समानता और मानव व्यक्तित्व के प्रति आदर। बंधु भाव तथा स्वतंत्रता, ये दोनों धारणाएं इन मूल तत्वों से ही आगे बढ़ती हैं। इस बात को हम ऐसे भी कह सकते हैं कि समानता मूल धारणा और मानव व्यक्तित्व के प्रति आदर है। तब जहां समानता को नकारा गया है, वहां यह मानना चाहिए कि अन्य सभी बातों को भी नकारा गया है .... ।''[3] इसी प्रकार उन्होंने अछूतों में शिक्षा संबंधी जागरूकता पैदा करने के लिए शिक्षा को विषय बना कर अनेक आलेख लिखे। बाबा साहेब ने शिक्षा पर दो संपादकीय लिखे हैं। उनका तर्क है कि प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए तथा छात्रावास की निःशुल्क व्यवस्था होनी चाहिए। लेकिन समर्थ अभिभावक फीस अदा कर सकते हैं।[4]

जनवरी 1945 में आल इंडिया शिड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन ने अपने साप्ताहिक मुखपत्र 'पीपल्स हेराल्ड' की शुरुआत की। इस पत्र के उद्घाटनकर्ता डा. अम्बेडकर थे। इस पत्र के उद्घाटन भाषण में अम्बेडकर जी ने अस्पृश्यों की आकांक्षाओं, मांगों और शिकायतों को उठाया था। ईसाई मिशनरियों के दोहरे चरित्र के विषय में वे कहते हैं कि क्या ईसाई धर्म अस्पृश्य को अपनी स्थिति में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा देता है? मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि वह बढ़ने नहीं देता। जहाँ तक मैं देख सका हूँ, अस्पृश्य के लिए ईसाई उपदेश व्यवहारिक सुधारों पर कम और ईसाई सामाजिक दृष्टिकोण पर अधिक केंद्रित है।[5]

यहाँ बाबा साहेब अम्बेडकर अस्पृश्य जाति के दुर्भाग्य और दुर्दशा को खत्म करने के लिए राजनीतिक इच्छाओं को आगे आने पर बल देते हैं। ईसाई धर्म अपनाने वाले अस्पृश्यों का भला तब तक नहीं हो सकता जब तक राजनीतिक हस्तक्षेप न हो। उनके अतीत और वर्तमान दुर्व्यवस्था का कारण कहीं न कहीं सभी समुदाय के लोग हैं। इसलिए डॉ. अम्बेडकर समाचार-पत्र को एक ऐसे साधन के रूप में देखते थे जो वैसे लोगों को बदल सके जो अपने राजनीतिक और सामाजिक हित के खातिर अस्पृश्यों के कल्याण में बाधक थे।

अपने सम्पादकीय में अम्बेडकर हिन्दुओं के उन नीतियों पर सवाल उठाते हैं जो किसी मानव समुदाय को अस्पृश्य का दर्जा देते हैं। वे हिन्दुओं से सवाल करते हैं कि उन्हें अस्पृश्य द्वारा अपने खान-पान, रहन-सहन, शिक्षा आदि में उत्कृष्ट करने से हिन्दुओं को यह अराजकतावादी प्रवृत्ति क्यों लगती है? वे लिखते हैं–''अस्पृश्य यदि साफ वस्त्र पहनता है तो उस पर अत्याचार क्यों किया जाए? हिंदू को उससे क्या आघात पहुंच सकता है? अस्पृश्य के साथ क्यों छेड़छाड़ की जाए यदि वह अपने घर पर खपरैल की छत डालता है? हिंदू का उससे क्या बिगड़ता है? अस्पृश्य को पीड़ा क्यों पहुंचाई जाए यदि वह अपने बच्चों को स्कूल भेजना चाहता है? उससे हिंदू की क्या हानि होती हैं? अस्पृश्य को क्यों विवश किया जाए कि वह मृत पशुओं को उठाएं, सड़ा गला मांस खाए और घर-घर जाकर अपने भोजन के लिए गिड़गिड़ाएं। हिंदुओं को क्या घाटा होता है?... ।''[6] हालांकि, इन सवालों का उत्तर मुश्किल नहीं है, किन्तु इनका समाधान सामाजिक रूप से स्थापित करना अत्यंत दुष्कर है। इसलिए बाबा साहेब अम्बेडकर ने संवैधानिक व्यवस्था से समाज चलाने के प्रति जोर दिया है।

डॉक्टर अम्बेडकर ने अपने पत्रों और लेखों में स्पष्ट कहा है कि हिंदू धर्म वर्णाश्रम व्यवस्था को ईश्वरी मानते हैं। प्रजापति के मुख, भुजा, जंघा और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हुए। यह वैदिक रूपक ऋग्वेद के दसवें मंडल के पुरुष सूक्त में मिलता है, जो चातुर्वर्ण्य व्यवस्था कहलाती है। वर्ण व्यवस्था में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया है। इसमें ब्राह्मण या क्षत्रिय को ही अधिक श्रेष्ठ कोटि में रखा गया है। गीता में भी वर्ण व्यवस्था की पुष्टि है। इसके चौथे अध्याय के तेरहवें श्लोक में वर्णित है :

''चातुर्वर्ण्यमयासृष्ट गुणकर्मविभागशः ।
तस्यकर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम ।''[7]

अर्थात, चारों वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्म के भेद मैंने निर्मित किये हैं। उसका कर्ता होते हुए भी मुझ अविनाशी को अकर्ता जाने। गीता में इसी व्यवस्था के अनुरूप कर्म करने को स्वधर्म कहा गया है और निर्धारित किया कि उसमें जिस व्यक्ति की आस्था नहीं होगी वह ईश्वर भक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। डी. आर. जाटव अपनी किताब 'अम्बेडकर व्यक्तित्व और कृतित्व' में लिखते हैं, ''डॉक्टर अम्बेडकर ने अपने पत्रों में गीता द्वारा जन्मजात गुणों के आधार पर प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का भी खंडन किया है। मनुष्य जाति के सभी मानसिक एवं शारीरिक गुण मूलतः तीन गुणों सत, रजस् और तमस् की संयोजित अभिव्यक्ति हैं। इन तीनों गुणों में निरंतर परस्पर परिवर्तन होता रहता है। अतः मनुष्य का

स्वभाव जो प्रकृति का ही अंग मात्र है। निरंतर परिवर्तन एवं गति बनी रहती है। डाक्टर अम्बेडकर के अनुसार सांख्य दर्शन या गीता में ऐसे किसी गुण की बात नहीं की गई है जो व्यक्ति विशेष में जीवन पर्यंत बना रहे। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। अतः मनुष्य के स्वभाव में भी परिवर्तन अनिवार्य है। इस प्रकार जाति वर्ण व्यवस्था का मूलाधार ही है।''[8] चूँकि, समाज की प्रकृति परिवर्तनशील है। इसलिए व्यक्ति का स्वभाव प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। उसी प्रकार समय और परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक गुण भी परिवर्तित होते रहते हैं। इसलिए अम्बेडकर वर्ण व्यवस्था को न तो प्रमाणिक मानते हैं और ना ही ईश्वरी वर्ण व्यवस्था में स्वतंत्रता और समानता की कोई जगह पाते हैं। अम्बेडकर कहते हैं, ''अध्यात्म-विद्या भारत का कलंक रही है। उसने उसके इतिहास को चौपट किया है। उसे विनाश के गड्ढे में धकेल दिया है। उसने उसके महापुरुषों को दयनीय स्थिति में डाल कोरा मिथ्यावादी बना दिया है और उन्हें निरर्थक जिज्ञासा और चेष्टा के गलियारों में भटका दिया है। अनेक सदियों तक वह भारतीय विद्वानों के लिए मृगमरीचिका रही है। उसने कुतर्क को कला और कपोल कल्पनाओं को ज्ञान में ऊंचे सिंहासन पर बैठा दिया है।[9] हिन्दू धर्म के मायाजाल से सम्मोहित समाज झूठे नियमों कायदों को असलियत मान बैठे हैं। हिन्दू धर्म की विलक्षण चतुराई को अम्बेडकर जी ने समझा और अपने सम्पादकीय सवालों के जरिये उस पर सार्थक विमर्श किया है। वस्तुतः डॉक्टर अम्बेडकर पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव था। उनके विचारों में बौद्ध चिंतन का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। रघुवीर सिंह लिखते हैं, ''बुद्ध का दर्शन चूंकि यथार्थ का दर्शन था और उसकी अवधारणा जगत में दुख के अस्तित्व को स्वीकार करती थी। आदमी को दुखी, बेचैन, रुदन, क्रंदन करके देखती थी। तब उनके दर्शन में दुख एक यथार्थ है, एक वास्तविकता है, एक कपोल कल्पना अथवा किसी अदृश्य शक्ति, अपार अलौकिक शक्ति के कोप-भाजन अथवा आदमी के पाप पुण्य का फल ना होकर व्यक्ति की महत्वकांक्षा का ही परिणाम है अन्य कुछ नहीं।''[10] स्पष्ट है कि अम्बेडकर पाप-पुण्य को ईश्वरीय नहीं मानते और इसे पूरी तरह से अस्वीकार किया है। यद्यपि उन्होंने कर्म फल को तो स्वीकार किया, किंतु इसके नियंता के रूप में ईश्वर का निषेध किया है।

यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि अम्बेडकर से प्रभावित हो कर उनके विरोधी भी प्रबल समर्थक बन गए। इस अर्जन में उनके लेखन का बड़ा योगदान रहा है। जिस पर क्रिस्तोफ जाफ्रलो लिखते हैं, ''अम्बेडकर जितना करने में विश्वास रखते थे, उतने ही वह गंभीर चिंतक भी थे। जाति व्यवस्था के खिलाफ अपना संघर्ष शुरू करने से पहले उन्होंने हिन्दू समाज का अच्छे से विश्लेषण कर लिया था। उनके बौधिक प्रशिक्षण ने स्वाभाविक रूप से उन्हें इस तरह की भूमिका के लिए अच्छी तरह तैयार कर दिया था। उनके भीतर ज्ञान की एक धनी चाह प्रतिबिंबित होती थी जो पूरी उम्र उनके साथ रही। वे जहाँ भी जाते, सैकड़ों किताबें ले कर लौटते। इन्हीं किताबों से लिए गए असंख्य उद्धरण उनके लेखन में लगातार दिखाई पड़ते हैं। वह एक लब्धप्रतिष्ठत लेखक थे और प्रायः हमेशा एक साथ कई पांडुलिपियों पर काम कर रहे होते थे। इसके अलावा उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में सैकड़ों लेख लिखे उनकी तो गिनती ही क्या।''[11] समाचार पत्रों के सम्बन्ध में अम्बेडकर ने स्वयं कहा है कि भावी उत्थान और उसके मार्ग के सही स्वरूप की चर्चा होने के लिए समाचार पत्र जैसी कोई अन्य भूमि नहीं, परंतु कुछ समाचार पत्र-पत्रिकाओं का विशेष कार्य किसी विशेष समुदाय का ही गुणगान करता दृष्टिगोचर होता है। डा. अम्बेडकर ने ऐसे उस प्रत्येक विषय पर लेखन किया जो बहुजन समाज के विकास और मुक्ति के लिए आवश्यक था। वे आर्थिक विषयों पर भी बहुत लिखा करते थे। एक अन्य संपादकीय में वे लिखते हैं, ''अतः इस माल को हमारे देश में कम मूल्य पर तैयार करना नहीं आता, उसे उन्हें कम मूल्य पर तैयार करना आता है, खरीद लेने की जगह स्वदेशी तैयार माल का ही दुराग्रह करने से हमारी हानि होगी, यह निर्विवाद है। ऐसा होने के बावजूद, स्वराज्यवादियों को यह बात स्वीकार नहीं है। उनके मध्य भारत की संपदा में बढ़ोतरी के लिए विदेशों से आने वाले माल का उत्पादन भारत में ही होना चाहिए। स्वदेशी माल तैयार करने के लिए आयात किए गये माल पर प्रतिबंध है या आयात शुल्क लगाना आवश्यक है, उसके बगैर दूसरा उपाय नहीं है, ऐसा समय समय पर प्रतिपादित किया जाता है। प्रतिबंध या सीमा शुल्क लगाकर विदेशी माल का आयात कम होना चाहिए, जिससे स्वदेशी माल उत्पन्न कर के नुकसान की भरपाई सहजता से की जा सकेगी और स्थापित व्यवसाय तथा कारखाने बढ़ाकर यह दरिद्र देश उन्नत बन सकेगा। इस तरह के प्रवचन करने वाले परंपरागत स्वदेशी अर्थशास्त्रियों ने नियंत्रित व्यापार प्रणाली का पूर्ण स्वरूप देखा नहीं, ऐसा दिखाई देता है। लेकिन उसे देखे बगैर हमारे लिए कोई उपाय नहीं है।''[12] वे स्वदेशी आंदोलन पर स्वराज्यवादियों से भिन्न राय रखते थे और पूरे साहस के साथ अपनी बात बिना लाग-लपेट के कहते थे। विदेशी स्वदेशी द्वंद्व पर वे अन्यत्र लिखते हैं, ''विदेशों से आयात

होने का कारण है, वह माल हमें वहाँ कम मूल्य में मिलता है। वह माल स्वदेश में उत्पन्न नहीं होता, इसका कारण है कि वह स्वदेश में अधिक मूल्य में पड़ता है, इसलिए वह विदेशी माल के सामने टिकता नहीं है। स्वदेशी माल के लिए विदेशी माल पर प्रतिबंध लगाना, इस महामंत्र का जाप चल रहा है। लेकिन विदेशी माल पर प्रतिबंध लगाने से लोगों को अधिक मूल्य से स्वदेशी माल लेने के लिए जबरदस्ती की जाएगी, इस बात का विचार किसके साथ करना चाहिए? विदेशी माल की जगह स्वदेशी माल बेचकर स्वदेशी धंधे और कारखाने स्थापित होंगे, लेकिन उससे देश का कल्याण होगा, ऐसा न कहते हुए इस देश के पैसे वालों का कल्याण होगा, ऐसा कहने में अधिक सच्चाई है।.."[13]

राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रवाद पर भी डा. अंबेडकर ने कई संपादकीय लिखे हैं। इस विषय पर उनकी बौद्धिक क्षमता और लोकतान्त्रिक मूल्यों में उनकी निष्ठा देखने योग्य है। उपलब्ध अंतिम संपादकीय में बाबा साहब डॉक्टर अंबेडकर राष्ट्रीय एकता के संबंध में लिखते हैं, ''ब्रिटिश सत्ता के पहले प्रजा में एकता निर्माण न होने के अनेक कारण थे। अनेक धर्म, अनेक जाति, अनेक भाषा इत्यादि के कारण प्रजा का एकजुट होना आसान नहीं था। फिर भी प्रजा के आचार-विचार का नियमन करने वाली शक्ति या सरकार एक ही रहती तो कहीं भारतीय प्रजा एकता के सूत्र में बंध जाती। संयुक्त राज्य अमेरिका के लोगों में भारत की तरह भिन्न धर्म, भिन्न भाषा हैं। फिर भी अमेरिकन प्रजा में एकता कितनी है, यह हाल ही में खत्म हुए युद्ध से साबित हो जाता है। इसके विपरीत, यूरोप के लोग एक धर्म के हैं, इसके बावजूद उनमें एकता का अभाव है, अपितु वैमनस्य कितना है, यह हाल ही में दिखाई दिया है।''[14] इस प्रकार के कई विषय डा. अंबेडकर के संपादकीय लेखों में देखे जा सकते हैं। उनका लेखन प्रचुर और विविध है। उन्होंने दलित और वंचित समाज से जुड़े विषयों के अतिरिक्त अन्य मुद्दों पर भी पर्याप्त लेखन किया है। उनके संपादकीय आलेख किसी भी कुशल पत्रकार के लिए उदाहरण की भाँति हैं। उनके संपादकीय आलेखों में समय-समाज और संस्कृति की तर्कशील और गहरी पड़ताल की गई है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि डा. अंबेडकर की पत्रकारिता के मूल स्रोत भारतीय समाज में व्याप्त अंतर्विरोध हैं जिनमें हिन्दू धर्माधारित जाति व्यवस्था प्रमुख है। डा. अम्बेडकर द्वारा निकाले गए पत्र उनके जीवनकाल से लेकर मृत्युपर्यंत उनके उद्देश्य का आंदोलनकारी स्वरूप बनाए रखते हैं। मूकनायक से लेकर प्रबुद्ध भारत तक इस आन्दोलनकारी पत्रकारिता को देखा जा सकता है। इसमें डा. अंबेडकर की पत्रकारिता विस्तृत है। उनके संपादकीय रूप में उनके अर्जित ज्ञान और तर्कबुद्धि के आश्चर्यचकित करने वाले उदाहरण प्राप्त होते हैं। डा. अंबेडकर का पत्रकार रूप भी ऐतिहासिक महत्व रखने वाला है तथा यह अपने समय और समाज में महत्वपूर्ण भूमिका ग्रहण करता है।

सन्दर्भ

1. बाबासाहेब अम्बेडकर संपूर्ण वाड्मय, खंड-17, डॉक्टर अम्बेडकर प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2020, पृ. 3
2. वासनिक विनय कुमार, अनुवादक, जनता, डॉ. बी. आर. अंबेडकर, सम्यक प्रकाशन, 2019, पृ. 13, 14
3. बाबासाहेब अम्बेडकर संपूर्ण वाड्मय, खंड-6, डॉक्टर अम्बेडकर प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2020, पृ. 16
4. वासनिक विनय कुमार, अनुवादक, मूकनायक, डॉ. बी. आर. अंबेडकर, सम्यक प्रकाशन, 2019, पृ. 23
5. बाबासाहेब अम्बेडकर सं. वांग्मय, खंड-10, डॉक्टर अम्बेडकर प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, सं. 2020, पृ. 404-05
6. वही, पृ. 169-70
7. अमनथानंद, स्वामी, अनुवादक, श्रीमद्भगवद्गीता, सामलाल दवारका, लन्दन, संस्करण, 1998, पृ. 101
8. डी. आर. जाटव, अम्बेडकर व्यक्तित्व और कृतित्व, समता प्रकाशन, जयपुर, संस्करण 1991, पृ. 223
9. बाबासाहेब अम्बेडकर संपूर्ण वांग्मय, खंड-10, डॉक्टर अम्बेडकर प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, सं. 2020, पृ. 17
10. सिंह, रघुवीर, 21वीं सदी में अम्बेडकरवाद, मनभावन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2007, पृ. 220
11. जाफलो क्रिस्तोफ, अंबेडकर एक जीवनी, अनुवाद, योगेंद्र दत्त, राजकमल प्रकाशन, 2021, संस्करण, पृ. 45
12. वासनिक विनय कुमार, अनुवादक, मूकनायक डॉ. बी. आर. अंबेडकर, सम्यक प्रकाशन, 2019, पृ. 55
13. वही, पृ. 55-6
14. वही, पृ. 23

बृजेश कुमार (शोधार्थी)
असि. प्रो. (इतिहास विभाग)
डी. ए. वी. (पी.जी.) कालेज
बुलन्दशहर

प्रो. राजेश गर्ग (शोध निर्देशक)
इतिहास विभाग
डी. ए. वी. (पी.जी.) कालेज
बुलन्दशहर

तुलनात्मक दृष्टि से दलित और आदिवासी साहित्य में अस्तित्व का संघर्ष

—डॉ. राम बिनोद रे

तुलनात्मक साहित्यिक प्रवृत्ति के अंतर्गत साम्य और वैषम्यमूलक सामग्रियों का संचयन विचार को एक सुनियोजित व्यवस्था प्रदान कर एक समतामूलक दृष्टि पैदा करता है। इसके लिए सामग्रियों की जाँच-पड़ताल की आवश्यकता होती है। यह सम और विषम रूपी पृष्ठभूमि में ही संभव है। मैलोंन के प्रत्यक्षवादी सिद्धांत के पीछे कार्य-कारण पद्धति कार्य करती है। अतः अनुभव की वास्तविकता को नकारा नहीं जा सकता है। यह क्षणिक प्रक्रिया नहीं बल्कि एक निरंतर गतिशील प्रक्रिया है जो स्वतःस्फूर्त है। तुलनात्मक साहित्य पारस्परिक सूत्रों के आधार पर वैषम्यमूलक परस्थितियों का अध्ययन कर, उन सभी विसंगतियों से रु-ब-रु करवाता है जिससे कुछ सीख लिया जा सके।

दलित और आदिवासी साहित्य इसी सामाजिक और मानवीय संवेदनाओं के द्वंदात्मक प्रतिक्रिया का प्रतिफलन है। जाति शब्द वैमनस्य पैदा करता है। हिन्दू मानसिकता इस व्यवस्था द्वारा संचालित होती है जिसमें एक जाति दूसरे के ऊपर खड़ी है जहाँ प्रेम नहीं सिर्फ घृणा है।[1] जहाँ तक आदिवासी शब्द का सवाल है, अम्बेडकर जी ने आदिवासी को जनजातीय से जोड़कर संविधान के अनुच्छेद-342 में उल्लेख किया है, परन्तु इसकी कोई परिभाषा नहीं दी गई है। आदिवासी शब्द किसी जाति विशेष से संबंध नहीं रखता है। इनकी अपनी संस्कृति, समाज, धर्म, व्यवस्था और भाषा है जो बाह्य-जगत से अछूता है। डॉ. राकेश कुमार सिंह लिखते हैं, ''आदिवासी समाज एक ऐसा समाज है जो सिमटे तो कतरा है और फैले तो समुद्र है। आदिवासी समाज की उपस्थिति साहित्य में महाभारत के एकलव्य से ले कर वर्तमान भारत के अनुज लुगुन तक हैं।''[2] आदिवासी जनजीवन सरकारी और सामाजिक विद्रूपताओं और उनके जीवन में पड़ने वाले प्रभावों से निर्मित हुआ है। दलित और आदिवासी जीवन पर केन्द्रित साहित्य पिछले तीन दशकों से प्रखर रूप से दिखाई पड़ा है।

आदिवासी समाज में भी दलित हो सकता है। उस समाज में भी दलित आत्महीनता का शिकार है। 'इस्फाक अली' का मानना है, ''दलितों और आदिवासियों की स्थिति का एक बड़ा अंतर यही है कि दलित गाँव के बाहर प्रस्थापित संस्कृति से बहिष्कृत कर उसके अधीन रह कर, उसे मानने पर मजबूर किया गया, आदिवासियों के पास

जंगल और जमीन दोनों थे और उसने संस्कृति के विरासत को हमेशा कायम रखी और वह आत्मसम्मान के साथ जीता रहा। लेकिन उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना और स्वायत्तता पर भी खतरा पैदा हो गया है।'[3] चूंकि, विस्थापन तीन प्रकार से देखने को मिलाता है। पहला प्राकृतिक विस्थापन जो प्राकृतिक आपदा जनित परिस्थितियों से उत्पन्न है। बाढ़, भूकंप, सूखा, भूस्खलन, सैक्लोंन आदि। दूसरा मानवीय विस्थापना जो भौतिक सुख सुविधाओं से संपन्न शिक्षा, प्रगति, व्यापार आदि से होता है। तीसरा मानसिक विस्थापन जो केंद्र में अधिकार, पहचान और वैयक्तिक पहचान से सम्बंधित है। विस्थापना का यह रूप आदिवासी और दलित दोनों में समानांतर रूप से देखने को मिलता है। वाल्टर भेंगरा (तरुण) की कहानी 'बेबसी' में फूलो के तीन बच्चे हैं–करमी, जतरू और मंगरा जो गाँव की आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण अपनी माँ को छोड़कर चले जाते हैं। पहला बेटा फौज में, दूसरा बेटा कॉलेज में और बेटी दिल्ली चली जाती हैं। बेटा जतरू कहता है–''देख आयो, मैंने पलटन में जाने का फैसला ले लिया है। यहाँ रहते हुए तो हम जैसे हैं, वैसे ही बने रहेंगे। इधर वर्षा पानी भी ठीक नहीं हो रहा है। खेत में सारा पसीना बहाने के बाद भी हमारे लिए खाने भर भी नहीं उपजता है। ऐसे में, जब बाहर मौका है तो मै नहीं रुक सकता।''[4] प्राकृतिक उलटफेर के कारण पुनर्वास बहुत तेजी से हो रहा है। जंगलों की कटाई और भूमि का अधिग्रहण किया जाना, कम से कम दामों में सरकार द्वारा भूमि का अधिग्रहण किया जाना कारण है। जंगलों के कटाव को कैसे रोका जाए सभी बेबस हैं। चाह कर भी कुछ नहीं कर सकते। कहानी आगे कहती है, ''बेबसी में जतरु की माँ 'जंगल के पेड़ों की कटाई देख कर वह अकसर दुखी हो जाती है। लेकिन कुछ कह नहीं पाती। उसके अपने जीवन में कितने कटाव आए हैं जिसका दर्द वह स्वयं अनुभव कर सकती हैं।''[5]

दलित और आदिवासी साहित्य में 'अनुभव की प्रमाणिकता' को ज्यादा महत्व दिया गया, परन्तु इस अनुभव में स्वानुभूति की विवृति प्रमुख हैं-अर्थात् भोगे हुए यथार्थ का चित्रण। परन्तु यह यथार्थ कभी-कभी इतना कड़वा हो जाता हैं कि पाठक उस यथार्थ को आत्मसात करने में असमर्थ और तो और नकली कहने से भी पीछे नहीं हटते। डॉ. राकेश कुमार लिखते हैं, ''अनुभव की प्रमाणिकता का कोई विकल्प नहीं होता परन्तु अनुभूति की विश्वसनीयता पर संदेह न करें, दोनों के फर्क को मिटाया नहीं जा सकता पर दोनों के बीच पुल बनाया जा सकता है। मनमोहन पाठक, डोमन साहू, समीर, रणेंद्र, पंकज मिश्रा, जयनंदन, चन्द्रिका ठाकुर 'देशदीप' कई कारीगर हैं जो पुलों का निर्माण कर रहे हैं। रमणिका गुप्ता ने इसी मिशन में अपना सब कुछ झोंक रखा हैं।''[6] दलित साहित्य में अनुभव को जीवन के नग्न-यथार्थ का चित्रण तुलसीराम के साहित्य में देख पातें हैं। यथावत चित्रण उनमें प्रमाणिकता को स्पष्ट और कल्पना को शून्य तक पहुंचाने का कार्य करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने संग्रह घुसपैठिये में 'हत्यारे' नामक कहानी में वातावरण को निम्नलिखित रूपों से चित्रित किया हैं। ''वातावरण में चिराध फैल गई थी, कालू के आँगन में पचास-साठ किलों का सुअर मारा गया था जिसे आग में भूना जा रहा था। चट-चट की आवाज के साथ घास-फूस में जलाते सुअर के बाल एक अजीब-सी दुगंध फैला रहे थे। आग और धुएं से मिल कर यह गंध पूरे मोहल्ले में फैल गई थी।'[7]

जातीय संक्रमण का भय दलित समुदाय में प्रखरतर रूप से देखने को मिलता हैं। चूंकि, भूमंडलीकरण के इस दौर में व्यवस्था परिवर्तित होने लगी है परिणामतः जातीय प्रक्रिया के रूपों में बदलाव होने लगा है। घुपैठिये कहानी में राकेश की पत्नी इंदु कहती हैं–''तुम चाहे जितने बड़े अफसर बन जाओ, मेल-जोल इन लोगों से ही रखोगे, जिन्हें यह तमीज भी नहीं कि सोफे पर बैठा कैसे जाता है....तुम्हें इनसे यारी दोस्ती करना है तो घर से बाहर ही रखो...आस-पड़ोस में जो थोड़ी बहुत इज्जत है, उसे भी क्यों खत्म करने पर तुले हो....।'[8] अर्थात्, कहने का तात्पर्य है कि जातीय संकीर्णताएं इतनी हावी हैं कि पलायनवाद का रास्ता ढूंढना पड़ता है। पलायनवाद आदिवासी जनजातियों में तब देखने को मिलता जब सरकारी तंत्र, भू-माफिया जनजातियों के पैतृक संपत्ति से बेदखल करने हेतु अनेक षडयंत्र कर उन्हें प्रताड़ित, शोषित और पीड़ित करते हैं। इसके पीछे का उद्देश्य भौतिक संसाधनों का स्वामित्व हासिल करना है। प्रत्येक पल जातीय खौफ के साए में जीना और स्वतः की पहचान को छुपाये रखने को मजबूर है। सरनेम के आधार पर व्यक्ति का आंकलन किया जाता है। गरीबी की समस्या समाप्त होने पर भी जातीय समस्या समाप्त नहीं हुई, बल्कि जातीय विस्थापन का रास्ता अपनाना पड़ता है जिसमें सरनेम के सहारे अपने को छुपाने को मजबूर किया जाता है। इंदु अपने बच्चों के साथ कहीं और जाने की बात करती है।

पशुओं की भांति जिंदगी अस्वीकार कर एक 'वृहतर जिंदगी जीने की लालसा' है। दूसरी और अपने मिटते अस्तित्व को बचाने हेतु संघर्षरत है। दोनों साहित्य अपने-अपने तरिके से अपने को समाप्त होने से बचाने के लिए प्रयासरत हैं। दलित जातीय उत्पीड़न के दलदल से सदैव बाहर निकालने को वर्षों से होने वाले उत्पीड़न दमनकारी नीति से तत्पर है, वहीं दूसरी ओर आदिवासी जातीय उत्पीड़न से मुक्त होने के बावजूद हिन्दूवादी व्यवस्था में दलित की तरह आदिवासी को भी शूद्र की श्रेणी में ही गिना जाता है। उनकी धार्मिक पहचान को ले कर समस्याएं खड़ी की जाती हैं। हिन्दू कोड बिल के तहत या दहेज एक्ट के तहत उन पर मुकदमा चलाया जाता है, जबकि आदिवासी में दहेज प्रथा है ही नहीं। उनके यहाँ कन्या शुल्क दिया जाता है।[9] जातिवाद का वीभत्स रूप आदिवासी साहित्य में दलित साहित्य की तुलना में कम है। समानता के साथ कुछ असमानताएं भी पाई जाती हैं। 'दलित भूमिहीन और जंगल विहीन हैं लेकिन आदिवासी नहीं। हंसदा सोभेन्द्र शेखर की कहानी 'वे मांस खाते हैं' में वरोदरा में बीरम-कुमंग का स्थानांतरण होने पर मिस्टर राव कहते हैं–''आदिवासी, यहाँ तक कि नीची जाति के हिन्दू, अपवित्र माने जाते हैं। मैं आशा करता हूं, आप समझते हैं,' मिस्टर राव ने बहुत ही ग्लानी के स्वर में यह कहा।''[10] आदिवासियों के पास से जल-जंगल छीने जा रहे हैं और उन्हें हीन भावना से ग्रसित कर उनसे परजीवी की तरह व्यवहार किया जा रहा है।

भूमंडलीकरण के दौड़ में आदिवासी की सबसे बड़ी समस्या भू-माफियाओं द्वारा जंगल की पूरी सम्पदा को हथियाना है। प्रशासनिक सुविधाओं का प्रलोभन दे कर उन्हें अपने जमीन से वंचित करना है जो कार्य जमींदारी प्रथा में दलितों के साथ हो रहा था, वही काम भूमाफियाओं के द्वारा आदिवासियों के साथ किया जा रहा है। आदिवासी कवि हरिराम मीणा अपनी जमीन की बेदखली पर चिंतित हैं। चूंकि, आदिवासी के पास प्रमाण नहीं है कि वह कोर्ट में दावा कर सके कि वह जमीन उस की है।[11]

दलित समाज में लड़की के विवाह की समस्या सदैव सताती रहती है। 'हत्यारे' कहानी में मामचंद और भाई सोल्हड़ को यह चिंता है, ''सब ठीक होगा ताऊ, अब्बी दिल छोटा क्यों बैठगे हों । कहने तो सोल्हड़ कह गया किन्तु मन के किसी कोने में यही सवाल उसे भी परेशान कर रहा था। वह भी बेचैन हो उठा था। घर पर बैठी जवान बहन आँखों में कंकड़-सी चुभने लगी थी। बापू बूढ़ा है, सब कुछ सोल्हड़ को करना है। मामचंद की आँखों में अपनी पीड़ा की प्रतिछाया देख कर सिहर उठा था''[12] आदिवासी समाज में लड़कियों के विवाह की चिंता नहीं, वहां लड़का और लड़की सब बराबर हैं। परन्तु कभी-कभार समानता का अधिकार उन्हें विवाह से वंचित रखता है। असल में, जहाँ एक ओर आदिवासी समाज में 'स्त्री-पुरुष में कोई छोटा-बड़ा नहीं है दोनों साथी समान। एक (पुरुष) शिकार करता है, खेती करता, दूसरा (औरत) उसकी साथी घर बच्चे देखती व खेती और शिकार के काम में पार्टनर की सहयोगी बनती है। कोई किसी पर हावी नहीं हैं।[13]

सन्दर्भ सूची

1. सफाई देवता, ओम प्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2009, पृ. 22
2. आदिवासी समाज, साहित्य और संस्कृति, संपा. जनार्दन, रवि कुमार, राकेश कुमार सिंह, अनेक प्रकाशन, दिल्ली-53, 2015, पृ. 53
3. हिंदी में आदिवासी साहित्य, इस्फाक अली, साहित्य संस्थान, 2016, पृ. 63
4. बेबसी, तरुण, युद्धरत आम आदमी, संपा. रमणिका गुप्ता, वर्ष, 2005, पृ. 163
5. वही, पृ. 163
6. आदिवासी समाज, साहित्य और संस्कृति, जनार्दन, रविकुमार गौंड, राकेश कुमार सिंह, अनंग प्रकाशन, वर्ष 2015, पृ. 56
7. घुसपैठिये, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली-32, वर्ष, 2011, पृ. 89
8. वही, पृ. 14
9. आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, समसामयिक प्रकाशन, वर्ष, 2014, पृ. 112
10. आदिवासी नहीं नाचेंगे, हंसदा सोभेन्द्र शेखर, राजपाल एंड संस, वर्ष, 2016, पृ. 18
11. आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, समसामयिक प्रकाशन, वर्ष, 2014, पृ. 122
12. घुसपैठिये, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृषण प्रकाशन, वर्ष 2012, पृ. 89
13. आदिवासी कहानियां, संपा. केदार प्रसाद मीणा, अलख प्रकाशन, वर्ष 2013, पृ. 5

डॉ. राम बिनोद रे
सहायक आचार्य,
केरल केंद्रीय विश्वविद्यालय,
कासरगोड, केरल
संपर्क- 8129102867

कबीर की परंपरा का कवि 'विद्रोही'

–जितेन्द्र कुमार यादव

रमाशंकर यादव 'विद्रोही' हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि थे। उनका व्यक्तित्व कई मायनों में अलहदा था। वे कैंपस के कवि थे। वे जेएनयू एक विद्यार्थी के रुप में आए और जीवन के अंतिम समय तक जेएनयू में ही रहे। अकादमिक रूप में उन्हें मान्यता नहीं मिली। उन्हें दिल्ली की किसी साहित्यिक गोष्ठियों में आमंत्रित नहीं किया गया। साहित्य के आभिजात्य समूह में उनका प्रवेश नहीं था। लेकिन आंदोलन और कविता को एक साथ जीने वाले कवि के रूप में उन्हें सदा याद किया जायेगा। कविता कहने का उनका अंदाज निराला था। कविता उनके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण हिस्सा बन गई थी। वे कबीर की तरह वाचिक परंपरा के कवि थे। उन्होंने अपनी कविताओं को लिखा नहीं। उन्हें जबानी अपनी सारी कविताएं याद थीं। उन्होंने कहा, ''जब कवि गाता है, तब भी कविता होती है, और जब कवि रोता है, तब भी कविता होती है। कर्म है कविता, जिसे मैं करता हूं, फिर भी लोग मुझसे पूछते हैं कि विद्रोही तुम क्या करते हो... ।''[1] कविता ही उनके जीवन का आधार थी। वह उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गई थी।

न्याय के युद्ध को कवि किसी भी हद तक जाकर लड़ना चाहता है। वह अपने हक और अधिकारों को किसी कीमत पर भी छोडने को तैयार नहीं है। एक कविता में कवि कहता है– *''मेरा सर फोड़ दो/मेरी कमर तोड़ दो/पर ये न कहो कि अपना हक छोड़ दो।''*[2] कवि विद्रोही की कविताओं में धर्म की आलोचना की गई है। कवि धर्म के नाम पर सामाजिक वर्चस्व और पाखंड का विरोध करता है। कवि कहता है– *''धर्म आखिर धर्म होता है/जो सूअरों को भगवान बना देता है/ चढ़ा देता है/ नागों के फन पर/ गायों का थन/ धर्म की आज्ञा है/ कि लोग दबा के रखे नाक/ और महसूस करें कि/ भगवान गंदे में भी गमकता है/ जिसने भी किया है संदेह/ लग जाता है उसके पीछे जयंत वाला बाण/और एक समझौते के तहत/हर अदालत बंद कर लेती है दरवाजा/अदालतों के फैसले आदमी नहीं।/ पुरानी पोथियां करती हैं... ।''*[3] विद्रोही केवल हक ही नहीं मांगता, वह पूरी भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं की भी पड़ताल करता है।

'विद्रोही' अपनी कविताओं में सभ्यता समीक्षा करते हैं। कवि स्त्रियों के ऐतिहासिक प्रताड़ना को देखता है। उसे दुनिया की सभी कथित महान सभ्यताएं स्त्रियों के लाश पर खडी हुई मालूम होती हैं। *''कि आखिर क्या बात है कि/ प्राचीन सभ्यताओं के मुहाने पर/ एक औरत की जली हुई लाश मिलती है/और इंसानों की बिखरी हुई हड्डियां मिलती*

हैं/जिसका सिलसिला/सीथिया की चट्टानों से लेकर बंगाल के मैदानों तक/और सवाना के जंगलों से लेकर/ कान्हा के वनों तक चला जाता है/''[4] कवि 'विद्रोही' दुनिया के सभी मजलूमों और वंचितों को इकट्ठा कर अपने ऐतिहासिक जुल्मों को हिसाब लेने के लिए प्रतिबद्ध है। वह कहता है– *''लेकिन मैं/स्पार्टकस का वंशज/स्पार्टकस की प्रतिज्ञाओं के साथ जीता हूं/कि जाओ कह दो सीनेट से/कि हम सारी दुनिया के गुलामों को इकट्ठा करेंगे/ और एक दिन रोम आएंगे जरूर।''*[5] इन साधारण से दिखने वाले कवि की असाधारण कविताओं के लिए जेएनयू जैसे क्रांतिधर्मी परिसर में ही जगह थी। जिन वैचारिक विथिकाओं से जेएनयू के छात्र गुजरते हैं, उसके बिना विद्रोही की कविताओं का मूल्यांकन संभव नहीं था। विद्रोही की कविताओं को समझने के लिए भारतीय समाज-संस्कृति-इतिहास के साथ-साथ विश्व भूगोल और इतिहास की समझ जरूरी है। जेएनयू कैंपस उनका मंच था, जेएनयू के छात्र उनके 'आडिएंस' और विद्रोही की आत्मा जेएनयू के खोहो-कंदराओं में बसती थी।

विद्रोही कम्युनिस्ट थे। लाल झंडे के प्रति उनके मन में आस्था थी। विद्रोही ने लिखा है,–*'लाल झंडा हर इमारत पर गाड़ा जाएगा/आपके इस धर्म कांटे को उखाड़ा जाएगा।'* विद्रोही को अन्य द्विज कम्युनिस्टों की तरह धर्म और विचारधारा को साधते नहीं देखा गया। वह नास्तिक है और उसकी हद को छू लेता है। कवि संस्कारों से किसान है। किसान को परंपरावादी, धर्मभीरू कहने वाले विचारकों के प्रति यह कविता– *''मैं किसान हूं/आसमान में धान बो रहा हूं/ कुछ लोग कह रहे हैं/पगले आसमान में धान नहीं जमता/मैं कहता हूं कि/गेंगले-घोघले/अगर जमीन पर भगवान जम सकता है/तो आसमान में धान भी जम सकता है/ और अब तो/दोनों में एक होकर रहेगा/या तो जमीन से भगवान उखड़ेगा/या आसमान में धान जमेगा।''*[6] कबीर की तरह ही विद्रोही भी 'अनभै-सॉचा' का कवि है। एक भोला-भाला प्रश्न, जिसका उत्तर हमारे कथित धर्म के ठेकेदारों के पास नहीं हैं–'क्या भगवान भी जमीन पर जम सकता है?' कवि विद्रोही इन मानवीय प्रश्नों के निरीह उत्तरावली की प्रतीक्षा नहीं करता। 'विद्रोही' कहता है– *''उनसे कहने कि गर्दन झुकाए चलो/अब गुनाहों को अपने कबूलो, चलो/दोस्तों उस घड़ी के लिए अब चलो/और अभी से चलो/ उस खुशी के लिए/जिसके खातिर लड़ाई ये छेड़ी गई/जो शुरु से अभी तक/ चली आ रही/और चली जायेगी/ अंत से अंत तक/हम गुलामी की अंतिम हदों तक लड़ेंगे/''*[7] वह मुक्ति की इस लड़ाई को बीच रास्ते में ही नहीं छोड़ना चाहता। उसे गुलामी की अंतिम हदों तक लड़ना है।

विद्रोही की कविता विचार और क्रांति की कविता है। कवि की भावना को विचार से और उसकी आस्तिकता को नास्तिकता के द्वारा पछाड़ खाना पड़ता है। उन्होंने क्रांति में आस्था जाहिर की। कवि विद्रोही कहते हैं– *''जुल्म न होता/ जलन न होती/जोत न जगती/ क्रांति न होती/ बिना क्रांति के/ खुले न खजाना/ कहीं कभी भी शांति न होती/''*[8] बिना क्रांति के शांति भी नहीं होती। उनकी कविताओं में एक समतामूलक समाज का स्वप्न निहित है। 'मोहनजोदड़ों की आखिरी सीढ़ी से', 'गुलाम', 'औरतें', 'नूर मियां', 'धोबन का पता', 'कन्हई कहार', 'भुखाली हलवाह', 'मैं अहीर हूं' आदि कविताएं जातिगत और लैंगिक उत्पीड़न के खिलाफ खड़ी हैं।

विद्रोही की कविताओं में दैन्यता नहीं दिखाई देती। वह पराजित हो गया है लेकिन वह योद्धा है। विद्रोही अपने प्रति योद्धओं जैसा सम्मान चाहता है। उनका व्यक्तिगत जीवन भी कुछ इसी प्रकार का रहा। विद्रोही ने अपनी शर्तों पर जीवन जीया। देखने में मैला-कुचैला, गरीब, भूखा-नंगा फटेहाल व्यक्ति। उनका दैनिक जीवन मुख्यतः छात्रों और कुछ अध्यापकों के सहयोग से चलता था। विद्रोही कहते थे कि वे छात्र आंदोलन से निकले हैं और छात्र आंदोलन में ही अपनी आहुती चाहते हैं। उनकी कविताओं में कभी व्यक्तिगत दुख नहीं आ पाया है। कबीर की कविता की तरह। यह पिछड़ी जातियों के साहित्य का सौंदर्य-शास्त्र है। पिछड़ी जातियों के साहित्य, जो मुख्यतः विभिन्न भाषाओं के 'लोक साहित्य' के रुप में हैं, उनमें भी खुशी का ही रंग मिलेगा।

विद्रोही विराट विम्बों का कवि है। वह बड़े-बड़े उपमानों और रूपकों के साथ अपनी कविता को बुनता है। विद्रोही का सर 'ये सर नहीं गुंबद है कोई, पीसा की मीनार है।' 'नानी' कविता में– *'और मेरी नानी की देह, देह नहीं आर्मिनिया की गांठ थी/पामीर की पठार की तरह समतल पीठ वाली मेरी नानी, जब कोई चीज उठाने के लिए झुकती थी, तो लगता था/जैसे बाल्कन झील में काकेसस की पहाड़ी झुक गई हो/ मैं देखता हूं कि मेरी नानी हिमालय पर मूंग दल रही है/और अपनी गाय को एवरेस्ट के खूंटे से बांधे हुए है।'* जब विद्रोही अपनी दादी की अंतिम राख को नदी में फेंक रहा है तो उसे ऐसा प्रतीत हो रहा है–*'मुझे लगा ये नदी, नदी नहीं/ मेरी दादी की आंखें हैं/और ये राख, राख नहीं/नूर मियां का सुरमा है/जो मेरी दादी की आंखों में पड़ रहा है।'* विद्रोही कहता है– *'मैं अहीर का*

बच्चा हूं दोस्तों! एक बूंद दूध में/सातों समंदर उड़ेल दूंगा.. ...../ 'जन-गण-मन' में कवि कहता है– *मैं एक पराजित योद्धा हूं/ और पड़ गया हूं/ मौत का विस्तर बिछाकर/ जलते हुए समंदर की बड़वाग्नि में/'* भक्तिकाल में कबीर की कविताओं में भी इसी प्रकार के विराट बिम्ब पाये जाते हैं। *'चलती चक्की देख के/ दिया कबीरा रोय/ दो पाटन के बीच में/ साबुत बचा न कोय/'* कबीर की इस कविता में पृथ्वी और आसमान को एक चक्की से तुलना की गई है। श्रमशील जातियों से आने के कारण ही इन कवियों की कविताओं में इस प्रकार के बिम्बों की परिकल्पना संभव हो पाई है।

अन्याय के खिलाफ न्याय की लड़ाई कोई नई नहीं है। कवि उन सभी आदिम स्थितियों को भी बार-बार याद करता है। 'वह एक योद्धा है और पराजित हो गया है।' उसकी कविता में आदिम सभ्यताओं के संघर्ष का उल्लेख है। मोहनजोदड़ों उसकी कविता में बार-बार आता है। *'मैं वहां से बोल रहा हूं/जहां मोहनजोदड़ों के तलाब की आखिरी सीढ़ी है/जिस पर एक औरत की जली हुई लाश पड़ी है/और तलाब में इंसानों की हड्डियां बिखरी पड़ी हैं/'* 'पुरखे' कविता में कवि कहता है– *''नदी किनारे, सागर तीरे/पर्वत-पर्वत, घाटी-घाटी/बना बावला सूंघ रहा हूं/मैं अपने अपने पुरखों की माटी/ सिंधु, जहां सैंधव टापों के/गहरे बहुत निशान बने थे/हाय खुरों से कौन कटा था/बाबा मेरे किसान बने थे।''*[9] कवि 'विद्रोही' के लिए क्रांति और मुक्ति का तात्पर्य तात्कालिक स्थितियाँ मात्र नहीं हैं, वह इतिहास के एक-एक पन्नों को खोलता है।

विद्रोही पिछड़ी जातियों का जातीय कवि है। वह अपनी कविताओं में किसानों, चरवाहों-चरवाहिनों का जिक्र करना नहीं भूलता। 'जिंदगी' कविता में कवि कहता है– *''मैं अहीर का बच्चा हूं दोस्तों/ एक बूंद दूध में/सातों समंदर उड़ेल दूंगा/और तब पूछूंगा/तुम्हारे राजहंसों से/कि बताओ/भैंस के खून में/ कितना दूध होता है/ और कितना पानी/''* विद्रोही अपनी एक कविता में इस दुनिया को अपनी भैंस की उपमा देता है– *''मैं अहीर हूं/और ये दुनिया मेरी भैंस है/मैं उसे दूह रहा हूं/और कुछ लोग/ उसे कुदा रहे हैं/ये कौन लोग हैं/ जो कुदा रहे हैं/आपको पता है/क्यों कुदा रहे हैं/हां, इतना तो पता है/कि नुकसान तो हर हालत में/हमारा ही होगा/क्योंकि भैंस हमारी है/और दुनिया भी हमारी है।''*[10] विद्रोही एक चरवाहा है और यह दुनिया उसकी भैंस। वह इस दुनिया से उसी प्रकार प्रेम करता है जिस प्रकार वह अपने पशुओं से करता है। इस दुनिया का कुछ भी नुकासान होता है तो वह उसका निजी नुकसान है क्योंकि भैंस उसकी है और दुनिया भी उसकी है। यहाँ जीवन और कविता का एकात्म हो गया है।

विद्रोही केवल हिन्दी का ही कवि नहीं है। वह हिन्दी से बड़ा अवधी का कवि है। उन्होंने अपने पारंपरिक जातीय गीत 'चनैनी' (जिसे 'अहिरऊ' भी कहा जाता है) की भी रचना की है। उनका काव्य संग्रह 'नई खेती' में संग्रहीत अवधी का एक बिरहा गीत– *''मोरे ऊसरे के खेतिया कंकरिया जमी/जैसी पुरखा-पुरनिया के सोरिया जमी/...केउ न पूछतई कि कइसे कंकरिया जमी/इ अंगरेजिया जमी ई जमींदरिया जमी/ई काश्तकरिया जमी/ इ भूमिधरिया जमी/इ सिकमी जमी और अधिकरिया जमी/गांधी-नेहरू के बाप के जगीरिया जमी... ।''*[11] विद्रोही अपने को अवध प्रदेश के सूफी संत-कवियों की परंपरा से जोड़ते थे। विद्रोही की बहुप्रतिक्षित काव्य संग्रह 'नई खेती' का 2011 में प्रकाशन हुआ। उन पर डॉक्युमेंट्री और फिल्में भी बनीं। विद्रोही के जीवन और संघर्ष पर नितिन पमनानी द्वारा बनाया गया वृत्तचित्र 'मैं तुम्हारा कवि हूं' काफी प्रसिद्ध रहा। इसे मुंबई अंतर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सव में अंतर्राष्ट्रीय स्पर्द्धा श्रेणी में सर्वश्रेष्ठ वृत्तचित्र का *'गोल्डल कौंच'* पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

कवि विद्रोही मरा नहीं है जिंदा है। वह कहता है– *''मरने को चे ग्वेरा भी मर गए/और चंद्रशेखर भी/लेकिन वास्तव में/ कोई नहीं मरा है/ सब जिंदा हैं/जब मैं जिंदा हूं/ इस अकाल में/मुझे क्या कम मारा गया है/ इस कलिकाल में/अनेकों बार मुझे मारा गया है/ अनेकों बार घोषित किया गया है/राष्ट्रीय अखबारों में, पत्रिकाओं में/कथाओं में कहानियों में/कि विद्रोही मर गया/तो क्या मैं सचमुच मर गया/नहीं मैं जिंदा हूं/और गा रहा हूं/''* विद्रोही मरा नहीं है। वह सचमुच जिंदा है और गा रहा है। वह क्रांति का गीत गा रहा है।

संदर्भ

1. रमा शंकर यादव 'विद्रोही', नई खेती, नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद, 2018, पृ. 105
2. वही, पृ. 108, 3. वही, पृ. 42, 4. वही, पृ. 49, 5. वही, पृ. 55, 6. वही, पृ. 35, 7. वही, पृ. 114, 8. वही, पृ. 139
9. वही, पृ. 62, 10. वही, पृ. 137, 11. वही, पृ. 176

जितेन्द्र कुमार यादव

सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मोतीलाल नेहरू कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, बेनितो हुआरेज मार्ग, नई दिल्ली-110021, संपर्क: 9968124622

दलित स्त्री पीड़ा की मुखरित आवाज 'हवा सी बैचैन युवतियाँ'

–रेखा अहिरवार

रजनी तिलक दलित कवियित्रियों में प्रख्यात एक ऐसी लेखिका थीं जो दलित स्त्री की पीड़ा और संघर्षमय जीवन को न केवल अपनी कविता के माध्यम से बल्कि दलित स्त्री आंदोलन के द्वारा भी लगातार सशक्त रूप में जीवन पर्यन्त आवाज देती रहीं। साहित्य जगत में जब दलित साहित्य को लेकर काफी तीखी झड़पें, स्वीकार अस्वीकार की बहस चल रही थी, तब रजनी तिलक का पहला कविता संग्रह 'पदचाप' (2000) प्रकाशित हुआ था। दलित साहित्य का यह वह दौर था जब प्रायः कुछ चर्चित साहित्यकार ही सक्रिय लेखन कर रहे थे। महिला लेखिकाएं पर्दे के पीछे थीं। 'पदचाप' कविता संग्रह के प्रकाशित होने के काफी समयान्तराल बाद उनका दूसरा कविता संग्रह 'हवा सी बेचैन युवतियाँ' (2014) में प्रकाशित हुआ। इस कविता संग्रह में कुल 35 कवितायें संग्रहीत है। उनकी कविताओं में दलित स्त्रियों के जीवन व अस्मिता के सवाल, समसामयिक-आर्थिक परिस्थितियाँ, रोजमर्रा की जिंदगी की घुटन, जाति व्यवस्था की प्रताणनाएं मार्मिक रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। दलित स्त्री ने पितृसत्ता के ढांचे को तोड़ने व घरेलू जिंदगी को नियंत्रित करने में अनेक प्रयास किए व समस्याओं का सामना करती रही। उनके जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव भी आयें लेकिन इन सभी परिस्थितियों से जूझते हुये आगे चलती रहीं।

'जीरो हूं' कविता में रजनी तिलक पुरानी पीढ़ियों की सोच कुंठा, व्यथा, आशा, निराशा और ऊर्जा को आधार बनाकर कहती हैं– *''स्त्री हूं, जीरों हूं, हर बार प्लस होती हूं, बनती हूं प्यार का दरिया, आशाओं का क्षितिज, समा लेती हूं सारी कुंठायें, सारी निराशायें!''*[1] भाव यह कि वर्तमान समाज दलित महिला के अस्तित्व को जीरो समझता है। लेकिन लेखिका महिलाओं को जीरो से सम्पूर्ण आकाश में फैलने व पितृसतात्मक रूढ़िवादी सोच से लड़ते हुये हर असंभव को संभव कर दिखाने को प्रेरित करती हैं। वह कहती है कि स्त्री अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते हुये उन सभी मान्यताओं को पीछे छोड़ देना चाहती है जो उसकी प्रगति में बाधक हैं। दलित स्त्री को आगे बढ़ने से रोकने वाली उन सभी सड़ी-गली कुरीतियों को मुँहतोड़ जवाव देकर संघर्ष करने की प्रेरणा देती है। जो मान्यताएं उन्हें अब तक जकड़े रही हैं उसका भी डट कर

सामना करती है। दलित महिलाओं को विकास के पथ पर आगे ले जाने व मौत को गले लगाने से तनिक भी न हिचकिचाती।

दलित स्त्री का समाज में अपना वजूद है और इस वजूद की रक्षा के लिए मार्ग में आने वाले झंझावातों से टकरा कर उन्हें वही चूर कर देने की ताकत रखती है। वह दलित स्त्रियों को सचेत करते हुये समाज में हो रहे स्त्रियों के प्रति जुल्म और अत्याचार के खिलाफ आंदोलन खड़ा करने तथा मंच से सामने लाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। रजनी तिलक अपनी कविताओं में कहती हैं, *''ये कवितायें मेरी उस दुनिया का हिस्सा हैं, जिसे मैंने क्षण-प्रतिक्षण जिया है और महसूस किया है। कवितायें मेरा शौक नहीं, मेरी पीड़ा है, उत्तेजना व ऊर्जा है। पीड़ा, उत्पीड़न झेलने वाली करोड़- करोड़ बेजुबान औरतों की मैं एक इकाई हूं।''*[2]

रजनी तिलक की कवितायें समाज में व्याप्त विसंगतियां, जातिप्रथा, पाखंड, ब्राह्मणवाद और पितृसत्ता पर प्रमुख रूप से ध्यान आकर्षित करती हैं। वह अपनी कविताओं में जातिप्रथा की बात न करते हुये समानता, अस्मिता और अपने अस्तित्व से जुड़े बिन्दुओं को प्रमुख रूप से उजागर करती हैं। अस्मिता के लुटने पर दलित महिलाओं की पीड़ा और अपमानजनित टिप्पणियों पर उनकी हमेशा नजर रहती हैं। दलित स्त्रियों की आशाएँ एक घर रूपी पिंजरे में ही सिमट कर रह जाती है। इसका कारण ये है कि वे महिलाएं घर से बाहर समाज में निकलने से डरती हैं और घर की चहारदिवारी तक ही सीमित रहने के लिए विवश हो जाती हैं। इसी डर को दूर करने के लिए रजनी तिलक अपनी कविता 'ए लड़की' में स्त्री को जागरूक रहने और अंधेरे में आँख खोल कार अर्थात चौकन्ना रहने की बात करती हैं, क्योंकि शिकारियों की नजर हमेशा उन पर घात बनाए रहती हैं कि कैसे अपने शिकार को हासिल किया जाए या फिर कैसे मनमाने तरीके से कार्य करवाया जाए। बलात्कारी अपने ही घमंड में चूर हो कर कारों व अंधेरी गलियों में ताक लगाए घूमते रहते हैं। उनकी गाड़ी और जीपें खुली हुई हैं अर्थात शिकार के फंसने का इंतजार करते हुये बैठे हैं। स्त्रियाँ सड़कों पर निकलने से डरती हैं व सहमी हुई नजर आती हैं, लेकिन शिकारी बिना किसी डर, भय और लाज के मजे से घूमते नजर आते हैं। बाजार हो या सिनेमा या कोई थियेटर हर जगह शिकारी किसी न किसी रूप में पहुँच जाते हैं, क्योकि उनकी हर तरफ पहुँच होती है। वह शहर में हर तरफ फैले नजर आते हैं। इसी कारण घर से बाहर निकलने के लिए महिलाएं कतराती हैं। यही कारण है कि महिलाओं का जीवन हर समय अंधेरे में ही रहता है। दलित महिला अपने आप को अंधेरे में ही नहीं बल्कि उजाले से भी बचाती है। वह दिन के उजाले में भी अपने आप को सुरक्षित महसूस नहीं करती है। घर में, खेत में, खदानों में, कार्यालयों, विश्वविद्यालयों, आँगन में, छत पर, कोने में, भीड़ में क्षीण में कहीं भी वह अपने आप को सुरक्षित नहीं पाती। इसलिए वे हर एक कदम संभाल कर चलती हैं तथा समाज से संघर्ष करती हैं। दलित महिला और समान्य महिला के अंतर को 'फर्क' कविता के माध्यम से स्पष्ट करते हुए रजनी तिलक कहती हैं– *''तुम्हारे मेरे बीच, जमीन आसमान का फर्क है, तुम लड़ती हो अपनी पहचान के लिए, लड़ती हूँ मैं, स्वाभिमान के लिए।''*[3]

दलित महिलाएं समाज में अपनी अधूरी कहानियाँ, बिखरी कविताएं, निराश पन्ने और कुंठित मन को ले कर जीने का प्रयास करती हैं। समाज और परिवार उन्हें सम्मानजनक जगह देने में अभी तक विफल ही रहा हैं। सही दिशा और उचित स्थान न मिलने के कारण दलित स्त्रियाँ अपने जीवन पर्यंत आज भी शोषण, लाचारी और तिरस्कार भरी जिंदगी जीने के लिए मजबूर हैं। खेत-खलिहान से ले कर ईंट भट्टा और झाड़ू-पोछा लगाने वाले घरों तक में इन्हें बदहाली, शारीरिक, मानसिक यंत्रणनाएँ झेलनी पड़ती हैं। दलित स्त्री के इस संत्रास को व्यक्त करते हुए डॉ. मंजू सुमन कहती हैं, ''हमारे समाज में औरत और उसमें भी दलित औरत की स्थिति काफी दयनीय है। इसे यदि यों कहा जाये कि दलित औरत हर क्षेत्र में आजादी के 75 साल बाद भी पिछड़ी है, उसकी स्थिति बद से बदतर है। उनके अधिकारों की बात तो बहुत बार की जाती है, लेकिन असलियत में अधिकारों के नाम पर उसे छला ही गया है।''[4] स्त्री के अधिकार के नाम पर सरकारें भी प्रायः निश्क्रिय ही रही हैं। कानून तो अनेकानेक बनाए गए लेकिन सच्चाई कुछ और ही है। यही कारण है कि दलित कवियित्रियाँ अनकही, अनसमझी, ठुकराई गई, धारा से छिटकी बेजान औरतों की आवाज हैं। हमेशा समाज ने निम्न जाति को अनदेखा किया है। घुटन भरी जिंदगी जीने को विवश किया। शहर हो या कस्बा या फिर गाँव, हर जगह ही दुत्कार तिरस्कार और अपमान भरी जिंदगी ही मिली है। शिक्षा और जीविका के सभी रास्ते बंद ही नजर आते हैं। दलित स्त्री हमेशा मालिक की संपत्ति के समान ही रही है। उनका मनमाने तरीके से उपयोग किया जाता रहा है।

शिक्षा की अगर बात करें तो सौ में से दस दलित

महिलाएं ही विश्वविद्यालयों में प्रवेश पातीं हैं। सरकारी नौकरी में यह आँकड़ा और भी चिंताजनक है। दलित स्त्री का जीवन बड़े ही संघर्षों से भरा हुआ होता है। बचपन से ही न चाहते हुए भी माँ के साथ या अकेले ही भरी दुपहरी में काम करना पड़ता है। कपड़े हो या खाना या फिर कोई जरूरत की चीज, उसे पाने के लिए सौ बार बोलना पड़ता है, फिर भी हर बार 'नहीं' शब्द ही सुनने को मिलता है। दूसरों की चीजों को देख कर ललचाना और मन मारकर रह जाना मानो आम लगने लगता है। परिवार में लड़की होना एक अभिशाप है और खास कर दलित होना, क्योंकि उम्र के बढ़ने पर अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। लड़की की शादी की बात हमेशा ही चर्चा का विषय रहती है। शादी भी किसी मजदूर से तय होने की बात परंतु कभी उस लड़की के भविष्य के बारे में नहीं सोचा जाता। अगर जिद्द करके पढ़ाई सरकारी स्कूल में कर भी ले तो हदसे हद बारहवीं उसके आगे घर बैठना पढ़ता है। ऐसा इसलिए भी होता है क्योंकि दलित स्त्री के विषय में उसके परिवार की सोच यह है कि ज्यादा पढ़-लिख कर कलेक्टर थोड़े न बन जाना है। यही सब सोच एक स्त्री को आगे नहीं बढ़ने देती। हमेशा पीछे की तरफ ही धकेलती रहती है। फिर भी अनेक प्रयासों के बाद किसी तरह से कॉलेज की फीस जुटाकर दाखिला लेती है और अपने लक्ष्य को पाने की राह में चल देती है। किताबों की जगह फोटो कॉपी हुये नोट्स को पढ़ना उसकी मजबूरी हो जाती है, क्योंकि उसे अपने ही घर में लड़कों की अपेक्षा कमतर मापा जाता है।

अन्य वर्गों की स्त्रियों की तुलना में दलित स्त्री के संघर्ष का दायरा बहुत बड़ा है। वे स्त्रियाँ घर के काम को करने के बाद आराम पा जाती हैं लेकिन दलित स्त्रियों को घर का सारा काम धंधा करने के बाद मजदूरी के लिए अथवा दूसरे के घरों की सफाई करने के लिए हाथ में झाड़ू और बाल्टी लिए निकलना पड़ता है। दलित स्त्री के इस पीड़ा को रजनी तिलक 'भंगिन' नामक कविता में बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती हैं– *''हमारी बस्ती में, काली काली सी बुढ़िया, हर रोज बिना रुके, आँधी हो या तूफान, रविवार हो या तीज त्योहार, सुबह होते ही हाथ में बाल्टी झाड़ू थामें आती है, मैंने उसको माह की सर्दी में ठिठुरते फटेहाल देखा है।''*[5] दलित स्त्री की यह बेबसी और लाचारी ही है कि वह नंगे पैर चल कर भी परिवार के लोगों के लिए दो जून की रोटी की व्यवस्था करती है।

परिवार की अर्थव्यस्था की मेरुरज्जु ये औरतें अर्धांगिनी की परिभाषा को तोड़ती हैं और पूरा शरीर बन कर सुबह घर में सबसे पहले उठकर घर का काम निपटातीं हैं। अपने निराशा में डूबे मन के साथ खेत से लेकर सड़क, गली-मुहल्ले को साफ करती हैं। दलित स्त्रियाँ पति के साथ-साथ फैक्ट्रियों में भी कंधे से कंधा मिला कर काम करती हैं। लेकिन वहाँ भी इनके साथ दोयम दर्जे का व्यवहार होता है। पुरुष की अपेक्षा ये मेहनत ज्यादा करती हैं किन्तु मजदूरी पुरुष की आधी पाती हैं। इस व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करते हुये रजनी तिलक अपनी कविता 'मीठी अनुभूतियों को' में लिखती हैं- "तुम्हारे खेत की बंजर भूमि को सींचा है, हमारे पसीने की एक-एक बूँद, तुम्हारे खानों की गहराइयों में टपका है...तुमने काँटों से मार्ग भर दिया हमने तुम्हारी अट्टालिकाएँ चिनी, तुमने सूरज भी उसमें कैद किया, हमने अपने खुरदरे हाथों से पीट-पीट लोहा, कुदाल गढ़ा, तुमने हमारी कला को, हमारे हृदय में झोंक दिया।''[6] मजदूरी उन्मूलन के लिए हमारे देश में अनेक कानून बने, लेकिन वे सिर्फ कागज पर ही बनकर रह गए। हकीकत में आज भी मजदूर खास कर महिला मजदूर बेगार प्रथा को ही ढो रही हैं।

गाँव-दिहात की महिलाएँ जहाँ दूसरे के खेतों में मजदूरी करने को मजबूर हैं, वहीं दूसरी ओर शहर की दलित महिलाएँ अनेक घरों में झूठे बर्तन व झाड़ू-पोछा करके अपना गुजर-बसर कर रही हैं। रजनी तिलक महिला सशक्तिकरण पर जोर दे कर उनके उत्थान हेतु अपनी संस्था और स्वयं के सामर्थ्य अनुसार आजीवन सहायता करती रहीं हैं। जन जागरूकता करते हुए रजनी तिलक अपनी कविताओं के माध्यम से भी समाज के प्रत्येक वर्ग तक दलित स्त्री की संघर्ष यात्रा को पहुंचाती हैं। इस कविता संग्रह की भूमिका में रजनी तिलक लिखती हैं, "हिंदी दलित कविता का संघर्ष पुराना है, परंतु स्त्री चेतना उसकी अभिव्यक्ति का समावेश होना उसे स्वीकार करना अभी बाकी है। मेरी कविताओं में दलित स्त्रियों के सवाल, परिस्थितियाँ, जिंदगी, जाति व्यवस्था और पितृसत्ता के ढांचे को तोड़ने में जितना तीखापन आया है उतना ही घरेलू जिंदगी में व्यक्तित्व को नियंत्रित करने में कटाक्ष भी आए हैं।''[7] इनके कटाक्ष संपूर्ण पितृवादी पुरुष सत्ता के तिलस्म को बेनकाब करते हैं।

दलित स्त्री विरोधी नीतियों का पर्दाफास करती हुई रजनी तिलक के इस संग्रह की कविताएँ कार्यपालिका व न्यायपालिका को भी प्रश्न के घेरे में लाती हैं। आजादी के इतने वर्ष व्यतीत हो जाने के बावजूद, दलित स्त्री अपने बलात्कारियों को जेल की वजाए खुले में टहलते हुए देखती है। दलित स्त्री अधूरी आजादी के इस क्रूर अनुभव को दिन प्रतिदिन देखते हुए डर के माहौल में जीती है। स्त्री का इस

तरह घुट-घुटकर जीना और अपने साथ हुए अन्याय का विरोध न कर पाने की बैचेनी को चित्रित करती 'बलात्कार' कविता के माध्यम से वह कहती हैं, *''जौनपुर की फूलपत्ती का हुआ बलात्कार, काट लिया बलत्कारी का उसने लिंग, काट रही अब चक्कर थाने के, भूख, उपेक्षा से खड़ी वो न्याय के द्वारे, जाति, गरीबी उनकी दुश्मन है, उसके लिए लड़े कौन? कौन है जो उसके साथ खड़ा?''*[8] इस तरह हम पाते हैं कि जो शासन प्रशासन दबे कुचले लोगों की रक्षा के लिए है, वह उनकी सहायता न करके अन्याय करने वाले लोगों के साथ खड़ी दिखाई देती है। ऐसी शासन व्यवस्था की विसंगीतियों को उजागर करते हुए दलित स्त्रियों को जागरूक होने का संदेश देती हैं।

रजनी तिलक की भाषा की अगर बात करें तो वह परंपरागत सौंदर्य बोध को नहीं दर्शाती बल्कि आक्रोश, पीड़ा व सपाट सीधी बात करती है। उनकी भाषा प्रकृति का वर्णन नहीं बल्कि सजीव मानव के रूपों का चित्रण करती है। सहजता, सरलता के साथ दलित बस्तियों की आम बोल-चाल की भाषा इनकी कविता में सर्वत्र दिखाई देती है। अलंकारिकता का अनावश्यक बोझ न ढोते हुए दलित समाज में प्रचलित भाषा का प्रयोग हुआ है। भाषा का यह रूप ही दलित स्त्री कविता को विश्वसनियता प्रदान करते हुये एक विस्तृत फलक देती है। रजनी तिलक की भाषा में उत्तेजना, आक्रोश और आक्रामकता तो है लेकिन वह बहुत ही शालीन भाषा में अभिव्यक्त हुई है। ऐसी भाषा जो दलित स्त्री की पीड़ा, अपमान और व्यथा की सही और यथार्थवादी अभिव्यक्ति कर सके। शैली के प्रयोग की दृष्टि से भी इनकी कविता में नवीनता दिखाई देती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रजनी तिलक के कविता संग्रह 'हवा सी बैचेन युवतियाँ' की संपूर्ण कवितायें दलित स्त्री की पीड़ा, व्यथा को व्यक्त करते हुए उनमें शिक्षा के प्रति जागरूकता और अन्याय के खिलाफ लड़ने की ताकत प्रदान करती है। सामाजिक अंधविश्वासों से दूर रहने तथा अपने अधिकारों के लिए जागृत व सचेत रहते हुए अपमान जनक जीवन को अस्वीकार करने की प्रेरणा देती हैं। स्त्री विरोधी मान्यताओं का खंडन करते हुए गली-चौराहों पर, रात के अंधेरे रास्तों पर सावधान रहने की सलाह देती हैं। स्त्री-पुरुष की असमानता को खंडित करते हुए वर्चस्ववादी पितृसत्ता की कूटनीति पर करारा प्रहार करती हैं। सामाजिक समानता की पैरोकार रजनी तिलक की कविताएँ स्त्री मन में उठने वाले सहज और सरल प्रश्नों को समेटे हुए विषमता के कई रंग को उकेरती हैं। मगर ये रंग, ये चेहरे, घृणा, आक्रोश के अतिरेक की उपज नहीं है। इन कविताओं में शोषणवादी सत्ता को कोसा नहीं गया है। बल्कि इसके इन कविताओं में संवादधर्मिता के कई भाव उभरे हैं। रजनी तिलक की कविता का सफर जीरो से शुरू होकर प्लस में आगे बढ़ता ही रहेगा।

संदर्भ

1. तिलक रजनी, (2014), हवा सी बेचैन युवतियाँ, स्वराज प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 11
2. तिलक रजनी, (2000), पदचाप, निधि बुक पटना, पृ. 8
3. तिलक रजनी, (2014), हवा सी बेचैन युवतियाँ, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 24
4. सुमन डॉ. मंजू, (2014), दलित नारी एक विमर्श, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं. 10
5. तिलक रजनी (2014), हवा सी बेचैन युवतियाँ, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 62

6 .वही, पृ. सं. 69

7. वही, (भूमिका से), पृ. सं. 10
8. वही, पृ. सं. 22

रेखा अहिरवार
सी. एम. पी. डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

'कुच्ची का कानून' कहानी में अभिव्यक्त स्त्री-प्रतिरोध का स्वर

–शिव देव प्रजापति

शिवमूर्ति ने अपने कथा-साहित्य के माध्यम से ग्रामीण जीवन की विषमताओं और अंतर्विरोधों का नग्न यथार्थ रूप में चित्रित किया है, जहां समाज व्यवस्था की गहरी जड़े मानवीय संबंधों को छिन्न-भिन्न करती दिखाई देती हैं, जहां स्त्रियों को गहन यातनाओं और विवशताओं से जीना पड़ता है। ''समस्त संसार में स्त्रियाँ मनुष्य होने के बावजूद सबसे ज्यादा यातनाओं की जद में आने वाली प्राणी है। उन यातनाओं की प्रकृति और चरित्र में एक वैश्विक एकरूपता है। अंतर है तो बस राष्ट्रीयता और धर्मों का।''[1] 'कुच्ची का कानून' कहानी में कुच्ची तथा अन्य स्त्री पात्र कुच्ची की सास अपने समय के समाज के जटिल नियमों, रूढ़ियों, परंपराओं के खिलाफ विरोध करती नजर आती हैं।

'कुच्ची का कानून' कहानी में कुच्ची का पति बजरंगी जिसकी मृत्यु जहरीली शराब पीने से हो गई थी। कुच्ची के सिर से उसके पति का साया उठ चुका था। वह एक विधवा स्त्री के रूप में अपना जीवन जीने को बाध्य हो जाती है। समाज में एक विधवा स्त्री का जीवन इतना विषाक्त हो जाता है कि साधारण स्त्री के लिए सांस लेना दूभर हो जाता है। गांव, देश, समाज की बात छोड़ दीजिए स्त्रियां अपने घर में ही सुरक्षित नहीं है। बनवारी रिश्ते में कुच्ची का जेठ लगता है लेकिन वह कुच्ची के साथ अमानवीय व्यवहार करने की ताक में हमेशा लगा रहता है। ''बोझ उठाकर बनवारी के सिर पर रखवाया और जैसे ही मुड़ने को हुई थी कि बनवारी ने दाहिने पंजे से उसकी बाई छाती दबोच ली। उसने चिहुँक कर उसके हाथ को झटकना चाहा लेकिन पकड़ इतनी सधी हुई थी कि मुक्त होने के लिए उसे जमीन पर बैठ जाना पड़ा। माख से उसकी आंखें भरभरा गई। इतना पाप पाले हुए हैं ये उसके लिए अपने मन में। संभली तो उठते हुए इतना ही बोल पाई-यह काम ठीक नहीं किया बड़कउ।''[2] यहां कुच्ची अपने जेठ की इस करतूत के लिए उसे चेतावनी तो दे देती लेकिन उसके इस अमानवीय कार्य के लिए घर में किससे कहे? वह पहले तो हिचकती है कि एक तो स्त्री जाति ऊपर से विधवा, विधवा स्त्री को वैसे भी समाज में कदम फूंक-फूंक कर रखना पड़ता है।? वह हिम्मत जुटाकर अपनी सास को इस घटना को बताती है।

कुच्ची स्त्री-अस्मिता को बचाने के लिए समाज में अपने कोख के अधिकार की बात करती है। वह एक अबला विधवा का जीवन नहीं जीना चाहती है। वह अपने हक को हासिल करने के लिए अपने परिवार की संपत्ति की रक्षा के लिए और अपने मातृत्व की पूर्णता के लिए संघर्ष करती है। कहानी में अभिव्यक्त स्त्री-प्रतिरोध और संघर्ष की उड़ान कुच्ची तक ही सीमित नहीं है। उसने अपनी बूढ़ी सास के भीतर भी प्रतिरोध की ज्वाला जगा देती है। कुच्ची का ससुर रमेसर डरपोक है। वह भतीजे बनवारी से झगड़ा नहीं बढ़ाना चाहता, वह अपनी पत्नी को भी लड़ने को रोकता है। कुच्ची का ससुर जब कुच्ची पर ही झगड़ा बढ़ाने का आरोप लगा बैठते है तो बूढ़ी सास कुच्ची पर लगे इस आरोप को बर्दाश्त नहीं कर पाती और बिफर उठती है। ''झगड़े की जड़ बहू है कि तुम्हारा वह कसाई भतीजा, जिसके मुंह में लगाम नहीं है? जो हमारी खेती-बारी और घर द्वार पर ही नहीं, बहू पर भी दांत गड़ाए बैठा है।''[3] यहाँ एक स्त्री का दूसरी स्त्री के समर्थन में पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर चोट किया है।

'कुच्ची का कानून' कहानी में कुच्ची का प्रतिरोध अपने गांव, परिवार और समाज के लोगों से है। कुच्ची अन्याय के खिलाफ खुल कर आवाज उठाती है। बनवारी जब उसे अपने जाल में फसाने के लिए अनेक प्रकार का षड्यंत्र बुनता है। बनवारी की निगाह रमेसर के जमीन जायदाद पर टिकी रहती है। उसे हथियाने के लिए हर संभव कोशिश करता है, लेकिन कुच्ची उसके इन सब मंसूबे पर पानी फेरती नजर आती है, ''लेकिन कुच्ची का कहना था कि बात एक डाल की नहीं, अपने हक-हिस्से के लिए खड़े होने की है। वह एक-एक चीज हड़पता जा रहा है। टोका नहीं गया तो मनबढ़ होता चला जाएगा।"[4]

स्त्री-संघर्ष को शिवमूर्ति अपनी कहानियों में हमेशा आगे रखते हैं, बाकी अन्य सभी पक्ष गौण और अनुषंगिक रहता है। चाहे वह 'तिरिया चरित्तर' की विमली हो, 'कुच्ची का कानून' की कुच्ची हो, 'अकालदंड' की सुरजी हो या 'कसाई बाड़ा' की शनिचरी हो। प्रत्येक जगह पर स्त्री-संघर्ष को वह भी अति साधारण एवं गरीब तथा लाचार स्त्री पात्रों के माध्यम से कथा का आधार बुनते हैं। इस लड़ाई में प्रायः स्त्रियां खुलकर विरोध करती हैं।

'कुच्ची का कानून' में कुच्ची स्त्री संघर्ष और प्रतिरोध की नई मिसाल है। इस कहानी की पंचायत 'तिरिया चरित्रर' की पंचायत से एकदम भिन्न है। यहां स्त्री अनपढ़ व सामाजिक बेड़ियों में कैद होते हुए भी अधिक वाचाल है, ''जब मेरी भूख पूरे गांव की भूख नहीं बनती, मेरा डर पूरे गांव का डर नहीं बनता, मेरा दुःख-दर्द पूरे गांव का दुख-दर्द नहीं बनता तो मेरे किए हुए किसी काम से पूरे गांव की नाक कैसे कट जाएगी?''[5] कुच्ची के इस प्रश्न का जवाब पंचायत के किसी सदस्य के पास नहीं रहता है।

पंचायत में कुच्ची के संघर्ष की नियति निराशाजनक नहीं है। वह पूरी सड़ी-गली पितृसत्तात्मक व्यवस्था को परिवर्तित करने का मार्ग प्रशस्त करने का साधन बनाती है। कुच्ची उतनी पढ़ी लिखी नहीं थी फिर भी उसे गलत क्या है और सही क्या है? जानती और समझती थी। बलई ने जब नेहरू द्वारा बनाए कानून की बात करते हैं तो कुच्ची प्रतिरोध में बोल उठती है-''और आप ने तो गजब का कानून बताया बाबा। दूसरे का पैदा किया हुआ गोद ले लूं तो उसे सब कुछ मिल जाएगा और अपनी कोख से पैदा करूंगी तो उसे कुछ भी नहीं मिलेगा। जो मेरी कोख से पैदा होगा, उसका आधा चाहे जिसका हो लेकिन आधा खून तो मेरा होगा। गोद वाले बच्चे में तो मेरे खून की एक बूंद भी नहीं होगी। दोनों में से मेरा ज्यादा सगा कौन हुआ?''[6] कुच्ची अपने तर्कपूर्ण बात से बलई को मात देती है। दरअसल कुच्ची इस समाज के जटिल बंधनों से बखूबी लड़ना जानती है। वह विरोध जताते हुए अपनी बात को रखती है। इस प्रकार समाज द्वारा बनाया गया दकियानूसी कानून धरा का धरा रह जाता है और जीतता है तो कुच्ची का कानून।

शिवमूर्ति कुच्ची के माध्यम से स्त्री की सोच, उसके चरित्र के साहस पराक्रम में, उसकी राजनीतिक जागरूकता में गांव के सामाजिक परिवेश में और आस-पास के समूचे वातावरण में कालांतर में आए बदलाव को एक नया मोड़ दिया है। ''स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात नारी घर से बाहर आकर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्रों में भाग लेने के बाद भी परंपरागत संस्कारों से पूर्णतया अलग नहीं हो पायी है। भारत की सामाजिक व्यवस्था में आए परिवर्तनों ने नारी के व्यक्तित्व के विकास में कतिपय आधार तो बदले किन्तु पारिवारिक दृष्टि से नारी आज भी परिवार का केंद्र बिन्दु है और पुरुष परिवार का अधिकारी।"[7]

'कुच्ची का कानून' में पंचायत को एक तरह के शास्त्रार्थ की बेदी की भांति प्रस्तुत किया गया है। यहां शास्त्रार्थ का विषय धार्मिक विचार के निष्पादन से न जुड़कर, एक विधवा स्त्री के कोख के अधिकार से जुड़ा है। यहां विधवा स्त्री एक अबला के रूप में है। उसे धर्म-शास्त्रों का उतना अधिक ज्ञान नहीं किंतु उसका व्यवहारिक ज्ञान अधिक प्रबल है। उसकी साधारण सी बुद्धि में असाधारण तर्क समाहित है। पंचों का समूह रूढ़ियों और परंपराओं के

पक्षधर में है। इन रूढ़ियों एवं परंपराओं के विरोध में कुच्ची पंचायत के सामने अपने हर कृत्य को तर्क की कसौटी पर कसती हुई सामने रखती है। ''मेरा आदमी तो एक बार मरके फुर्सत पा गया लेकिन बेसहारा समझ कर हर आदमी किसी न किसी बहाने मुझे रोज मार रहा था। मैं मरते-मरते थक गई तो जीने के लिए अपना सहारा पैदा कर रही हूं।"[8]

भारतीय ग्रामीण सामुदायिक पंचायतों की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि पहले से ही विवाद से संबंधित दबंग तथा जबर व्यक्ति या परिवार के पक्ष में झुकी हुई होती है। उसी के पक्ष में निर्णय करती है। 'कुच्ची का कानून' कहानी में जिस पंचायत का ताना-बाना बुना जाता है वह भी इसी का उदाहरण हैं। यहां भी पंचायत का मुखिया लछिमन चौधरी शुरू से ही बनवारी के पक्ष में खड़ा है। जब उसे कुच्ची के तर्को की काट समझ में नहीं आती है तो वह उसकी संतान के संबंध के हक में बात करके टांग अड़ाने की कोशिश करता है। जब पंचायत में फसल पर अधिकार किसका जैसा प्रश्न सामने आता है तो लछिमन चौधरी बलई बाबा के बचाव में आते हुए कहते हैं "मेरे विचार से तो बीज ही परधान है। खेत किसी का हो जो बोया जाएगा, वही पैदा होगा। आम के बीच से आम। बबूल के बीज से बबूल। बोया बीज बबूल का, आम कहां से होय?''[9]

यह कुच्ची का सौभाग्य है कि पंचायत में उसके अधिकार की अनुशंसा करने वाली गांव की खरी-खरी बात कहने वाली और संघर्षशील पूर्व प्रधान सुघरा ठकुराइन भी मौजूद है। लछिमन चौधरी की बात का जवाब पर कहती है-"सवाल यह है कि फसल पर हक किसका होगा? एक आदमी अपने खेत में गेहूं बो रहा है। उसके बीज के कुछ दाने बगल के जौ के खेत में छिटक कर चले गए। फसल तैयार होने पर साफ पता चल रहा है कि गेहूं के पौधे बगल वाले बीज से पैदा हुए हैं। तो क्या गेहूं के खेत वाला जौ के खेत में उगे गेहूं के उन पौधों पर अपना हक जता सकता है?''[10] सुघरा के इस तर्कपूर्ण प्रश्न से लछिमन चौधरी के हाथ से बाजी निकल जाती है। पंचायत में सुघरा के प्रतिरोध के भिड़ने का साहस किसी में न था। सुघरा ठकुराइन पंचायत में कुच्ची के बहाने भारतीय स्त्री की वर्तमान स्थिति को चर्चा के दायरे में लाने की कोशिश करती है।

'कुच्ची का कानून' कहानी में अपनी बात निष्पक्षता के साथ रखने वाले गांव के सम्मानित बुजुर्ग धन्नू बाबा कुच्ची के प्रति सहानुभूति रखते हैं। धन्नू को धर्म-शास्त्रों के ज्ञाता के रूप में गांव में जाना जाता है। गाँव के लोग उनकी बात पर भरोसा करते हैं। धन्नू कुच्ची को मानते थे, उसके बल स्वभाव तथा गुणों के प्रशंसक भी हैं। कुच्ची पंचायत से पहले बाबा के पास तीन दिन बैठकर शास्त्रोक्त नियमों को जानने-समझने का प्रयास करती है। धन्नू बाबा जब उसके साहस को बढ़ाने वाली बात करते हैं, वह उन्हें ध्यानपूर्वक सुनती है। ''कोई बात नहीं, तू पहली औरत थोड़े हैं जो इस तरह से माँ बनी है। जब से यह दुनिया बनी है, ऐसे अनगिनत बच्चे पैदा होते रहे हैं। एक से बढ़ कर एक प्रतापी, एक से बढ़ कर एक महारथी। बाबा ने उसे कर्ण, हनुमान, सीता पाँचों पांडवों आदि की पैदाइश के किस्से सुनाते हुए कहा कि तू पहली औरत है जो कह रही है कि अपनी जरूरत से पैदा कर रही हूं। ऐसा सोलह आने सच कौन बोल पाया है आज तक?''[11] धन्नू बाबा के इन पौराणिक बातों को सुनने और समझने के बाद कुच्ची भरी पंचायत में प्रतिरोध के स्वर में बोलती है ''कुंती माई डर गईं, अंजनी माई डर गईं, सीता माई डर गईं लेकिन बालकिसन की माई डरने वाली नहीं है। मेरा बालकिसन पैदा होकर रहेगा।"[12] कुच्ची का प्रतिरोध भरी बातें सुन कर एक पल के लिए पूरी पंचायत शांत हो जाती है। कुच्ची के इस प्रतिरोध के आगे पंचायत का कोई सदस्य न बोल सका। उसके पक्ष मे सभी महिलायें ताली बजा कर कुच्ची के इस साहस और पराक्रम की प्रशंसा करती हैं।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. ऋत्विक राय (सं), लमही, अक्टूबर-दिसंबर, 2012, श्री मंत शिवम् आर्ट्स, लखनऊ, पृ. 40
2. शिवमूर्ति, 'कुच्ची का कानून', पहला संस्करण, 2017 राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, पृ. 85
3. वही, पृ. 103, *4.* वही, पृ. 100, *5.* वही, पृ. 119
6. वही, पृ. 120
7. डा. गणेश दास, स्वातंत्रयोत्तर हिंदी कहानी में नारी के विविध रूप, पृ. 11
8. शिवमूर्ति, 'कुच्ची का कानून', पहला संस्करण, 2017 राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पृ. 118
9. वही, पृ. 133
10. वही, पृ. 133
11. वही, पृ. 114
12. वही, पृ. 137

शिव देव प्रजापति
पीएच. डी. शोध छात्र,
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो. नं. 8808336994

गोर्की के उपन्यास 'माँ' में चित्रित स्त्री पात्रों का संघर्ष एवं चरित्र-चित्रण

—राकेश कुमार

माँ मक्सिम गोर्की का सुप्रसिद्ध एवं विश्वविख्यात उपन्यास है जो रूसी क्रांति का दहकता दस्तावेज है। मक्सिम गोर्की ने माँ उपन्यास के माध्यम से क्रांति का एक अनोखा अंदाज एवं हृदय को स्पर्श करने वाली कथा कही है। माँ उपन्यास के कथा के केंद्र में निम्न वर्ग एवं मजदूर वर्ग रहा है। पूरी कथा इसी वर्ग के इर्द-गिर्द घूमती दिखाई देती है। इस उपन्यास में मजदूर और जार जो पूँजीपति या शासक वर्ग का प्रतिनिधि है, दोनों के बीच के द्वंद और किस प्रकार जार मजदूरों का शोषण और दमन करता है, उसका बड़ी ही मार्मिक चित्र खींचा है। गोर्की ने रूस में रहते हुए जारशाही के उत्पीड़न को स्वयं सहा था। देशवासियों की गरीबी एवं अज्ञानता ने उन्हें अंदर से पूरी तरह झकझोर दिया जिसके कारण इन्होंने माँ जैसा समाज को जागरूक करने वाला उपन्यास लिखा। माँ उपन्यास समग्र मानव समाज और व्यक्ति के कर्तव्य एवं अधिकारों से जुड़े प्रश्नों को प्रस्तुत करता है। गोर्की ने अपने माँ उपन्यास के माध्यम से परंपरागत रूप से चले आ रहे उपन्यासों की परिपाटी को छोड़ उसे नई जमीन पर रोपने का काम किया है। यह रूसी साहित्य में मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला पहला उपन्यास था, जो मजदूरों को सामाजिक अन्याय का शिकार होते नहीं वरन उसके खिलाफ दिलेरी से लड़ते हुए दिखलाता है। इन्होंने अपने माँ उपन्यास में संपूर्णता और कलात्मकता के साथ मजदूरों को मुख्य चरित्र के रूप में रचना में स्थान दिया, साथ ही उनका एक ऐसा चरित्र दर्शाया जो पूरी तरह दृढ़ संकल्पित होकर सारे मसलों का हल स्वयं अपने हाथों द्वारा कर रहा एवं सभी घटनाओं को अपनी जरूरतों के हिसाब से गढ़ रहा है। इस में मजदूरों की प्रशंसा एवं उनके बहादुरी के गीत गोर्की ने गाए हैं। इसकी महत्ता को हम इस प्रकार आंक सकते हैं कि वर्षों बाद आज के समय में भी इसका जादू कायम है। अपनी कथा की विशिष्टता के कारण आज भी यह उपन्यास बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। यह उपन्यास आज भी समाज को आईना दिखाने का कार्य बखूबी ढंग से कर रहा है। गोर्की का नायक जो मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, वह अपने वर्ग या अपने देश से संबंधित ना होकर पूरे विश्व को एकजुट कर उसके कल्याण की कामना करता है।

गोर्की के उपन्यास माँ में उसकी नैतिक स्थिति उसके नायक पावेल एवं नायिका निलोवना के चरित्र के माध्यम से व्यक्त हुई है। कथा के आरंभ में निलोवना की स्थिति बाकी सैकड़ों दूसरी स्त्रियों से भिन्न नहीं थी, जो अपनी ताकत से भी ज्यादा दिन भर घरों और कारखानों में खटती और रात में अपने पियक्कड़ पतियों द्वारा पिटती एवं सताई जाती, बाहर का सारा गुस्सा इन पर ही उतारा जाता और यह अपना भाग्य समझ चुपचाप सहती जाती। लेकिन जब निलोवना के पति की मृत्यु हो जाती है और उसका बेटा पावेल मजदूरों की बंधी हुई परिपाटी वाली जिंदगी से खुद को अलग कर क्रांतिकारी बन जाता है, तो वह उसके साथ खड़ी होती है और उसके बताए नक्शे कदम पर आगे बढ़ने लगती है। निलोवना ही वह मजदूर स्त्री है जिसके कारण इस पुस्तक का नाम माँ दिया है। माँ को इस उपन्यास में रूसी स्त्री चरित्र के एक आदर्श के रूप में दिखलाया गया है, साथ ही स्त्री की भूमिका समाज में कितना महत्वपूर्ण है और स्त्री भी क्रांति का जनक हो सकती है, दर्शाया है। गोर्की ने माँ के माध्यम से मिल के मजदूरों में क्रांति की चेतना जगाने का प्रयास किया है। विभिन्न लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्त्रियों के संघर्ष और उसकी समस्याओं को चित्रित किया है और उसके समाधान के लिए अपनी चिंता प्रकट की है। स्त्रियों पर हो रहे अत्याचार, उनका किस प्रकार पुरुष प्रधान समाज द्वारा शोषण किया जा रहा था सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में किस प्रकार उनकी भूमिका की उपेक्षा की जा रही है, उन्हें किस प्रकार हाशिए पर ढकेल दिया गया है, सारी घटनाओं को गोर्की ने अपने आंखों से देखा था। इसलिए गोर्की अपने माँ उपन्यास में एक पर्यवेक्षक के रूप में जीवन के सभी पहलुओं में होने वाले उथल पुथल और स्त्रियों की स्थिति को प्रस्तुत करते हैं और दिखलाते हैं कि स्त्रियाँ भी क्रांतिकारी हो सकती हैं और समाज के हित में उनका योगदान भी कम नहीं है। गोर्की ने अपने उपन्यास मां में निलोवना, सोफिया, नताशा, साशा एवं लुडमिला और मारिया जैसे स्त्री पात्रों का वर्णन कर एक मार्क्सवादी नारीवादी के रूप में अपनी क्रांतिकारी भूमिकाओं को यथार्थ के धरातल पर चित्रित करने का प्रयास किया है। इन स्त्री पात्रों के जीवन संघर्षों को गोर्की ने बड़े ही कुशलता के साथ व्यक्त किया है। वे उपन्यास में दिखलाते हैं कि कैसे स्त्रियाँ अपनी परिस्थितियों से लड़ती हुई क्रांतिकारी बन जाती हैं और अपने और सर्वहारा वर्ग के विकास के लिए जोखिम भरे कदम उठाने से भी नहीं घबराती हैं। इन्हीं स्त्री पात्रों का वर्णन हम यहां करेंगे।

निलोवना ममता उदासी एवं भीरूता की साकार मूर्ति थी। उसने अपना आधा जीवन डर में व्यतीत किया था इसलिए अपने बेटे के क्रांतिकारी बन जाने पर वह घबराती है। निलोवना बूढ़ी एवं अनपढ़ महिला थीं उसने अपने जीवन में बहुत दुःख एवं पीड़ा झेली थी। वह कहती हैं "जब मैं अपने जीवन के बारे में सोचती हूँ तो हे भगवान कृपा निधान! मैं किस बात के लिए जीती थी? खून पसीना एक करना और ऊपर से मार खाना। अपने पति के अलावा कुछ भी देखा जाना नहीं। भय के अलावा इस जीवन में कुछ जाना नहीं। बीस बरस तक मैंने इस तरह जीवन बिताया। ऐसा मालूम पड़ता है कि कोड़े मार-मार कर मेरे शरीर से हर चीज निचोड़ ली गई है और मेरी आत्मा को अंधा और बहरा करके बंद कर दिया गया है।"[1]। निलोवना अपने बेटे के बताए क्रांतिकारी मार्ग पर सिर्फ चलती ही नहीं वरन उसके रास्ते की सारी बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न भी करती है। वह अपने बेटे की तरह स्वयं भी क्रांतिकारी बन जाती है और जोखिम से जोखिम काम जैसे कारखाने में पर्चे बांटना, दूर दराज के गांवों में जाकर क्रांतिकारियों के लेखों और पर्चों को बांटना साथ ही उनके अधिकारों को समझाना आदि कामों को बड़े निडर भाव से करने लगी। निलोवना इस उपन्यास में माँ के आदर्श रूप से मुखरित होती है। अपने बच्चे से प्रेम करते-करते वह संपूर्ण मज़दूरों और गरीबों से प्रेम करने लगती है और उनके हितों के लिए अपने जान तक को जोखिम में डालने के लिए तत्पर हो जाती है। गोर्की का उपन्यास का नाम माँ रखना काफी हद तक सार्थक रहा है, क्योंकि माँ का इस उपन्यास में आदर्श और क्रांतिकारी रूप दिखाया गया है। साथ ही यह भी दिखलाया कि स्त्री भी क्रांति की संवाहक हो सकती है।

नताशा क्रांतिकारियों को उनके मूल अधिकारों और क्या कार्य करने है और कैसे करने हैं, जैसी बातों को बतलाती है। उसका चित्रण एक टीचर के रूप में होता है। नताशा अमीर घर से आने के बावजूद, वह सब कुछ छोड़ कर मज़दूरों के हितों कि लिए अपने जीवन के सारी सुख सुविधाओं से दूरी बना लेती है और उन्हीं मज़दूरों की तरह ही जीवन व्यतीत करती है। पावेल अपनी माँ को नताशा के बारे में बताते हुए कहता है, "उसका बाप बहुत अमीर है, वह लोहे का व्यापार करता है और काफी जायदाद है, उसके पास। उसने अपनी बेटी को इसलिए घर से निकाल दिया कि उसने जीवन का यह रास्ता अपनाया"[2]। नताशा का चरित्र ऐसे पात्र के रूप में उभरा है जिसने जीवन की सारी सुख सुविधाओं को दरकिनार करते हुए कठिनाई से

भरे हुए जोखिम उठाने वाले रास्ते को चुना और जिस पर वह बिना डरे निडर और निर्भीक होकर चलती है और क्रांतिकारी गतिविधियों में अपना योगदान देती है।

एक बड़े ज़मींदार की बेटी थी जो बड़ा कमीना था। साशा का लालन पोषण बड़े ही आराम से हुआ। उसने कठोर जीवन देखा भी नहीं था। फिर भी वह इस क्रांतिकारी घटनाओं मे अपने को झोंक देती है। इसने ही सर्वप्रथम घोषणा की थी कि हम समाजवादी हैं। साशा भले ही कमजोर शरीर की स्त्री थी किंतु वह बड़े ही दृढ़निश्चय वाली थी। एक बार जिस काम को ठान लिया तो उसके लिए कुछ भी कर गुज़रने से कतराने वाली नहीं थी। साशा जेल की यात्रा भी करके आ चुकी थी। येगोर साशा की हिम्मत और उसके दृढ़ विश्वास के बारे में माँ को बतलाते हुए कहता है "अम्मा, हाकिमों को यह लड़की फूटी आँखों नहीं सुहाती। एक बार जब जेलर ने इसका अपमान किया था तो उसने भूख हड़ताल कर दी थी और उससे माफी मंगवाकर ही हड़ताल खत्म की थी"[3]। साशा पावेल से प्रेम करती है और उससे विवाह करना चाहती है, किंतु वह अपने ख्याल को अंदर ही दबा लेती है, क्योंकि वह अच्छी तरह से जानती है, इससे क्रांतिकारी गतिविधियों में अड़चन उत्पन्न होगी। साशा इस उपन्यास में कमजोर शरीर वाली अडिग और दृढ़ संकल्पी स्त्री के रूप में उभर कर आती है।

व्लासोव परिवार की पड़ोसिन थी जो एक लोहार की विधवा थी और फैक्टरी में खाने की चीजें बेच कर पेट पालती थी। मारिया का चित्रण ऐसी स्त्री के रूप में होता है जिसके जीवन में संघर्ष तो भरपूर है, किंतु उसकी एक आदत बहुत खराब थी कि उसके पेट में कोई बात नहीं पचती उसे चुगली की आदत थी। उसे सब खोमचे वाली के नाम से पुकारते थे। जो हमेशा सिर से पांव तक तेल से चुपड़ी रहती थी और उसकी जबान कैंची की तरह चलती थी। माँ के उसके पास जाने पर वह अपना दुःख बताते हुए कहती हैं ''मैं तो खुद तुमसे मिलने आना चाहती थी। पर फुरसत ही नहीं मिलती दिन भर पकाना और बेचना, मगर देख लेना मैं मरूंगी भिखारियों की तरह ही। मेरे चाहने वाले मुझे खाये जाते हैं इसी का तो रोना है। कोई इधर नोचता है, कोई उधर नोचता है, जैसे चूहे रोटी को कुतरते हैं। जहाँ मैंने थोड़ा बहुत पैसे बचाया, कोई हरामी आकर छीन ले जाता है। औरत होना भी एक मुसीबत है। सबसे गई-बीती है औरत इस धरती पर। अकेली रहे तो बुरी, मरद करे, तो मरी''[4]।

लंबे कद की एक खूबसूरत औरत है जिसमें अपार साहस और चंचलता है। जिसका शरीर बहुत फुर्तीला और मजबूत है। सोफिया का कार्य क्रांतिकारी गतिविधियों वाले लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाना, पहचान मिटा कर दूसरा पहचान दिलाना, निर्वासन से भाग कर आये लोगों को छिपाना। निकलोई सोफिया के बारे में बतलाता है कि वह हर जगह होती है जहाँ कहीं भी किसी हिम्मत वाले आदमी की जरूरत होती है, वह वहाँ पहुँच जाती है। सोफिया का जीवन बहुत कठोर और संकटमय बीता था फिर भी उसका दिल हमेशा मुस्कुराता रहता था, ''न जाने कितनी बार वह अपना नाम बदल कर झूठे शिनाख्ति कागज बनवा चुकी थी। जासूसों से बचने के लिए वह भेष बदलकर रहा करती थी। किताबें और पर्चों के भारी-भारी बंडल लेकर एक शहर से दूसरे शहर जाती थी। उसने अपने साथियों को निर्वासन से भगाने का बड़ा ही कुशल इंतजाम किया था और उन्हें साथ ले कर विदेश में पहुंचा आयी थी।''[5] सोफिया बत्तीस साल की हो चुकी थी फिर भी उसमें साहस और आत्मविश्वास भरपूर था। वह हर काम के प्रति नौजवानों जैसा उत्साह रखती थी।

एक लंबे कद की औरत है जो ऐनक लगाती है। इसके चेहरे का रंग पीला है, शक्ल से दंभी दिखाई देती है। लूदमीला की आँखों में कभी मुस्कुराहट या चमक नहीं आती वह हमेशा आदेश पूर्ण ढंग से ही बोलती है। लूदमीला भी क्रांतिकारी औरत है जो निस्वार्थ भाव से येगोर की सेवा की और क्रांतिकारी कार्यों में अपना सहयोग दिया।

एक किसान की औरत है जिसका चेहरा लंबोतरा एवं रंग सांवला, नाक सीधी और थोड़ी बहुत ठोस बनावट की है। उसकी कंजी आँखों में चपलता है और उसकी आंखें हर चीज़ को बड़े ध्यान से देखती हैं। तत्याना अपने बारे मे कहती है, ''मेरे दो बच्चे हुए एक तो जब दो बरस का था तभी जल कर मर गया और दूसरा पैदा ही मरा हुआ और यह बस इस मनहूस काम की वजह से हुआ। मुझे इससे भला कोई सुख मिला? मैं तो कहती हूं कि किसान को शादी करनी ही नहीं चाहिए। वह बेकार में अपने आप को बांध लेता है, जबकि वह बड़ी आसानी से मनमानी जिंदगी गुजार सकता है और अपनी जिंदगी को बेहतर बनाने के लिए लड़ सकता है।''[6] तत्याना की बातें बिल्कुल सपाट उनमें न शिकायत थी और ना ही उदासी। माँ द्वारा तत्याना क्रान्तिकारों के बारे में सुन कर कहती है, ''हे भगवान जैसे लोगों की तुम बातें करती हो अगर मैं ऐसे लोगों का दर्शन भी कर पाती तो मैं अपना सब कुछ न्यौछावर कर देती, क्योंकि वही तो सच्चा जीवन है। हम अपनी जिंदगी में क्या देखते हैं? हम भेड़ों के गल्ले की तरह है, बस और कुछ नहीं''[7]। तत्याना अपने इस जीवन में इतना दुःख सहती

रही है, सुख उसे कभी मिला ही नहीं, फिर भी वह अपने भले की जगह लोगों के भले और उनके हित के लिए हमेशा सोचती है।

मक्सिम गोर्की ने माँ उपन्यास के माध्यम से निम्न एवं मजदूर वर्ग के हृदय को स्पर्श करने वाली कथा कही है। इनका यह उपन्यास विश्व प्रसिद्ध उपन्यास है जो सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच संघर्ष को यथार्थ के धरातल पर प्रकट करता है। इन्होंने अपने उपन्यास माँ को परंपरागत चली आ रही उपन्यासों की धारा से अलग कर नई जमीन प्रदान की है। इनका यह उपन्यास रूसी साहित्य में मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला पहला उपन्यास है। इन्होंने अपने उपन्यास में मज़दूरों को अन्याय का शिकार होते हुए नहीं दिखाया बल्कि उसके खिलाफ़ मजबूती से खड़े हो कर लड़ते हुए दिखलाया है। इन्होंने माँ उपन्यास में मजदूर वर्ग का ही नहीं स्त्रियों पर हो रहे शोषण और उनके द्वारा मजदूर क्रांति में हिस्सेदारी को बखूबी दिखाया है। कैसे इस उपन्यास की नायिका निलोवना अपना जीवन बिताती है और किस प्रकार मजदूर क्रांति में अहम भूमिका निभाती है, गोर्की ने इसका चित्रण व्यापक ढंग से किया है। निलोवना के अलावा अन्य और स्त्री पात्र जैसे नताशा, सोफिया, तत्याना, लूदमीला, मारिया, साशा आदि रही हैं जिन्होंने विपरीत परिस्थितियों के बावजूद, क्रांति में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया है और कहीं भी पुरुषों से कम दिखाई नहीं देती। इन सबका योगदान भी बहुत ही सम्माननीय है।

संदर्भ ग्रंथ

1. मैक्सिम गोर्की, माँ, साक्षी प्रकाशन, दिल्ली, 2017, पृ. 99-100
2. वही, पृ. 34
3. वही, पृ. 90
4. वही, पृ. 85
5. वही, पृ. 210
6. वही, पृ. 303
7. वही, पृ. 306

राकेश कुमार
शोधार्थी, हिंदी, कल्याण स्नातकोत्तर महाविद्यालय
सेक्टर 7, भिलाई नगर, दुर्ग, छत्तीसगढ़

तिब्बत के समए मठ में बौद्ध धर्म पर भारतीय और चीनी सम्प्रदाय के बीच के वाद-विवाद पर विश्लेषण

—नीमा टाशी (शोध छात्र)

समए के रूप में प्रचलित तिब्बत का पहला मठ भारत के बिहार में स्थित ओदंतपुरी महाविहार से प्रेरित था। समए मठ की स्थापना संवत् 775 में पूरी हुई और संवत् 779 में इसका उद्घाटन हुआ। हालाँकि, तिब्बती इतिहासकार बुस्तोन ने संवत् 787-799 की निर्माण तिथि बताई है।[1] मठ की स्थापना के लिए तिब्बत के राजा ठिस्रोंङ देछेन द्वारा भारत के महान पंडित शान्तरक्षित और गुरु पद्मसंभव को इसके निर्माण और बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु आमंत्रित किया गया। ऐसा माना जाता है कि वर्तमान बिहार में पाल वंशीय मठ, ओदंतपुरी और मेरु पर्वत के रूप में इस मठ का निर्माण किया गया था। तिब्बती और चीनी स्रोतों के अनुसार, भारतीय और चीनी बौद्ध दृष्टिकोण के समर्थकों के बीच समए मठ में एक बड़ा वाद-विवाद हुआ। तिब्बत में बौद्ध धर्म के विकास को प्रभावित करने के लिए भारतीय दृष्टिकोण प्रबल था, हालांकि चीनी प्रभाव जारी रहा।[2] समए मठ एक बहुत ही महत्वपूर्ण तीर्थ स्थल है और तिब्बत की राष्ट्रीय धरोहर की बहुमूल्य पहचान का प्रतीक है। सदियों में कई बार क्षति और विनाश के कारण समए मठ की मूल इमारतें अब बरकरार नहीं हैं। लेकिन विनाश के प्रत्येक दौर के बाद, तिब्बतियों ने मठ को बहाल करने का प्रयास किया है। ग्यारहवीं शताब्दी में रा लोत्सवा, अठारहवीं शताब्दी में सातवें दलाई लामा कल्जङ ग्यात्सो और बीसवीं शताब्दी में दसवें पंचेन लामा द्वारा उल्लेखनीय नवीकरण किए गए।[3]

तिब्बत के राजा ठिसोङ् देउचन को संदेह होने लगा कि चीनी बौद्ध शिक्षक होशंङ सच्चे धर्म की शिक्षा नहीं दे रहे हैं। इस वाद-विवाद को ल्हासा की परिषद के रूप में जाना जाता है जिसे होशंग और भारतीय विद्वान आचार्य कमलशील के बीच व्यवस्थित किया गया था।[4] मुख्य रूप से कमलशील बौद्ध धर्म के माध्यमिक संप्रदाय के विद्वान थे, जो आचार्य नागार्जुन की शिक्षाओं पर आधारित है। हालांकि, सबसे पहले उन्होंने बौद्ध नैतिकता शील के व्यवहार के दस नियमों और महायान के सूत्र के अनुसार शिक्षाओं का सारांश सिखाया, साथ ही साथ पुण्य कार्य भी किए। इन अभ्यासों का नेतृत्व करने के लिए माना जाता है, लंबे समय तक अंतहीन तरीके से, उच्च बौद्धिक क्षमताओं का अधिग्रहण किया। संवत् 792

से 794 के बीच समए मठ की वाद-विवाद के बाद यह प्रवृत्ति तेज हो गई थी। इस वाद-विवाद का सटीक परिणाम अभी भी वाद-विवाद का विषय है। अधिकांश प्रमाणों से संकेत मिलता है कि आचार्य कमलशील शीर्ष पर थे और होशंग को तिब्बत से निर्वासित कर दिया गया था।[5] कुछ चीनी स्रोत, समझदारी से, होशंग को जीता हुआ बता देते हैं। इस वाद-विवाद को भारतीय बौद्ध बनाम चीनी बौद्ध धर्म के रूप में माना जा सकता है। लेकिन निश्चित रूप से स्थिति इससे कहीं अधिक जटिल है। महायान बौद्ध दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व आचार्य कमलशील द्वारा किया गया था। उन्होंने माध्यमिक (मध्य मार्ग)[6] के सिद्धांत के लिए तर्क दिया जो भिक्षु आचार्य नागार्जुन की शिक्षाओं से उत्पन्न हुआ था और जो दूसरी शताब्दी में समृद्ध हुआ। इस सिद्धांत के अनुसार, बुद्धत्व के अंतिम लक्ष्य को बौद्धिक और नैतिक विकास के एक लंबे पाठ्यक्रम के बाद ही प्राप्त किया जा सकता है। चीनी प्रतिनिधि ने ध्यानमय चौन (जापानी जेन) स्कूल ऑफ महायान बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को बरकरार रखा जिसमें कहा गया था कि आत्मज्ञान एक अचानक, सहज घटना है जिसे आगे नहीं बढ़ाया जाता और पारंपरिक प्रयासों से भी बाधा हो सकती है।

तिब्बती सूत्रों के अनुसार, भारतीय पक्ष को विजेता घोषित किया गया। होशंग और उनके शिष्यों को देश से भगा दिया गया था। भारतीय बौद्ध धर्म को राज्य धर्म के रूप में स्थापित किया गया था। इसके बाद, भारत ने तिब्बत में बौद्ध धर्म के विकास पर चीन की तुलना में अधिक प्रभाव डाला। हालांकि, चीन का वहां सम्मान किया जाता रहा। तथागत बुद्ध की अत्यन्त गहन करुणा और मैत्री रुपी शिक्षाओं को दार्शनिक धारणाओं के विभिन्न प्रकाशों में माना जाता रहा। कोई फर्क नहीं पड़ता कि कितनी या कितनी दार्शनिक धारणाएं बनीं। लेकिन उनके सार और मूल को तथागत बुद्ध की शुद्ध शिक्षाओं से पता लगाया जा सकता है। बुद्ध की शिक्षाओं को पूरी तरह से समझने के लिए विचार और सिद्धांत बनाए गए थे और ऐसे दार्शनिक विचारों का मुख्य उद्देश्य दुख से मुक्ति या बुद्धत्व प्राप्त करना है। समय बीतने के साथ, तथागत बुद्ध की शिक्षाएं विभिन्न स्थानों में प्रचारित हुईं। उदाहरण के लिए, तथागत बुद्ध की शिक्षाओं ने 8वीं शताब्दी में तिब्बत के रूप में जानी जाने वाली बर्फ की भूमि में प्रचार किया और विभिन्न व्यक्तियों की धारणा और समझ के आधार पर, बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय एक उद्देश्य के साथ अस्तित्व में आए।

भारतीय पक्ष की कथित जीत ने तिब्बतियों की अपनी धार्मिक विरासत की समझ को मजबूत किया है।[7,8] दांव पर दार्शनिक मुद्दा था कि प्रबुद्धता कैसे प्राप्त की जानी चाहिए। इस प्रकार, बुस्तोन रिंचेन ड्रूब (1290-1364) द्वारा रचित भारत में बौद्ध धर्म के इतिहास के अनुसार, होशंग ने यह समझाते हुए वाद-विवाद को प्रारंभ किया कि जैसे बादल श्वेत हों या काले हों, आकाश को अस्पष्ट करते हों, इसलिए सभी गतिविधियां चाहे वे सदाचारी हों या गैर-पुण्यशाली, निर्वाण में बाधा डालती हैं। उन्होंने कहा कि चाहे कोई अच्छा कर्म करे या बुरा कर्म, इसका परिणाम केवल संसार में पुनर्जन्म लेना होगा। उन्होंने अच्छे कर्मों के परिणामों की उपेक्षा की और निर्वाण प्राप्त करने के लिए केवल ध्यान पर जोर दिया। आचार्य कमलशील ने विश्लेषणात्मक ध्यान के चरणों को समझा कर इस दार्शनिक शांतवाद का जवाब दिया। उन्होंने निर्वाण प्राप्त करने के लिए विश्लेषणात्मक ध्यान के साथ अच्छे कार्यों के महत्व पर बल दिया। होशंग हार गया और उसके कुछ शिष्य इतने अपमानित हुए कि उन्होंने आत्महत्या कर ली।

यह पाठ चीन के दुनहुंग गुफाओं से पता लगाया गया था जो एक समय में होशंग से घिरा था। एक अनुवाद पहली बार पॉल डेमीविले ने अपने 1952 के लेख में प्रकाशित किया था। मोहीयान के एक शिष्य वांग्सी द्वारा लिखित वाद-विवाद का शब्द-दर-शब्द रिकॉर्ड करने का उद्देश्य रखता है। घटनाओं का इसका संस्करण विभिन्न तिब्बती स्रोतों से मौलिक रूप से भिन्न है। इस संस्करण में, होशंग ने वाद-विवाद जीत ली। इस खोज ने कुछ विद्वानों को वाद-विवाद के अस्तित्व पर संदेह करने के लिए प्रेरित किया है। यह सुझाव देते हुए कि इसे तिब्बती शाही अदालत में चीनी और भारतीय गुटों के बीच केवल अप्रत्यक्ष मुठभेड़ों की एक श्रृंखला के माध्यम से चल रहे विवाद के संकेत के रूप में देखा जाना चाहिए। उसने कहा, 'ये सभी उपलब्ध स्रोतों से सहमत हैं कि किसी तरह का वाद-विवाद हुआ। आचार्य कमलशील अपने ३ प्रसिद्ध ग्रंथों में वाद-विवाद के केंद्रीय विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक को एक भावनाक्रम (ध्यान की अवस्था) कहा जाता है। भारतीय और चीनी समान विषयों में से कइयों को संबोधित करते हैं। लेकिन कई महत्वपूर्ण बिंदुओं पर भाग लेते हैं। उदाहरण के लिए, चीनी बुद्ध-प्रकृति के सिद्धांत पर काफी ध्यान देता है, जबकि आचार्य कमशील इसका उल्लेख भी नहीं करते हैं। इसी तरह, चीनी समुदाय कई मुद्दों पर चुप है, जो आचार्य कमलशील के तर्क के लिए महत्वपूर्ण हैं, जैसे करुणा विकसित करने की

आवश्यकता और ध्यान के चरण पर केन्द्रित करना। ऐसा लगता है कि दोनों ग्रंथ अपने-अपने देशों में एक-दूसरे के साथ अपने लेखकों की चिंताओं को दर्शाते हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि क्या आचार्य कमलशीला के सभी ३ ग्रंथों को तिब्बत में रचे गए थे। 'बा का वसीयतनामा' एक तिब्बती ग्रंथ है जिसे कथित तौर पर राजा ठिसोङ् देउचन के मंत्री द्वारा लिखा गया है और सभी सहमत हैं कि भारतीय पक्ष जीत गया। बा संस्करणों से पता चलता है कि वाद-विवाद के बाद भारतीय बौद्ध संबंधी रूपरेखा को तिब्बती न्यायालय द्वारा अपनाया गया। यह ढांचा, कर्म के कानून-संबंधी संचालन को 8 वीं शताब्दी के तिब्बतियों के राजनीतिक शासन का एक आधार बना।

समए मठ वाद-विवाद की ऐसी सभी व्याख्याएं, हालांकि, बस व्याख्याएं हैं। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वाद-विवाद ने कई अलग-अलग सिरों पर काम किया है। बाद की तिब्बती परंपरा में, वाद-विवाद को भारत के महत्व के लिए सबूत के रूप में बौद्ध शिक्षाओं के लिए एकमात्र प्रामाणिक स्रोत के रूप में इस्तेमाल किया गया था। इस प्रवृत्ति का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण शाक्य पंडिता (1182-1251) के लेखन में दिखाई देता है। वहाँ, लेखक ने जोगछेन की तिब्बती परंपरा के साथ मोहीयान पक्ष की बराबरी की। चीनी चान और शुरुआती तिब्बती जोगछेन के बीच संभावित संबंध स्पष्ट नहीं हैं। लेकिन २ उपदेश कुछ समानताएं प्रकट करते हैं[9] और ये निश्चित रूप से बाद के तिब्बती नीतिशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित करते थे।

ग्रन्थ सूची

1. John Power, Introduction to Tibetan Buddhism, Snow Lion Publication, USA, 2007
2. Jay Lazar Garfield, Buddhist Philosophy: Essential Readings, Oxford University Press, USA, 2009
3. Denise Leidy, The Art of Buddhism: An Introduction to its History and Meaning, Shambala Publication, USA, 2008
4. Buston, The History of Buddhism in India and Tibet, Wisdom Books, America, 2003
5. Johannes Bronkhorst, Buddhist Teaching in India, Wisdom Publication, USA, 2009

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. बुसतोन इतिहास, पृ. 77
2. छोसजुन खसपे गोनरगयन, पृ. 77
3. तिबेतन बुदिजम, पृ. 77
4. इनडिसटरकटिबल टरुत, पृ. 97
5. इनडो टिबेतन बुदधिजम, पृ. 87
6. इनटरोदकसन टू टिबेटन बुदिजम, पृ. 97
7. बुसतोन इतिहास, पृ. 77
8. समए डिबेट, पृ. 97
9. सामतेन मिगडोन, पृ. 55

नीमा टाशी
शोध छात्र
कें. बौ. वि. सं. लेह, लद्दाख
9596843716

हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना का विवेचनात्मक अध्ययन

–जितेन्द्र कुमार मौर्य

हिन्दी उपन्यास की यात्रा एक पूरी शताब्दी पार कर चुकी है और दूसरी शताब्दी में उसके चरण पड़ चुके हैं। इस अवधि में यह यात्रा अनेक स्तरों को छूती हुई बढ़ी हैं जिसमें उपन्यास की दिशा, दृष्टि, दायित्व और उपलब्धि के कई मानक जुड़े हैं। इन संदर्भों पर लगातार चर्चा होती रही है, बहुत सी बहसें हुईं जिनके विस्तार में जाने की आवश्यकता है। राजनीति केन्द्रित उपन्यास और उपन्यासकारों ने कई उपन्यास लिखे जिसमें राजनेताओं और राजनीति के कई विषयों को उजागर किया हैं। ''आज का मानव वैश्विक मनुष्य है। वैश्विकता उसकी चाही नहीं है, उस पर लाद दी गयी है। कहाँ तो वह अपनी स्वाधीनता में राष्ट्रीय भी नहीं हो पाया था। कहाँ वह वैश्विक बना दिया गया है। ऐसे में राजनीतिक उपन्यासों की कथा भूमि सामान्य उपन्यासों से अलग है।''[1] उपन्यास अपने स्थापत्य में ऐसी विलक्षण अनुभूतियों की सर्जना है, जो हमारे जीवन को बदल दें, जो हमारे मूल्यों को तहस-नहस कर दें और हमें नये सिरे से विचार करने को प्रेरित करें। राजनीतिक उपन्यासकारों में प्रेमचन्द, निर्मल वर्मा, कुर्तल एन. हैदर, राही मासूम रजा, शिव प्रसाद सिंह, अमरकांत, बदीउज्जमां इत्यादि प्रमुख हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के मैला आंचल के संबंध में यह निष्कर्ष कठोर ही नहीं बल्कि अतार्किक है और उपन्यास के कुपाठ का ही परिणाम है। यथार्थवाद लेखक के विचारों के बावजूद प्रकट हो सकता है, यही सांचे दलीय वर्गीय समझ न काफी लगती है और सामाजिक अध्ययन की सबाल्टर्न पद्धति मददगार सिद्ध होती है।

भारतीय समाज में कई परिवर्तन नेताओं ने अपने विचारों के द्वारा किये हैं। ब्रिटिश पूर्व भारतीय समाज के ओरियंटल डेस्पोटिज्म के इस मूल सांस्कृतिक टेक्सचर के अगणित उदाहरण संस्कृत काव्य के योगेश्वर के सरीखे दूसरी परम्परा के कवियों में बिखरे पड़े हैं जिनमें किसान व दलित जातियों के शोषण व दमन की स्थितियाँ उद्घाटित होती हैं। ऐसे ही एक संस्कृत काव्यांश में स्पष्ट उल्लेख है कि निर्दयी भोगपति (जिलाधीश) की अकारण लूट-पाट के कारण कुछ खानदानी लोगों को छोड़कर अधिकांश जन गाँव छोड़कर भाग रहे हैं। कैश्चिद् बीतदयेन भोगपतिना निष्कारणोपप्लुत- प्रक्षीणैर्निजवंशभूरिति कुलैः भारतीय गाँव का यह आदि चित्र गोदान में गोबर के गाँव छोड़कर शहर में मजदूरी करने की नियति में पूर्णतः प्राप्त

करता है।

गोदान में राष्ट्रवाद के नारी-मिवर्श का प्रतिनिधित्व मेहता करते हैं जो स्त्रियों को आप अपने धर्म का पालन किए जाइए का तोता रटंत पाठ सुनाकर उसे दया, श्रद्धा, त्याग आदि की प्रतिमूर्ति बनाना चाहते हैं। देवी और मातृ छवि की यह धार्मिक संरचना नारी की आधुनिकता, प्रगतिशीलता एवं समानता के आदर्श को पश्चिमी मूल्य के रूप में प्रस्तुत कर भारतीय समाज के नारी दासत्व का महिमा मंडन करती है। नारी को लेकर मेहता के दकियानूसी विचारों के माध्यम से प्रेमचन्द उस मध्यवर्गीय पितृसत्तात्मक सोच को उजागर करते हैं जिसके राष्ट्रवादी एजेंडा पर देश की आजादी तो थी, लेकिन उसकी पुरुषों के साथ समानता, साझेदारी एवं सहभागिता का विरोधी था।

यहाँ तक कि वह महिलाओं को वोट सम्बन्धी अधिकार दिए जाने का भी विरोधी था। यहाँ तक कि वह महिलाओं को वोट सम्बन्धी अधिकार दिए जाने का भी विरोधी था। यहाँ तक कि वह महिलाओं को वोट सम्बन्धी अधिकार दिए जाने का भी विरोधी था। मेहता के अनुसार क्या आप समझती हैं कि वोटों से मानव जाति का उद्धार होगा या दफ्तरों में और अदालतों में जुबान और कलम चलाने से? इन नकली, अप्राकृतिक, विनाशकारी अधिकारों के लिए आप वह अधिकार छोड़ देना चाहती हैं जो आप को प्रकृति ने दिए हैं? इतना ही नहीं, मेहता तो इस सिद्धान्त के भी समर्थक है कि संसार में छोटे-बड़े हमेशा रहेंगे और उन्हें हमेशा रहना चाहिए। इसे मिटाने की चेष्टा करना मानव जाति के सर्वनाश का कारण होगा। ''मुसलमान ने हिन्दुओं को लूटा है...पर हिन्दू सैकड़ों बरस से इन लोगों को लूटते, निचोड़ते चले आ रहे हैं, नहीं तो एक ही जमीन पर रहनेवालों में अमीरी-गरीबी का इतना फरक क्यों होता है? पंजाब की सब जायदाद हिन्दुओं के ही हाथ क्यों चली जाती। गरीब पहले गुस्से में मुसलमान हुआकृगुस्सा मजहब का भी है और गरीबी का भी है।''[2]

यशपाल के उपन्यास झूठ सच का यह पुनर्पाठ महज का एक रस्म अदायगी न होकर इस उपन्यास की पुनर्व्याख्या का भी एक प्रयास है। कारण यह कि झूठा सच भारत विभाजन की जिस त्रासदी पर आधारित है, वह इतिहास का बन्द अध्याय न हो कर वर्तमान की एक खुली किताब है। मोहम्मद अली जिन्ना का धर्म आधारित दो राष्ट्रों का सिद्धान्त भले ही बांग्लादेश के निर्माण के बाद पाकिस्तान में झुठला दिया गया हो लेकिन धर्मनिरपेक्ष भारत में वीर सावरकर के हिन्दू राष्ट्र के सिद्धान्त की पुनर्प्रतिष्ठा द्वारा इसे सच में तब्दील करने के प्रयास इन दिनों काफी तेज हैं। ऐसे समय में झूठा सच के बहाने विभाजन की पुनर्व्याख्या की नई जरूरत भी इस बीच दरपेश हुई है। ''इतिहास की परम्परागत अध्ययन पद्धतियों, संग्रहालयों के दस्तावेजों और सरकारी आँकड़ों के बाहर विभाजन की जो जीती-जागती सच्चाइयाँ अभी भी दर्ज होने से शेष हैं, उनके अभिलेखीकरण के गैर पारम्परिक प्रयास भी इस बीच हुए हैं।''[3] सबाल्टर्न इतिहासकार ज्ञानेन्द्र पांडे की पुस्तक रिमेम्बरिंग पार्टीशन, नारीवादी लेखिका उर्वशी बुटालिया की दि अदर साइड ऑफ साइलेंस, ऋतु मेनन व कमला भसीन की पुस्तक बॉर्डर एंड बाउंड्रीज तथा जया चटर्जी की पुस्तक बंगाल डिवाइडेड इसके नवीनतम उदाहरण हैं। भीष्म साहनी द्वारा लिखित उपन्यास 'तमस' में अंग्रेजों की चाल और मुस्लिम लीग की मजहबी विचारधारा को व्यक्त किया गया है। 'तमस' के विभाजन सूत्र अंग्रेज डिप्टी कलेक्टर रिचर्ड और उस मुराद अली के हाथ में हैं जो दंगा कराने से ले कर अमन कमेटी जिन्दाबाद तक के नारे लगाता है।

तमस का विभाजन विमर्श अंग्रेज बनाम हिन्दुस्तानी और साम्प्रदायिक बनाम राष्ट्रवादी का जो द्विविभाजन करता है, वह विभाजन के आन्तरिक कारकों की अनदेखी करके उन बाह्य कारकों की दुरभिसन्धि तक सीमित रहता है जो फूट डालो राज करो की नीति अपनाकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करते हैं। झूठा सच का विभाजन विमर्श तमस की उस मूल प्रस्थापना के पार जाता है जिसके अनुसार, फसाद करवाने वाला भी अंग्रेज, घर से बेघर करने वाला भी अंग्रेज, घरों में बसाने वाला भी अंग्रेज तमस की ही तर्ज पर चमन नाहल भी अपने अंग्रेजी उपन्यास आजादी में हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द को तोड़ने व विभाजन से जुड़ी साम्प्रदायिकता के लिए बाह्य कारकों को ही जिम्मेदार करार देते हैं।

''आजादी के औपन्यासिक कथ्य में चमन नाहल इसे यूँ विन्यस्त करते हैं, अब्दुल गनी के पड़ोसी उससे बराबरी का व्यवहार करते थे और वह उनके साथ अमन-चैन के साथ रहा था लेकिन मुस्लिम लीग ने धीरे-धीरे उसे आजाद हिन्दुस्तान में हिन्दुओं के खतरे से आगाह किया। यह उसकी सोच का सवाल नहीं था, लीग या जिन्ना साहब इसे बेहतर समझते थे। उन्होंने कहा कि हिन्दू पड़ोसी पर शक करो, उसने किया। उन्होंन कहा कि पाकिस्तान होना चाहिए, उसने पाकिस्तान की गुहार लगाई।''[4]

'जुगलबंदी' गिरिजाकिशोर का अनेक दृष्टियों से मौलिक उपन्यास है। हिंदी उपन्यासों में ऐतिहासिकता की सीमा को बार-बार छूनेवाला राजनीतिक, सामाजिक घटनाओं का इतिवृत्तात्मक वर्णन बहुत होता रहा है, परंतु किसी विशेष चरित्र की मानसिकता के तलस्पर्शी चित्रांकन को प्रमुखता

देते हुए राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संदर्भ को केवल सही अर्थ में पृष्ठभूमि के तौर पर संकेत रूप में निर्दिष्ट कर सफल चित्रण करने की प्रवृत्ति कम पाई जाती है। गिरिजा किशोर ने यह कार्य सफलतापूर्वक किया है।

परिणामतः विज्ञ पाठक को मानवीय परिचय का रस अधिक मिलता है-उसके जाने हुए ऐतिहासिक वृत्तों की जुगाली करने की ऊब प्रायः नहीं होती। जुगलबंदी की दूसरी मौलिक विशेषता वह कोण है जिससे शिवचरण के परिवार का अनेक अंतर्विरोधी, गुण-दोषों और विशिष्टताओं से युक्त सम्यक् चित्रण और शिवचरण के जटिल व्यक्तित्व का कलात्मक तटस्थता के साथ परंतु संपूर्ण सहानुभूति से चित्रांकन किया गया है। ''उपन्यास के नाम के औचित्य के बारे में प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि करूण प्रभाव डालने वाले किसी गंभीर राग का विस्तार और विकास करते समय गायक के धीरज, आत्मविश्वास, कला के प्रति आंतरिक लगाव के कारण उत्पन्न गंभीरता और साधक की निष्ठा का जो सम्मिलित प्रभाव श्रोताओं पर पड़ता है, कुछ उसी प्रकार का प्रभाव जुगलबंदी छोड़ जाता है।''[5]

बीज के दूसरे संस्करण की भूमिका में अमृतराय ने लिखा है कि रस्मी समालोचनाएं एकदम नहीं निकलीं या तो जोरदार प्रशंसा हुई या जोरदार निंदा और दोनों ही चीजें खूब हुईं। 1952 में छपी पुस्तक के संबंध में ऐसा हुआ हो तो उसका कारण ध्यान में आना कठिन नहीं है। बीज का तीसरा संस्करण 1971 में पढ़ते हुए निष्पक्ष आलोचक न उसकी जोरदार प्रशंसा करता है, न जोरदार निंदा। फिर उस समय ऐसा क्यों हुआ? संभवतः बीज में अमृतराय का मार्क्सवाद के प्रति प्रेम इतना उछल-उछल कर बाहर आता है कि रचना-विधान में वह पूरी तरह रस खप नहीं पाता। इस स्थिति में यह स्वाभाविक था कि मार्क्सवाद के प्रति समर्पित आलोचकों को अपने ही मतों-मंतव्यों को पढ़ते-पढ़ते पुनः प्रत्यय का आनंद आ जाए और मार्क्सवाद से अनावश्यक रूप में चौंकने वालों को इसमें उनको डरानेवाला हौवा दिखाई दे। वस्तुतः आज जब न मार्क्सवाद उतने कट्टरपंथी रह गए हैं और न मार्क्सवाद ने अनावश्यक रूप में चौंकनेवालों को इसमें उनको डरानेवाला हौवा दिखाई दे।

''आज जब न मार्क्सवाद उतने कट्टरपंथी रह गए हैं और न मार्क्सवाद के प्रति आम बुद्धिजीवी लोगों में उतना डर रहा है, तब बीज जैसे उपन्यास के प्रति अधिक वस्तुन्मुखी और संतुलित समीक्षा-दृष्टि व्यक्त होने की अधिक संभावना है। कहाँ से शुरू करूँ महमूद की कहानी? वहाँ से जब पुलिस उसे घर से घसीटकर ले जा रही थी, चौराहे पर लाठियों से पीट रही थी और मुहल्ले का कोई आदमी बचाने के लिए आगे नहीं आ रहा था।''[6] या...जब इसी चौराहे पर वे लोग उसकी छाती पर त्रिशूल अड़ाकर मजबूर कर रहे थे, बोल साले, जैस सिरी राम...वहाँ से क्यों नहीं, जब बड़ी मस्जिद के परिसर में भीड़ उसे घेरे खड़ी थी और तय नहीं कर पा रही थी आगे क्या करना चाहिए?...जाड़े के कुहरे से अंधी मध्य रात्रि।

पेड़ की पत्तियों से टप-टप चूता पानी थाने के अंदर से रह रहकर उठता उसका आर्तनाद और सुनसान सड़क पर ठंड से ठिठुरते असहाय खड़े गीले होते हम। लेकिन क्या यह केवल महमूद की कहानी है? तब सिलसिलेवार ही क्यों नहीं? पूरब से सूरज निकल रहा है। महमूद लॉन में डहेलिया के पौधे लगा रहा है। मैं इन पौधों में पानी दे रहा हूँ कि तभी फाटक खोलकर प्रवेश करते हैं शास्त्री जी उनके हाथ में आज का अखबार है पाल साहब कुछ सुना आपने? इस मुख्यमंत्री ने तो अयोध्या परिक्रमा पर ही रोक लगा दिया। जरा देखिये तो साले का हरामीपन। सवाल किसी एक के जाने न जाने का नहीं मान्यवर। सवाल है हजारों साल की परंपरा को अकारण तोड़े जाने का। लाखों श्रद्धालुओं की आस्था पर चोट करने का कितने ऐसे हैं जो बीसों साल से यह परिक्रमा करते आ रहे हैं और आजीवन करते रहने का व्रत लिया है। आप राज-मद में अंधे होकर उनकी आस्था को ठोकर मारेंगे। देख रहा हूं रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद का मसला ज्यों-ज्यों गरमाता जा रहा है, शास्त्रीजी कुछ अशांत से होते जा रहे हैं। मैं असावधानी में बोल गया। बात को संभालने की कोशिश करता हूं, आप ठीक कहते हैं किसी की धार्मिक भावना से खिलवाड़ करना अच्छी बात नहीं है।

संदर्भ

1. डॉ. धर्मवीर भारती, मानव मूल्य और साहित्य, पृ. 110
2. सत्यदेव त्रिपाठी, हिन्दी उपन्यास, समकालीन विमर्श, पृ. 13
3. चंद्रकांत बांदिवडेकर, जैनेन्द्र द्वारा लिखित भूमिका से, उपन्यास स्थिति और गति, पृ. 53
4. शशिभूषण सिंह, हिन्दी उपन्यास, नये क्षितिज, पृ. 11
5. राजेन्द्र यादव, स्वरूप ओर संवेदना, पृ. 259
6. हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य सहचर, पृ. 71

जितेन्द्र कुमार मौर्य
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म. प्र.)

दलित स्त्री-विमर्श के संदर्भ में दोहरा अभिशाप की प्रासंगिकता

—तान्या लाम्बा

भारतीय समाज में हमेंशा से ही विविधता रही है धर्म, जाति, लिंग, स्थानीयता आदि के आधार पर हमेंशा से ही भेद रहा है। प्रस्तुत लेख में दलित साहित्य की एक महत्वपूर्ण स्त्री आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' को केंद्र में रख कर दलित स्त्री विमर्श और इसकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। दलित साहित्य में जब भी जातीय दंश को ले कर विचार हुआ है, तब पुरुष ही शोषणकर्ता और शोषित के रूप में सामने आता है। सवाल यह उठता है कि साहित्य में आते ही वे स्त्रियाँ कहाँ लुप्त हो जाती हैं जो जातीय दंश फैला रही होती हैं या स्वयं इसका शिकार होती हैं? आज जब दलित स्त्री भी साहित्य में अपना योगदान दे रही है तो साहित्य में उसकी उपस्थिति क्यों दर्ज नहीं होती है? 'दोहरा अभिशाप' कौसल्या बैसंत्री द्वारा हिंदी में रचित पहली दलित स्त्री आत्मकथा है जिसमें लेखिका ने अपनी लेखनी के माध्यम से स्त्री के संदर्भ में 'दोहरा अभिशाप' के अर्थ को व्याख्यायित किया है कि किस प्रकार जब एक दलित स्त्री जन्म लेती है तो वह पितृसत्तात्मकता के चलते पहले अभिशाप का तो शिकार बनती ही है साथ ही साथ वह दलित समुदाय से होने के कारण मिले दूसरे अभिशाप के चलते सामाजिक रूप से भी प्रताड़ित होती है। वर्तमान दौर में भी दोहरा अभिशाप की प्रासंगिकता लगातार बनी हुई है और आने वाले कई सालों में भी इसका प्रभाव कम होता दिखाई नहीं दे रहा है क्यूँकि यह परम्परा अब वृक्ष बन चुकी है जिसकी जड़े बहुत गहरी और मज़बूत हो चुकी है।

दलित समाज की स्त्री के साथ दो तरह की सम्भावना होती है पहली यह कि उसका परिवार दलित समाज में चली आ रही परम्परा का निर्वहन करते हुए उसकी स्थिति वैसी ही बना दे जैसी शुरुआत से ही उस समाज में रही है और दूसरी यह कि वह दलित समाज के संदर्भ में बनी हुई परम्परागत रूढ़ियों को तोड़कर उसे बाहर निकलने का अवसर दे जैसा कि कौसल्या बैसंत्री के परिवार वालों ने किया। लाख गरीबी होने के बाद भी लेखिका की माँ ने सदैव ही शिक्षा को अपने बच्चों के लिए प्राथमिकता माना इसमें विचित्र बात यह है कि लेखिका की माँ स्वयं अशिक्षित थी परंतु शिक्षा की ताक़त से भलीभाँति परिचित थी। परंतु आत्मकथा में इसी के साथ एक विडम्बना भी दिखाई देती है। वह लिखती है ''हमें माँ-बाबा

प्यार जरूर करते थे, हमें पढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी, फिर भी लड़के का महत्व उनके लिए ज्यादा था। हमें वे पराया धन समझते थे। आज भी कई सम्भ्रांत लोग इस तरह की सोच रखते हैं तो फिर उन दिनों के अस्पृश्य समाज की ऐसी सोच होना स्वाभाविक ही रहा होगा।''[1] आधुनिकता के इस दौर में आज अधिकतर दलित महिलायें शिक्षित है परंतु क्या वे सभी अपनी शिक्षा को हथियार के रूप में इस्तेमाल कर पायी है इस बारे में कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन मालूम होता है।यदि बात उच्च शिक्षा के संदर्भ में की जाए तो हम पाते है कि आज भी उच्च शिक्षा में दलित महिलायें अपेक्षा से कम ही है और जो है वे सभी प्रत्यक्ष रूप से जातिवाद का शिकार ना होकर अप्रत्यक्ष रूप से निरंतर जातिगत घेरे में है।

संविधानुसार शिक्षा के क्षेत्र में सभी विद्यार्थी समान है परंतु शैक्षणिक संस्थाओं में भी जाति बच्चों तक का भी पीछा नहीं छोड़ती है। भिड़े कन्याशाला में दाखिले के बाद अपने समाज की एक भी लड़की का साथ न पाने से लेखिका के मन में हिचकिचाहट है और खुद के पहनावे और रहन-सहन को लेकर हीन भाव भी है जो उसे अन्य लड़कियों से जुड़ने में रोकता है। कुनबी जाति की लड़कियों द्वारा जब विद्यालय में उसकी जाति पूछी गयी, ''कुनबी लड़कियों ने मुझसे पूछा कि मेरी जाती क्या है। मैंने डर के मारे कह दिया कि मैं भी कुनबी हूँ।''[2] यह एक पंक्ति हर उस दलित विद्यार्थी की मानसिकता का नेतृत्व करती है जिसे जाति के चलते विद्यालयी स्तर पर भी इस तरह झूठ का सहारा लेना ताकि वह भविष्य के लिए मुख्य धारा के बीच अपना एक स्थान निश्चित कर पाए और अन्य विद्यालयों के बीच कुछ सम्मान के साथ रह पाए जो मात्र उसे जाति छुपाकर मिल जाता है। प्रस्तुत आत्मकथा यह बोध कराती है कि जब दलित स्त्री सशक्त बनकर अपने समाज से बाहर कदम रखती है तो दोहरा अभिशाप अर्थात् दोनों गालों पर थप्पड़ की स्थिति बड़े स्तर पर उभर कर आती है। यों तो यौन शोषण के लिए हर स्त्री समान ही है परंतु यह एक अर्धसत्य है क्यूँकि जब स्त्री के दलित परिवेश से होने के बारे में ज्ञात होता है तो उसकी दयनीयता बढ़ जाती है और आततायी उसके शोषण के लिए खुद को अधिक स्वतंत्र मानते है।आत्मकथा में इसी शोषण के चलते लेखिका को अपने नर्स बनने का सपना छोड़ना पड़ा और इसी क्रम में जब घर में स्वतंत्र पानी के नल के लिए लेखिका मेयर के पास गयी तब भी उसे अकेले मिलने आने के प्रस्ताव आने लगे इस बात से यही निष्कर्ष निकल कर आता है कि शोषित स्त्री के विषय में शोषणकर्ता को पहले से ही पता होता है।इस बात पर एक दलित विचारणीय सवाल दलित पेंथर के नेता राजा ढाले ने भी उठाया था और स्वयं जवाब भी दिया था कि 'क्यों नहीं किसी गाँव में किसी ब्राह्मण महिला की साड़ी उतारी जाती।' वर्तमान में इसका सार हाथरस में हुई घटना से कर सकते हैं कि सुनवाई तो दूर की बात अपितु आधी रात को जला देने के बाद ये कथित समाज उसे बिटियाँ कहकर सम्बोधित करता है।

लेखिका बहुत से सामाजिक संगठनों में अपनी भागीदारी देती है इतना ही नहीं वह संगठनों के अनेक पदों पर रहकर निर्णायक की भूमिका भी निभाती है लेकिन इसमें अधिकतर संगठन वही है जो स्त्री हितों के लिए कार्य करते है या किसी ना किसी रूप में उनका संरक्षण करते है। ऐसा संगठन जो सम्पूर्ण दलित समाज के हित के लिए बनाए जाते है उनके आज भी स्त्री की अहम भूमिका होना दुर्लभ ही है क्यूँकि पितृसत्तात्मकता के विषय में दलित पुरुष भी पीछे नहीं है। इसलिए किसी भी सार्वजनिक आंदोलन में दलित स्त्री की कोई मुख्य भूमिका होना तो असम्भव ही है। संगठनों में दलित महिलाओं की भागीदारी को लेकर चल्लापल्ली स्वरूपा रानी इस बात बात पर असंतोष प्रकट करते हुए लिखती है, ''उच्च जाति की स्त्रियों द्वारा चलाए जाने वाले आंदोलन को मिलने वाली पब्लिसिटी में और दलित स्त्रियों द्वारा चलाए जाने वाले आंदोलन को मिलने वाली पब्लिसिटी में अंतर है जो पब्लिसिटी मेधा पाटकर द्वारा चलाए गए पर्यावरण आंदोलन को मिली वैसी पब्लिसिटी आंध्र में साधारण स्त्रियों द्वारा चलाये गए शराब विरोधी आंदोलन को नहीं मिली।''[3] विवाहोपरांत जीवन की समस्यायें कुछ कम हो जायेंगी दोहरा अभिशाप एकल अपराध में परिवर्तित हो जायेगा ऐसा विचार लगभग हर दलित स्त्री के मन में आता होगा जब वह अंतरजातीय विवाह के विषय में सोचती होगी परंतु अंतर्जातीय विवाह किस हद तक दलित स्त्री का संरक्षण करता है इसका चित्रण भी आत्मकथा में किया गया है; लेखिका अपने पति देवेंद्र कुमार की छवि को प्रश्नांकित करती है, उसके पुरुष वर्चस्व वाले विचार का विरोध करती है।[4]

पुरुष ने हमेशा से ही अपनी स्त्री को पत्नी बाद में और सत्ता पहले समझा है यही कारण है कि लेखिका की पसंद की शादी में भी उसकी उसके पति से एक भी अपेक्षा पूरी नहीं। हुई। कौसल्या बैसंत्री कहती है, ''देवेंद्र कुमार लापरवाह और बदतमीज आदमी था जिसने मेरी कभी कद्र नहीं की।''[5] कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा दोहरा अभिशाप के शब्दों की आँच के साथ एक दलित महिला के भीतर से

उभरते आक्रोश और अस्मिता को भी महसूस किया जा सकता है।अपनी इसी आत्मकथा की भूमिका में वे लिखती है–''मेरे उच्च शिक्षित पति, लेखक और भारत सरकार में उच्च पद पर सेवारत रहे। उन्हें ताम्रपत्र भी मिला है और स्वतंत्रता सेनानी की पेंशन भी। पति ने कभी मेरी कद्र नहीं की, बल्कि रोज-रोज झगड़े, गालियों से मुझे मजबूरन घर छोड़ना पड़ा और कोर्ट केस करना पड़ा। उस घर में मैं चालीस वर्ष रही। घर छोड़ने के बिखरे दिनों में मेरी लड़की सुजाता ने मुझे सहारा दिया। बेटी के घर रहते-रहते ही मुझे लिखने की सुविधाएँ और नैतिक बल मिला।''[6] दलित समाज के पुरुष इतने सताए हुए है कि उनका ज़ोर और किसी पर ना चलकर अपनी औरत पर ही चलता है जिसके चलते वह मार-पिटाई, गाली देना तथा इससे भी भद्र व्यवहार वे अपनी औरतों के साथ करते हैं।दलित स्त्री पर उच्च जाति के पुरुष से लेकर स्वयं उनके पति तक सब किसी ना किसी रूप में अधिकार जताते है इसी का वर्णन ''दलितरालु'' में इस प्रकार हुआ है :

कहते है कोई
मुझे बना कर पीढ़ा
खींच-खींचकर बैठेंगे
डाल कर नकेल
मुझे हाँकेंगे-नचाएँगे।[7]

–शशि निर्मला

दोहरा अभिशाप पहली बार अनुभव सहित दलित स्त्री की वास्तविक समस्याओं पर बात करती है और बताती है कि दलित स्त्री की पीड़ा दलित समाज में जी रहे पुरुषों की अपेक्षा अधिक है। जन्म से लेकर मृत्यु तक दलित स्त्री चाहे कितना भी नाम और शोहरत कमा ले फिर भी जाति कभी उसका पीछा नहीं छोड़ती। कौसल्या बैसंत्री ने बहुत कम उम्र में जाना था की जाति क्या चीज़ है बल्कि ये कहे तो समाज में ही उन्हें सिखा दिया था कि तुम कौन हो और तुम्हारी हदें क्या है। आज के दौर में शायद बच्चे इतनी जल्दी जाति से परिचित ना होते हो थोड़ी देर से ही सही मगर परिचित होते ज़रूर है।ग्रामीण क्षेत्र इसके अपवाद है।दोहरा अभिशाप की प्रासंगिकता के विषय में बात करें तो आज भी स्थिति जस की तस बनी हुई है चाहे वह शिक्षा के क्षेत्र में हो, यौन शोषण के मामलों में हो, सामाजिक संगठनों के मामलों में हो या विवाह के बाद पति द्वारा किए जाने वाले अत्याचार में हो। जब तक समाज जाती से बाहर नहीं आएगा तब तक दोहरा अभिशाप स्त्री विमर्शों के संदर्भ में प्रासंगिक बना रहेगा।

संदर्भ

1. कौसल्या बैसंत्री, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीत विहार, दिल्ली, द्वितीय पेपरबैक संस्करण, 2022, पृ. 47
2. वही, पृ. 41
3. दोनों गालों पर थप्पड़, मोहनदास नैमिशराय, आधुनिकता के आइने में दलित, सम्पादक, अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन दिल्ली, संस्करण, 2014, 2022, पृ. 242
4. दलित स्त्रीवाद की आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति, रामनरेश राम, नयी किताब, दिल्ली, संस्करण 2019, पृ. 76
5. दोहरा अभिशाप, कौशल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीत विहार, दिल्ली, द्वितीय पेपर बैक संस्करण, 2022, पृ. 104
6. तिहरा अभिशाप अर्थात् दलित अस्मिता विमर्श में स्त्री', बजरंग बिहारी तिवारी, हंस, नई दिल्ली, 2000, पृ. 81
7. दोनों गालों पर थप्पड़, मोहनदास नैमिशराय, आधुनिकता के आइने में दलित, सम्पादक, अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन दिल्ली, संस्करण, 2014, 2022, पृ. 240

तान्या लाम्बा
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

साहित्य, सिनेमा और संस्कृति की पारस्परिकता

—डॉ. पूनम शर्मा

साहित्य और सिनेमा दोनों ही बहुआयामी कलाएँ हैं और दोनों ही अपनी वैचारिकी को अपनी-अपनी क्षमता के अनुरूप परोसती हैं। साहित्यकार अपनी कृति में अपने विचारों का प्रतिनिधित्व करते हुए पाठकों तक सम्प्रेषित करता है जबकि सिनेमा के तहत निर्देशक इस भूमिका में उतर कर तकनीकी उपकरणों और चरित्रों का सहारा लेकर विचारों को सम्प्रेषित करता दिखता है। यहीं हम पाते हैं कि सिनेमा और साहित्य कथ्य और शिल्प के स्तर पर भिन्न-भिन्न आयामों के साथ सामने आते हैं। भिन्नता लिए ये दोनों कलाएँ एक-दूसरे के साथ अभिन्न रूप में खड़ी भी पाई जाती हैं। इसी बात को रेखांकित करते हुए सी भास्कर राव लिखते हैं- ''ल्यूमिरे बंधुओं ने सर्वप्रथम सिनेमा का अविष्कार किया, तब उन्होनें शब्दों, दृश्यों, स्थितियों और पात्रों के आधार पर ही इसे अंजाम दिया। कई छोटे-छोटे प्रसंगो को लेकर उन्होनें स्थिर से 'मूवी' बनाया। यानी उन्हें गति प्रदान की। यह 'मूवी' बनाने की प्रक्रिया भले ही पूरी तरह तकनीकी कमाल हो, पर उसका आधार तो निश्चय ही साहित्य या रचना या आलेख है। शुरू में छोटी-छोटी घटनाओं और कथाओं को 'मूवी' बनाया गया। ये बुनियादी रूप में साहित्य के ही अनिवार्य तत्त्व होते हैं, यह सर्वविदित है। यदि किसी घटना, स्थिति, पात्र को कथा का आधार नहीं रखा गया होता तो सिनेमा का निर्माण भी नहीं हो पाता। यही छोटी घटनाएँ, कथाएँ जब सिनेमा माध्यम में विकसित होती गई तक बड़ी फिल्म या फीचर फिल्म का निर्माण भी होने लगा। इस तरह से सिनेमा का आरम्भ साहित्य से हुआ, सिनेमा का मुख्य तथा मूल आधार साहित्य ही है।''[1] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साहित्य का कथ्य कहीं-न-कहीं सिनेमा के कथ्य का आधार बनता है इसलिए दोनों की पारस्परिकता अथवा अंतः संबंध को नकारा नहीं जा सकता। यह अलग बात है कि यह पारस्परिकता होने के बावजूद भी इनमें टकराहट अथवा वैचारिक वैमनस्य बना ही रहता है। यदि हम प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' की बात करते हैं तो प्रेमचंद कहानी का अंत आदर्शवाद के साथ करते दिखाई देते है जहाँ दोनों सामंत शतरंज खेलने के क्रम में अंत में लड़कर मर जाते हैं। यहाँ सामंतो का मरना कहीं-न-कहीं सामंतवाद के अंत की ओर इशारा करता है, परन्तु जब सत्यजीत रे ने इसी कहानी का फिल्मांकन किया तो वहाँ सामंत मरते नहीं बल्कि लड़ते हैं और फिर शतरंज खेलने लगते हैं। उनके विचारानुसार सामंतवाद समाप्त नहीं हुआ, वह अब भी है जो समाज को लील रहा है। यहाँ कथ्य तो साहित्य से लिया गया किन्तु उसकी प्रस्तुति में परिवर्तन,

फिल्मकार के वैचारिक मतभेद को दर्शाता है। अनूप सेठी इस संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं- ''जब एक पाठक लिखे या छपे शब्द को पढ़ता है तो वह अपनी एक नई दुनिया रचने लगता है, जो सिर्फ उसकी अपनी निजी होती है। वह उन शब्दों से अपने मानस में उस साहित्यिक कृति के चरित्र या दृश्य का एक चाक्षुष बिम्ब सृजित करता है। मसलन 'गोदान' उपन्यास पढ़कर एक पाठक अपने मन में होरी का जो बिम्ब गढ़ता है, जरूरी नहीं कि उस उपन्यास को पढ़कर मेरे मन में भी उसी तरह का बिम्ब बनें। हम दोनों के होरी अलग-अलग हो सकते हैं। लेकिन फिल्म के साथ ऐसा नहीं होता। गोदान फिल्म के होरी राजकुमार, अभिनेता की छवि में कैद हो जाएंगे। दरअसल फिल्म में होरी का चरित्र एक स्थिर बिम्ब में बदल जाएगा।''[2]

साहित्य और सिनेमा को एक-दूसरे से भिन्न कला मानकर जाँचा-परखा जाता है जबकि हम दोनों के अंतःसंबंध को वहाँ स्पष्ट देख पाते हैं जहाँ फिल्में साहित्य के कथ्य को आधार बनाती हैं। साहित्य को बुद्धिजीवी वर्ग अथवा पढ़े-लिखे वर्ग का सहभागी कहा जाता है, जबकि वही साहित्य जब सिनेमा का आधार बनता है तो उसका दायरा पढ़े-लिखे वर्ग से बाहर निकलकर अशिक्षित वर्ग को भी अपने में समेट लेता है और पॉपुलर कल्चर कहलाने लगता है, क्योंकि आम-आदमी अपनी भावनाओं की साक्षात् तस्वीर सिनेमा के बड़े पर्दे पर देख संवेदनशील हो जाता है। राही मासूम रज़ा लिखते हैं- ''सिनेमा की एक दूसरी विशेषता यह है कि उसका दर्शक, दर्शकों का हिस्सा भी है और अकेला दर्शक भी। वह सामूहिक रूप से भी फिल्म देख रहा है और व्यक्तिगत रूप से भी। वह सबके साथ हँसता है और सबके साथ तालिँया बजाता है। ये चीजें सामूहिक प्रतिक्रिया का हिस्सा है।''[3] और केवल समाज का प्रत्येक पक्ष ही नहीं हमारी संस्कृति भी शादी-ब्याह उसमें होने वाली रस्में, गाये जाने वाले गीत, रामलीला, रासलीला, भारत में मनाए जाने वाले त्यौहार जब सिनेमा का हिस्सा बनते है तो साहित्य, सिनेमा और संस्कृति एक ही धारा में बहने लगती हैं।

सिनेमा और साहित्यकार दोनों ही अपने देश की जड़ों को मजबूत करने के लिए संस्कृति का सहारा लेते हैं। इसलिए साहित्य और सिनेमा दोनों ही में वीर योद्धाओं, देश के गौरवशाली अतीत से संबंध रखने वाले चरित्रों, भारतीय संस्कृति के मेरूदण्ड धर्म, सत्य, अहिंसा को स्थान दिया गया है। संस्कृति को परिभाषित करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल कहते है- ''संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का महत्त्वपूर्ण प्रकार रही है। हमारे जीवन का ढंग संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय संस्कृति है। साहित्य, कला, दर्शन और धर्म से जो मूल्यवान सामग्री हमें मिल सकती है, उसे नये जीवन के लिए ग्रहण करना यही सांस्कृतिक कार्य की उचित दिशा और सच्ची उपयोगिता है।''[4]

भारतीयों ने लम्बे समय तक विदेशी आततायिओं द्वारा दिए गए कष्टों को सहा है, उन्होंने भारतीय संस्कृति के मेरूदण्ड को जर्जर होते देखा है, इसलिए उनके बचाव की व्यवस्था आवश्यक थी जो काम साहित्यकार और सिनेमाकार ने किया। ये बात अलग है कि साहित्य की सत्यता के साथ-साथ सिनेमा में रोचकता और मनोरंजकता का भाव भी रहता है। प्रेमचन्द ने कहा भी है-''यह भी नयी दुनिया है साहित्य से इसको बहुत कम सरोकार है। उन्हें तो रोमांचकारी सनसनीखेज तस्वीरें चाहिए।''[5] सिनेमा की दुनिया अलग है लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसे जीवन के यथार्थ से कोई सरोकार नहीं। समाज में पनपते प्रत्येक भाव को सिनेमा ने आवाज़ दी, चाहे समाज में प्रस्तुत देह की समस्या हो जिसे 'बरसात', 'जागते रहो', बॉबी, 'प्रेमरोग' जैसी फिल्मों में आसानी से देखा जा सकता है। राजेन्द्र यादव लिखित उपन्यास 'सारा आकाश' पर 1969 में बासु चटर्जी के निर्देशन में इसी नाम से फिल्म बनी जिसमें निम्न मध्यवर्गीय परिवार की कन्याओं को विवाहोपरांत किस तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता है, दिखाया गया है। उपन्यास से फिल्मी रूपांतरण में अत्यंत ईमानदारी बरती गई है।

इसी तरह कमलेश्वर के उपन्यास बदनाम बस्ती का भी फिल्मी रूपांतरण 1971 में निर्देशक प्रेम कपूर ने किया, जिसमें डाकू और नर्तकी के प्रेम और फिर पनपने वाली विसंगतियों को दर्शाया गया है और साथ ही इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि कितनी ही ऐसी साहित्यिक कृतियाँ हुई जो उत्कृष्ट होते हुए भी पाठकों तक अपनी पहुँच नहीं बना पाई, लेकिन जैसे ही उन्हें सिनेमा का आधार मिला, उन्हें समाज में बहुत सराहा गया। उदाहरण के रूप में भीष्म साहनी द्वारा लिखित 'तमस' तथा भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' को देखा जा सकता है। जब इन कथाओं को फिल्म का रूप दिया गया तब ये अत्यंत लोकप्रिय हुईं। केदार शर्मा के निर्देशन में बनी 'चित्रलेखा' औपन्यासिक जीवन्तता के साथ पर्दे पर भी देखी गई। निर्देशक ने उपन्यासकार की भावना उसकी संवेदना को पर्दे पर लाने में पूरी ईमानदारी बरती है। बहुत

बार साहित्य के कथ्य को बदलते, रोचक प्रसंगो को जुड़ते, मूल संवेदना का अभाव भी फिल्मों में देखा जाता है, जिसके पीछे उसका व्यवसायिकरण है। फिल्मों का उद्देश्य यदि तत्कालीन परिस्थितियों से परिचित करवाना है तो पैसा कमाना भी है। यही कारण है कि फिल्म पूरी बनने से पहले ही उसका प्रमोशन शुरू हो जाता है। बाजारवाद की दौड़ में सब अपने को आगे ले जाना चाहते हैं। इस 'आगे ले जाने' की होड़ ने साहित्य के साथ घनिष्टता का संबंध लिए सिनेमा में अश्लील दृश्यों की भरमार, आइटम सांग, गाली-ग्लौच को स्थान दिया, जिसने सिनेमा को एक अलग रंग में रंग दिया।

यह भी सच है कि जहाँ समाज में हिंसा बढ़ी, नग्नता बढ़ी, वहीं सिनेमा इनसे अछूता कैसे रह सकता है। जब हम सिनेमा को समाज का प्रतिरूप मानने में नहीं हिचकते तो व्यवसाय और अपने आप को जिंदा रखने की होड़ में इन गतिविधियों को भी हमें सिनेमा में स्वीकार करना होगा। इसके बावजूद, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता जहाँ बेशर्मी, अश्लीलता, हिंसा समाज में पैर पसार रही हैं, वहीं सिनेमा संस्कृति के अनेक रंगों को भी अपने में समाए अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचता दिखाई देता है कि पश्चिम से प्रभावित फैशन, हिंसा की भावना हमें अंत में कहाँ पहुँचा देती है। इससे बचने के लिए एक विचार वह हमें जरूर दे देता है जो रह-रहकर हमारे मनोमस्तिष्क में घूमता रहता है। जवरीमल्ल पारख इस संदर्भ में कहते हैं- '' सिनेमा के संदर्भ में व्यवसाय की नैतिकता का प्रश्न भी पैदा होता है। इस बात को नहीं भुलाया जा सकता कि फिल्म-निर्माण आज एक बहुत बड़ा व्यवसाय बन गया है कि उसे उद्योग का दर्जा दिया गया है। फिल्म निर्माण में लगी पूंजी की भूमिका को प्रायः नैतिकता के सवाल से जोड़कर नहीं देखा जाता, जबकि हम मानते हैं कि फिल्म निर्माण में लगी पूँजी का बड़ा हिस्सा गलत स्रोत से हासिल किया जाता है। क्या यही वजह नहीं है कि 'दीवार' से लेकर 'देवड़ी' तक ऐसी बहुत-सी फिल्में बनी हैं, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उन अपराधियों को नायक की तरह पेश करती है जिनका पूरा जीवन अनैतिक, तरीके से अमीर बनने और दूसरों की हत्याएँ करने और कराने में गुज़रता है। अधिकांश फिल्म निर्माताओं के लिए फिल्म एक उत्पाद है जिसे बेचा जाना है''[6] इस प्रकार नैतिकता के मानदण्ड यहाँ बदलते दिखाई देते हैं जिसके पीछे सामाजिक, आर्थिक नीतियाँ और व्यक्ति का उसके प्रति दृष्टिकोण काम करता है। परिस्थितियों के अनुरूप मूल्य किसी के लिए नैतिक हो सकते है तो किसी के लिए अनैतिक।

1980 के दशक की बेहतरीन फिल्म 'पूरब-पश्चिम' भारतीय संस्कृति को दर्शाती है जहाँ सत्य, अहिंसा का बोलबाला है, जहाँ फिल्म के नायक को यह विश्वास है कि पश्चिम की उसकी पत्नी भारतीय संस्कृति के रंग में रंगकर यहीं की होकर रह जाएगी, वापस नहीं जाएगी। अंत में निर्देशक ने नायक को जीतते हुए दिखाया है। 'पूरब-पश्चिम' में निर्देशक ने भारतीय भाषा, भारत में रहने वालों से प्रेम, अहिंसा, त्याग, वीरता जैसे सभी भावों को बड़ी गहराई के साथ उतारा है-''है प्रीत जहाँ की रीत सदा मैं गीत वहाँ के गाता हूँ, भारत का रहने वाला हूँ, भारत की बात सुनाता हूँ।'' गीत ने संसार-भर में धूम मचा दी थी। जहाँ भारतीय संस्कृति के प्रत्येक पक्ष को पश्चिम से मजबूत दिखा, अपने-आप को, अपनी क्षमता को पहचानने का अवसर सिनेमा ने दिया है।

भारतीय संस्कृति की विराट तस्वीर को दिखाती 'मदर इंडिया', 'नया दौर', 'लगान', 'स्वदेश' जैसी फिल्में हैं जहाँ किसानी जीवन को उसकी पूर्णता के साथ दर्शाने का प्रयास किया गया है। किसानी जीवन की पीड़ा, वर्षा न होने से फसलों का नष्ट हो जाना और उस पर ज़मीदार के कर्जों की मार को दर्शाती ये फिल्में किसानों का अपनी खेती, अपने देश के प्रति प्रेम, गाँवों में होने वाले विवाहोत्सव, जन्मोत्सव की वे झाँकियाँ हैं, जहाँ हम अपनी संस्कृति के प्रति नतमस्तक हो जाते हैं। पारिवारिक कलह के बावजूद, भाई का भाई से प्रेम, गली-मोहल्ले में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की मुसीबत के समय मदद करना कुछ ऐसे संस्कार हैं जो केवल भारत-भूमि पर ही मौजूद हैं। इन्हीं संस्कारों को फिल्म निर्माताओं ने पर्दे पर प्रस्तुत कर इन्हें जीवंत रखने का भगीरथ प्रयास किया है। आतंकी गतिविधियाँ हमारी सरज़मी पर पैर पसार, भारतीय संस्कृति को नष्ट करने की असफल कोशिश समय-समय पर करती रहती हैं। 'शोले', 'फूलन देवी', 'शेरा', 'पान सिंह तोमर', 'बैंडिट क्वीन', 'चाइना गेट' आदि जिनसे निपटने के लिए भारतीय वीर सदैव मूस्तैद दिखाई देता हैं। आतंकवाद अथवा डाकूओं की दहशत को मिटाने के लिए सभी 'एक' हो जाते हैं। इनकी यही एकता भारतीय संस्कृति का आधार स्तम्भ हैं और इसी एकता के रहते भारतीय संस्कृति की जीत होती है। सुरेन्द्रनाथ तिवारी का मंतव्य ध्यान देने योग्य है-''सिनेमा दरअसल आधुनिक मनुष्य की प्रगति तथा मानवीय संस्कृति के विकास के लिए होने वाले संघर्ष की कहानी है।''[7] इस प्रकार हम देखते हैं कि सिनेमा व्यक्ति को प्रगति की राह पर लाने में कारगर साबित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य सिनेमा और संस्कृति एक ही धागे के वे

मोती हैं जो माला को पूर्ण कर उसे खूबसूरत बनाते हैं। संस्कृति को जीवित रखने के लिए साहित्य और सिनेमा की आवश्यकता है। युवामन चंचल है, बार-बार भटक जाता है। संस्कृति उसके मानसपटल से ओझल होती दिखाई देती है परंतु तभी साहित्यकार और फिल्मकार उसके चंचल मन को साहित्य और फिल्म के माध्यम से स्थिर करते दिखाई देते हैं। भारतीय संस्कृति में उसके विश्वास को दृढ़ करते दिखाई देते हैं, जो हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी जीत है।

साहित्य, सिनेमा और संस्कृति की परस्परता भारतीयों की शक्ति को दर्शाती है। संस्कृति जहाँ जीवन के विविधरूपों को अपने में समेटे हमारे अस्तित्व को कायम करती है तो वहीं साहित्य और सिनेमा पाठक और दर्शक को उस संस्कृति के प्रतिरूप में स्थापित करने में उनकी सहायता करते हैं। साहित्य और सिनेमा दो भिन्न स्तर की कलाएँ हैं जो कथ्य के स्तर पर समान होते हुए भी प्रस्तुति के स्तर पर अपनी भिन्नता को दर्शाती है। यह भिन्नता साहित्य के प्रदर्शन में दिखाई देते है, जहाँ फिल्मकार अपनी वैचारिक भिन्नता को तकनीकी अवयवों का सहारा लेकर दर्शाता है। कोई भी साहित्यिक कृति अपने को शब्दों में ब्यान करती है और फिल्म उन शब्दों को चित्रांकन है जो सभी के लिए समान बिम्ब प्रस्तुत कर अपनी अमिट छाप छोड़ता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. साहित्य और सिनेमा, विपुल कुमार, पृ. 20
2. मीडिया और साहित्य का अंतः संबंध, सं. रतनकुमार पाण्डेय, पृ. 74
3. सिनेमा और संस्कृति, डॉ राही मासूम रजा, पृ. 20
4. हिन्दी सिनेमा और दिल्ली, सविता भाख़डी, आदित्य अवस्थी, पृ. 60
5. साहित्य और सिनेमा, विपुल कुमार, पृ. 56
6. हिन्दी सिनेमा का समाजशास्त्र, जवरीमल्ल पारख, पृ. 130-131
7. भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्रनाथ तिवारी, पृ. 52

डॉ. पूनम शर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर
माता सुंदरी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
दूरभाष : 9210338909

अमरकान्त के कथा साहित्य में मध्यमवर्ग की अवधारणा का विश्लेषणात्मक अध्ययन

—अंजनी शरण गुप्ता

वर्ग वास्तव में मानव समाज की वह व्यवस्था है जहाँ समाज के व्यक्ति समूह का होना निश्चित होता है। वर्ग के अन्तर्गत एक समुदाय का व्यक्ति अपने समूहों के एक प्रकार की संस्कृति, खान-पान, कार्य के योजन की विधि आदि में समता रखता है। जब तक अर्थ में संचय की बात नहीं थी, तब तक मानव समाज में किसी भी प्रकार के वर्ग की संकल्पना नहीं थी। अर्थ के प्रभुत्व ने मानव समाज की संरचना को ही बदल दिया। मानव समाज ने जब से अपने आप को अर्थ संचय की प्रक्रिया से जोड़ा, तब से मानव समाज में बड़े-छोटे की भावना ने घर करना आरंभ कर दिया। बहादुर सिंह परमार का यह कहना उस अधूरे सत्य की ओर संकेत है कि मानव समाज की कल्पना के साथ हमारे मस्तिष्क में वर्गों का स्वरूप उभरता है और इन वर्गों को ही एक प्रकार से सामाजिक श्रेणीकरण का विशिष्ट रूप कहा जाता है। मानव समाज की कल्पना उस समय से प्रारंभ हो गयी थी जब मानव समूहबद्ध नहीं था। प्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक मैकाइवर और पेज ने कहा है, ''किसी वर्ग का अर्थ ऐसे श्रेणी अथवा प्रकार से है जिसके अंतर्गत व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह आते हैं। वर्ग या श्रेणी की जिस बात का उल्लेख मैकाइवर ने किया है उसके बहुत से चरण हैं।''[1] वर्ग की अवधारणा का प्रारम्भिक स्वरूप कार्य के आधार पर था। बहु प्रचलित चतुष्यवर्ग के जिस बात से आज का समाज नहीं मान पा रहा है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शद्रू का आधार कार्य था। ''जिंसवर्ग के अनुसार वर्ग की संकल्पना दलों के सामाजिक भेद पर आधारित है। इन्होंने वर्गों के कार्यों के संबंध में उल्लेख किया है-एक वर्ग के अन्तर्गत ऐसे सदस्य होते हैं जो एक ही वंश से उत्पन्न हों, एक से धंधे में लगे हों, जो धन की दृष्टि से समान स्तर रखते हों और जिनके जीवन निर्वाह का ढंग भी एक जैसा हो।''[2] ऐसे सभी सदस्यों का विचार, भावनाएं, प्रवृत्तियों और व्यवहार समान होते हैं। वर्ग के संबंध में लेनिन की मान्यता है, ''वर्ग व्यक्तियों के बड़े-बड़े दल होते हैं ये दल एक दूसरे से भिन्न होते हैं जिनकी भिन्नता का आधार व्यक्ति की सामाजिक उत्पादन पद्धति के अनुसार निर्धारित किया जाता है। इस अन्तर को उत्पादन के साधनों से ज्ञात कर सकते हैं। यह अन्तर कुछ तो श्रमजीवियों के कार्यों पर आधारित होता है और कुछ सामाजिक धन के अर्जित करने के उपायों से भी ज्ञात

किया जा सकता है।''[3] इस प्रकार समाज वैज्ञानिकों की दृष्टि में व्यक्ति या समूह के आर्थिक एवं सामाजिक स्तरों की भिन्नता पर आधारित होता है। इस कारण एक विशिष्ट प्रकार के आर्थिक और सामाजिक स्तर वाले व्यक्ति एक समूह के अंतर्गत आबद्ध हो कर एक विशिष्ट वर्ग का निर्माण करते हैं। प्राचीन वर्गीय अवधारणाओं के अनुसार वर्ग का निर्माण काम के आधार पर होता था। कार्य की प्रकृति के अनुसार वर्ग का निर्धारण होता था। किसी भी व्यक्ति के वर्ग का निर्धारण उसके जन्म से नहीं किया जाता था बल्कि उसका निर्धारण जन्म के बाद उसके काम के आधार पर होता था। बाद में इस सच्चाई को समाज के चालाक लोगों के द्वारा वड़ी चालाकी से अपने पक्ष में करते हुए अपने बाल-बच्चों के वर्ग का निर्धारण जन्म से करते हुए समाज में जाति-पांति की विद्रूपता ला दिये जिसके दंश को यह देश झेल रहा है। दूसरी तरफ वर्ग के निर्माण में व्यक्ति की भी बड़ी भूमिका होती है।

वर्ग के भीतर व्यक्तियों की विशेषता बड़ी भूमिका निभाती है। व्यक्ति अपनी विशेष प्रवृत्तियों से व्यक्ति समूह को आकर्षित करता रहता है। आज के समाज में व्यक्ति अपनी आर्थिक हैसियत से तथा बाजारवादी नीतियों के कारण समाज के बहुत बड़े हिस्से को अपनी तरफ आकर्षित करता है। समाज का झुकाव जब इस तरह के लोगों की तरफ होता है उस स्थिति में अर्थ की बड़ी भूमिका होती है। लोग अपनी आर्थिक हैसियत के आधार पर एक दूसरे के नजदीक आते हैं। उनका एक दूसरे के नजदीक आना उनको किसी न किसी वर्ग से जोड़ता है। ''मिल्टन एम. जॉर्डन ने इसी तरह के विचार को रखते हुए कहा "धन, आय, व्यावसायिक स्तर, सामुदायिक शक्ति, दल की विशिष्टता, उपभोग का स्तर और पारिवारिक पृष्ठभूमि व्यक्तियों को इनके वर्गों में प्रतिष्ठित कराने वाले आवश्यक तत्व हैं।''[4]

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में वर्ग की अवधारणा के बारे में लिखा गया है किसी विशिष्ट वर्ग के व्यक्ति का स्तर उसकी आय, उसकी सम्पत्ति, जीविका, रहन-सहन का स्तर, शिक्षा, उसकी व्यक्तिगत शक्ति जिसके आधार पर वह समाज के अन्य व्यक्तियों के बीच अपनी विशिष्ट स्थिति का निर्माण करता है। मनुष्य की वंश परम्परा, शिक्षा, आय रहन-सहन का स्तर तथा व्यक्ति की प्रतिभा भी उसे विशिष्ट वर्ग का व्यक्ति प्रतिष्ठित करने में सहायक होती है। बहादुर सिंह परमार ने वर्ग की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए बताया है-''वर्ग व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसकी आय के स्रोतों, आचार-विचार, पारिवारिक पृष्ठभूमि, रहन-सहन, शिक्षा तथा प्रतिभा आदि में साम्यता होती है। यह साम्यता ही इन्हें आपस में आकर्षित करती है, फलस्वरूप समाज में एक वर्ग का निर्माण होता है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर वर्ग के बारे में यह कहा जा सकता है कि वर्ग के निर्माण में व्यक्ति समूह के साथ-साथ व्यक्ति का भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहता है।''[5]

वर्ग के निर्माण में पहले जहाँ व्यक्ति के कार्यों के द्वारा व्यक्ति समूह या वर्ग को पहचाना जाता था वहीं अब वर्ग के अस्तित्व का योजन मात्र कार्यों के आधार को ले कर नहीं रह गया। वर्ग अब अनेक नये-नये तथ्यों के द्वारा निर्धारित होता है। समाज के वर्गों के विभाजन का सबसे बड़ा आधार अर्थ हो गया है। अर्थ के द्वारा कोई भी व्यक्ति किसी भी वर्ग में बड़ी आसानी से रह सकता है। कुछ परम्परावादी वर्गीय मूल्यों का निर्वाह करने वाला व्यक्ति समूह प्रारंभ में अर्थिक स्थिति में छलांग लगाने वाले व्यक्तियों को भले ही सामाजिक आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, सांस्कृतिक गतिविधि आदि के कारण अपने वर्ग में सम्मिलित न करता हो परन्तु बाद में अर्थ के दबदबे के कारण किसी न किसी वर्ग में बड़ी आसानी से जगह बना लेता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि वर्ग का निर्माण कार्य योजन, आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक स्थिति, खान-पान आदि के द्वारा होता है। वर्ग के निर्धारण में आज बाजार की बड़ी भूमिका है। बाजार के द्वारा परोसे गये उपभोक्तावादी वस्तुओं से भी वर्ग का निर्धारण हो रहा है। बाजार के सामानों के द्वारा समाज के लोग किसी भी व्यक्ति को अपने वर्ग में सम्मिलित करते हैं तथा किसी भी व्यक्ति को बड़ी आसानी से निकाल देते हैं।

यह वर्ग उच्चवर्ग और निम्न वर्ग के बीच का होता है। इस वर्ग की अभिलाषाएं उच्चवर्ग की सी है। इसी कारण यह वर्ग हर समय अर्थाभाव झेलता रहता है। आज प्रायः यह देखा जा रहा है कि अर्थाभाव के कारण यह वर्ग समाज के नैतिक आदर्श को खोता चला जा रहा है। इसलिये इस वर्ग की सामाजिक नैतिकता भी दाव पर लगी दिखती है। इस वर्ग के भीतर आने वाले लोगों की व्यापकता को देखते हुए इस वर्ग के बारे में कोई निश्चित परिभाषा देना मुश्किल है। फिर भी विद्वानों ने अपने-अपने हिसाब से इस वर्ग को परिभाषित करने का प्रयास किया है। पवन वर्मा ने मध्यवर्ग की उक्त प्रवृत्ति तथा उत्पत्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया है, ''शिक्षित पृष्ठभूमि वाले ये मध्यवर्गीय भारतीय एक तरह के सामाजिक नैरंतर्य का प्रतिनिधित्व भी करते थे।''[6]

मध्यवर्ग की इसी ऐतिहासिक स्मृति के प्रभाव में आज

भी बाबू का अर्थ अंग्रेजी लिखने वाला देशी क्लर्क बताता है। इन्होंने इसी क्रम में आगे लिखा है कि जनसाधारण इस अशिक्षित बहुलांश के मुकाबले में बाबुओं की संख्या जरूर कम थी लेकिन एक नये किस्म की सामाजिक संस्कृति के प्रमुख तत्व के रूप में उनकी शिनाख्त होनी प्रारम्भ हो गयी थी। 1973 में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने इस वर्ग पर कटाक्ष करते हुए लिखा, ''ये बाबू काफी बातूनी, एक खास विदेशी भाषा में पारंगत और अपनी मातृभाषा को नीची निगाह से देखने वाले होंगे....कुछ बेहद योग्य बाबू तो ऐसे भी होंगे जो अपनी मातृभाषा में बात-चीत करने में अक्षम निकलेंगे। विष्णु की तरह उनके भी दस अवतार होंगे– क्लर्क, अध्यापक, ब्रह्म समाज के सदस्य, मुनीम, डॉक्टर, वकील, मजिस्ट्रेट, जमींदार, संपादक और बेरोजगार.... ये बाबू घर में जलपान और दोस्तों के घर में सुरापान करेंगे। ये तवायफों के अड्डों और मालिकों के यहाँ फटकार खायेंगे।''[7] उल्लेखनीय है कि भारत में मध्यवर्ग की पहचान अंग्रेजी शासन में ही दिखाई पड़ने लगी थी। इस वर्ग को परिभाषा में आवद्ध करते हुए विद्वानों ने इसकी विशेषताओं, दुर्बलताओं और सीमाओं आदि का उल्लेख किया है तथा मध्यवर्ग की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। मध्यवर्ग को स्पष्ट करते हुए डॉ. श्यामसुन्दर घोष ने लिखा, 'यह वर्ग समाज के बीच का हिस्सा होता है, जो समाज को अनुप्रस्थ ढंग से विभाजित करता है और जिसमें कमोवेश कर एक ही रुतबे या ओहदे के लोग सम्मिलित होते हैं जिनकी विशेष आर्थिक और सामाजिक स्थिति एवं प्रवृत्ति होती है जो बहुधा उनकी आय, व्यवसाय, शिक्षा और वंश परम्परा से निर्धारित होती है। स्थान, सामाजिक स्थिति आदि के आधार पर निर्धारित होता है।

आक्सफोर्ड इलस्ट्रेटेड के अनुसार, मध्यवर्ग समाज के उच्च और निम्न वर्ग के बीच का वर्ग है जिसमें व्यवसायिक, व्यापारिक अथवा क्रय-विक्रय करने वाले लोग शामिल होते हैं। चेम्वर्स डिक्सनरी में मध्यवर्ग की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है कि मध्यवर्ग में वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जो अभिजात्य वर्ग और श्रमिक वर्ग के मध्य होते हैं। वेवस्टर न्यू ट्वेन्टियथ डिक्सनरी के अन्तर्गत मध्य वर्ग की परिभाषा निम्नवत दी गयी है कि मध्यवर्ग के अन्तर्गत प्रोलेटेरियट, छोटे व्यवसायों के स्वामी, पेशेवर लोग, बाबू वर्ग और किसान होते हैं। हिन्दी साहित्य कोश में मध्यवर्ग की विशेषता को बताते हुए उसके व्यक्ति रूपों की चर्चा को भी किया गया है पूँजीवादी व्यवस्था ने समूचे समाज को तीन भागों में विभाजित किया है- 1 बुर्जुआ, 2 मध्यवर्ग अर्थात मिडिल क्लास, 3 निम्न वर्ग मध्यवर्ग सामन्तवादी व्यवस्था में पाया नहीं जाता, क्योंकि उस समय जमींदार और किसान का संबंध सीधा था, किन्तु पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल कर दिया है कि एक मध्यवर्ग की भी आवश्यकता हुई, जो इस जटिल व्यवस्था के संघटन सूत्र को संभाल सके। इस वर्ग में नौकरी-पेशा, शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं।

मध्यवर्ग को परिभाषित करते हुए आर. एच. ग्रेटन ने लिखा मध्यवर्ग का नाम ही समाज के स्तर की ओर संकेत करता है। यह वर्ग आज भी मौजूद है और उसकी अपनी विशिष्टताएँ हैं। यह वर्ग अपनी विशिष्टताओं अथवा गुणों में इतना मिला-जुला है कि इस वर्ग को अन्य वर्ग के मध्य माना जाता है। मध्यवर्ग के बारे में डॉ. बी. बी. मिश्र ने विस्तार से चर्चा करते हुए इस वर्ग में आने वाले व्यक्तियों की सूची को प्रस्तुत करते हुए लिखा इस वर्ग के सौदागरों, एजेंटों और आधुनिक व्यापारिक फर्मों के मालिक और संचालक सामिल होते हैं। इनमें शीर्ष स्थान के व्यक्ति सम्मिलित किये जाते हैं, जिनका संबंध थोक विक्री, व्यापार, निर्माण अथवा वित्तीय मामलों से है। वेतन पाने वाले कार्यकर्ता जैसे मैनेजर, निरीक्षक, सुपरवाइजर, तकनीकी कर्मचारी तथा बैंक उद्योग एवं अन्य व्यापारिक संस्थानों में उच्च वेतन पाने वाले अधिकारी वाणिज्य के चेम्बरों और एसोसिएशनों से ले कर राजनीतिक संगठनों, व्यापारिक संघों, दानशील, सांस्कृतिक और शैक्षिक निकायों में कार्य करने वाले लोग मध्यवर्ग में आते हैं। इनके अतिरिक्त उच्च न्यायालयों तथा सरकारी सचिवों को छोड़कर सचिवालयों के कर्मचारी भी इसी वर्ग में परिगणित होते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. आर. एम मैकाइवर तथा सी. एच. पेज, प्रकाशन सोसाइटी, संस्करण, 1948, पृष्ठ 348
2. जिंसवर्ग, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल साइंसेज, जिंसवर्ग, भाग 3 और 4, पृ. 536
3. लेनिन फंडामेंटल ऑफ मार्कसिज्म लेनिनिज्म, पृ. 150
4. हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग, डॉ. मंजुलता सिंह, राजधानी प्रकाशन, संस्करण, 1984, पृ. 2
5. अमरकांत का कथा साहित्य, बहादुर सिंह परमार, शिल्पायन प्रकाशन, संस्करण, 2007, पृ. 11
6. हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्ग, डॉ. मंजुलता सिंह, राजधानी प्रकाशन, संस्करण, 1984, पृ. 2

वैश्विक दृष्टि से पर्यावर्णीय वायु तत्त्व का महत्त्व
(अथर्ववेदीय सन्दर्भ)

–डा. अभिमन्यु सिंह

पर्यावरण का अर्थ है जो हमसे अलग होते हुए भी हमें चारों ओर से घेरे ढके हुए हैं। समझना यह है कि कौन आवृत्त किए हुए है, तथा किस प्रकार घेरे हुए है? सम्पूर्ण पृथ्वी वायुमण्डल से आवृत्त है। इसी प्रकार धरातलीय जीव-स्थल, जल, वायु एवं उनके विभिन्न घटकों से आवृत्त है। पर्यावरण से तात्पर्य किसी वस्तु के पास-पड़ोस से है, उदाहरण के लिए पेड़-पौधों का पर्यावरण वे भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं जो उनकी वृद्धि एवं विकास में सहायक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पर्यावरण किसी एक तत्त्व का नाम नहीं अपितु अनेक तत्त्वों का समन्वित नाम है, जो सम्पूर्ण पृथ्वी (जलमण्डल, स्थलमण्डल, वायुमण्डल व जैवमण्डल) तथा उनके विभिन्न घटकों को अपने में ढके हुए है और जिसका प्रभाव एकाकी न होकर सम्मिलित रूप में होता है। इनमें से वायु तत्त्व मानव का एक मात्र प्राणाधार है। यहाँ पर इसी पर्यावरणीय वायु तत्त्व के वैज्ञानिक विश्लेषण का ही उपस्थापन करना है। इसलिए सर्वप्रथम वायु शब्द के निहितार्थ को समझना आवश्यक है–संस्कृत में वायुशब्द 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से युक् या उण् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है। धातु के अनुसार इसका अर्थ है, जो दूसरों को गति प्रदान करती है या जो गन्धन करती है। गति अर्थ वायु के सर्वत्र गमन का द्योतक है। इसमें गन्धन का अर्थ है–'नष्ट करना' तात्पर्य है कि वायु वह है जो प्रदूषण को नष्ट करती है।

ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व के विषय में अथर्ववेद में अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं जिनका उल्लेख करते हुए वैश्विक दृष्टि से पर्यावरणी वायु तत्त्व के महत्त्व का उपस्थापन प्रस्तुत शोध पत्र में किया जायेगा। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से पर्यावरण शब्द परि़आ़व़ल्युट् से निष्पन्न हुआ है। इसमें परिशब्द का अर्थ चारों ओर से तथा आवरण का अर्थ है–''ढके हुए या घेरे हुए अतः पर्यावरण का अर्थ है जो हमसे अलग होते हुए भी हमें चारों ओर से घेरे ढके हुए है। समझना यह है कि कौन आवृत्त किए हुए है, तथा किस प्रकार घेरे हुए है? सम्पूर्ण पृथ्वी वायुमण्डल से आवृत्त है। इसी प्रकार धरातलीय जीव-स्थल, जल, वायु एवं उनके विभिन्न घटकों से आवृत्त है। पर्यावरण से तात्पर्य किसी वस्तु के पास-पड़ोस से है, उदाहरण के लिए पेड़-पौधों का पर्यावरण वे भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं जो उनकी वृद्धि एवं विकास में सहायक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पर्यावरण किसी एक तत्त्व का नाम नहीं अपितु अनेक तत्त्वों का समन्वित नाम है, जो सम्पूर्ण पृथ्वी (जलमण्डल, स्थलमण्डल, वायुमण्डल व जैवमण्डल) तथा उनके विभिन्न घटकों को अपने में ढके हुए जिसका प्रभाव एकाकी न होकर सम्मिलित रूप में होता है। पर्यावरण की संरचना में अनेक तत्त्वों का समावेश है। इनमें से वायु तत्त्व मानव का एक मात्र प्राणाधार है। यहाँ पर इसी पर्यावरणीय वायु तत्त्व के वैज्ञानिक विश्लेषण का ही उपस्थापपन करना है। इसलिए सर्वप्रथम वायु शब्द के निहितार्थ को समझना आवश्यक है–संस्कृत में वायु शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से युक् या उण् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होता है। धातु के अनुसार इसका अर्थ है, जो दूसरों को गति प्रदान करती है या जो गन्धन करती है। गति अर्थ वायु के सर्वत्र गमन का द्योतक है। इसमें गन्धन का अर्थ है– *'नष्ट करना'* तात्पर्य है कि वायु वह है जो प्रदूषण को नष्ट करती है। आचार्य कणाद ने वायु के विषय में कहा है कि *'स्पर्शवान् वायुः'*[1] अन्नभट्ट ने वायु को 'रूप रहित स्पर्शवान्'[2] कहा है। यह वायु सभी जीव धारियों के लिए महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसके विषय में अथर्ववेद में अनेक मंत्र प्राप्त होते हैं– *दक्षं ते अन्य आवातु व्यन्यो वातु यद् रपः ॥*[3] इस संसार में जल की विशेष आवश्यकता होती है। मानव और पृथिवी दोनों जलाश्रित ही रहते हैं। इस कारण वायु से मेघों को प्रेरित करने हेतु प्रार्थना करते हैं– *समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।*[4]

अर्थात् वायु से युक्त दिशाएँ बादलों के साथ उदित हों और वृष्टि के निर्मित जल वहन करने वाले बादल वायु प्रेरित होकर एकत्र हों और जल के द्वारा पृथिवी को तृप्त करें। वाग्देवी स्वयं को वायु के समान वेग वाली बताती हैं और कहती हैं–समस्त लोकों को विनिर्मित करती हुई मैं वायु के समान सभी भुवनों में संचरित होती हूं। मेरी महिमा स्वर्ग और पृथिवी से भी महान है– *अहं एव वात इव प्र वाक्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।*[5] वायु से शरीर में प्राणायाम के द्वारा शुद्ध और पवित्र होकर यह पवित्र लोकों को ही प्राप्त होता है।[6] अभिलषित फल प्रदान करने के कारण अन्तरिक्ष गौ के समान है और वायुदेव उसके बछड़े के समान है। वह अन्तरिक्ष वायु रूपी अपने बछड़े से हमें अन्न, बल, अपरिमित, आयु, सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करें– *अन्तरक्षिं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः । सा मे वायुना वत्सेषमूर्जं कामं दुहाम् ।*[7]

इस संसार का आधार पृथिवी है और पृथिवी का गुण गन्ध[8] यह गन्ध दो प्रकार की होती है–सुगन्ध और दुर्गन्ध। इन गुणों का अस्तित्त्व वायु से ही होता है, क्योंकि वायु ही गन्धों की संवाहक है। इसलिए हम सभी वायु से प्रार्थना करते हैं कि हमारे इन अभिलषित कार्यों में वायुदेव अनुकूल होकर प्रवाहित हों– *ममान्तरिक्षमुरूलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामायास्मै ।*[9] वायु को लाक्षा नामक औषधि की आत्मा माना गया है– *हिरण्यवर्णे सुभगे शुभे लोमशवक्षणे । अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते ।*[10] अर्थात्, स्वर्ण सदृश रङ्ग वाली भाग्यशालिनि! हे बलकारिणी तथा रोमों वाली लाक्षा ओषधे! आप जल की बहिन हैं और वायु आपकी आत्मा है।

अन्तरिक्ष से बहने वाली वायु हमारे जीवन के लिए सुखदायक होती है– *तुभ्यः वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः ।*[11] हम पुरुषों को अन्तरिक्ष में रहने वाली वायु सुख प्रदान करने वाली हो और जल अमृत के समान अमरत्त्व प्रदान करने वाला हो। ब्रह्मरूप पुरुष के द्वारा यह प्रार्थना की जाती है कि हे पुरुष! हमने वायु देवता से तुम्हारे प्राणों को, सूर्य से नेत्र ज्योति को प्राप्त करके तुम्हारे मन को तुम्हारे अन्दर धारण कराया है। अब तुम अपने में पूर्ण समर्थ हो[12] वायु को हृदय को सुख देने वाला देवता माना गया है– *शं ते सूर्य आतपतु शं वातो वातु ते हृदे ।*[13]

औषधियों को प्रकम्पित करने का कार्य भी वायु द्वारा ही होता है।[14] संपूर्ण संसार वायु अर्थात् प्राणरूप स्वर्गलोक कृष्णाद्र और विधरिणी (धारक शक्ति) प्रष्ठ भाग है– *विश्व वायुः स्वर्गोलोकः कृष्णाद्रं विधरिणी विवेष्यः ।*[15] शुद्ध वायु अपने वेग से या सामर्थ्य से रोगों को उसी प्रकार हमसे दूर कर देती है, जैसे धूल के कणों को पृथिवी से और अन्तरिक्ष से मेघों को उड़ा देती है– *यथावातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।*[16]

मानव शरीर में जो प्राण तत्त्व विद्यमान रहता है, वह वायु ही है, क्योंकि शरीर में जो वायु विद्यमान रहती है, उसे प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामों की संज्ञा दी गयी है। अथर्ववेद में भी प्राण को मातरिश्वा वायु कहा गया है और वायु का नाम ही प्राण बताया गया है। भूत, वर्तमान और भविष्य में जो कुछ भी है, वह सब प्राण में ही प्रतिष्ठित है– *प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते । प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥*[17] दीक्षा के अनुशासनों का पालन करने वाले और तप-साधना करने वाले ब्रह्मवेत्ता जिस परमपद को प्राप्त करते हैं, वायुदेव हमें वहीं ले जाएं। वे पंच प्राणों को हम में स्थापित करें– *वायुर्मा तत्र नयतु, वायुः प्राणान् दधातु मे ।*[18] वायु को अंजन (मणि) का भी प्राण माना गया है।[19] और काल द्वारा ही वायु की उत्पत्ति का भी वर्णन प्राप्त होता है।[20] वह क्षेत्र जो वायु रहित हैं

वहाँ पर धूल के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म कण उसी प्रकार गिरकर जम जाते हैं, जैसे बसन्त ऋतु में वृक्षों से पत्ते गिरकर भूमि पर स्थिर हो जाते हैं–*वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति।*[21]

अथर्ववेद में वायु को औषधि रूप में निरूपित किया गया है। इसे पिता और पुत्र के समान सम्बन्ध वाला बताया गया है, इससे प्रतीत होता है कि वायु का हमारे जीवन में कितना महत्त्व है। आज हम वायु के इस महत्त्व को समझ नहीं पा रहे हैं। निरन्तर वायु को प्रदूषित कर रहे हैं। आज पृथिवी पर वायु प्रदूषण से सभी रोग ग्रस्त हैं। ऋग्वेद में भी वायु को पिता, भ्राता, मित्र और अमृत के समान बताया गया है–*उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि॥*[22] *यददो वात ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे॥*[23]

अर्थात, हे वायु! तुम हमारे पिता, भ्राता और मित्र हो। तुम हमारे जीवन के लिए औषधि स्वरूप बन जाओ। हे वायु! तुम्हारे घर में यह जो अमृत की निधि स्थापित है, उससे हमारे जीवन के लिए अमृत भर दो। अथर्ववेद में वायु के विषय में कहा गया है–*सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः। इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥*[24]

अर्थात, नदियाँ और वायु भली प्रकार संयुक्त होकर प्रवाहित होते रहें पक्षीगण अच्छी तरह से संयुक्त होकर उड़ते रहे। देवगण हमारे यज्ञ को ग्रहण करें, क्योंकि हम हविष्यों को संगठित करके आहुतियाँ दे रहे हैं। यहाँ पर यह बताया गया है कि वायु ही है जो सम्पूर्ण वातावरण में यज्ञ के धुएँ को पहुँचाती है और सम्पूर्ण वातावरण को शुद्ध करती है, जहाँ सभी संयुक्त रूप से निवास करते हैं। हे रोगिन्! अन्तरिक्ष में संचरण करने वाले वायुदेव आपके लिए सामर्थ्य एवं कल्याण प्रदान करें तथा चारों दिशाएँ आपके लिए हितकारी हों।[25] प्रकाशमयी चारों उपदिशाओं को वायुदेव की पत्निस्वरूपा माना गया है। वे आपका कल्याण करें–*इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे।*[26] हे वायुदेव! आपके अन्दर जो रोगनाशक शक्ति है, उस शक्ति द्वारा रोगरूपी शत्रुओं का हरण करे–*वायो यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। वायो यत् ते तपस्तेन तं प्रतिहर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥*[27]

वायु देवताओं के मुख्य पेय सोमरस को पवित्र करता है।[28] अग्निदेव, सवित देव, वायुदेव, भगदेव एवं सोमदेव आदि सभी हमारे अनुकूल रहते हैं।[29] सभी मनुष्यों में व्याप्त अग्नि, जल सहित प्राण द्वारा हमें पवित्र करें।[30] वायु की मानव कल्याण के प्रति अनुकूलता विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि जैसी वायु होती है, वैसा ही हमारा स्वास्थ्य होता है। इस कारण हम सभी वायु की अनुकूलता हेतु प्रार्थना करते हैं–*शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः। वातं धूम इव सध्यङ् मामेवान्वेतु ते मनः॥*[31]

अर्थात, हम तुम्हारे हृदय के भावों को उद्दीप्त करते हैं। तुम्हारे मन को प्रेम भाव से प्रभावित करते हैं, जिससे तुम हमारे प्रति उसी प्रकार अनुकूल हो जाओ जिस प्रकार धूम्र, वायु के अनुकूल एक ही दिशा में प्रवाहित होता है। जिस प्रकार से सूर्य का ताप ऊपर से नीचे की ओर जाता है। गाय नीचे की ओर दुही जाती है उसी प्रकार हे वायुदेव! हमारे अमङ्गल भी अधोगामी हों और सम्पूर्ण प्राणियों का कल्याण हो–*न्यग् वातो वाति न्यक् तपति सूर्यः। नीचीनमध्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः॥*[32]

गाय हमारी सृष्टि का एक अद्भुत जीव है, जिसे माता का स्थान दिया गया है, उन्हीं गौओं के रक्षार्थ देवताओं से प्रार्थना की गयी है–*वायु रेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय घ्रियताम्। इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रूद्रो भूम्ने चिकित्सतु॥*[33]

जिस प्रकार वायु शत्रु द्वारा चलाए गए, बाणों के अग्रभाग को दिशाहीन कर देता है, उसी प्रकार वर्तमान में मानव द्वारा प्रसारित प्रदूषण को दिशाहीन कर मानव का कल्याण करे।[34] मानवकल्याणार्थ हम पृथिवी देव से प्रार्थना करते हैं कि पिता-पुत्रों के सम्मिलन के समान ही आप हम सबके साथ व्यवहार करें और इस पृथिवी पर हमारे शुद्ध जीवन के लिए वायु का प्रसार करें–*पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्वनः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ।*[35]

दुर्वस्तुओं (प्रदूषणकारी) को अग्नि जलाकर भस्म कर दे और वायुदेव इसे अन्तरिक्ष और पृथिवी से उड़ाकर बाहर ले जाये।[36] वायु ऋतुओं के अनुसार ही गति करता है और प्राणहारी प्रदूषणयुक्त धूम्र एवं गन्धादि पदार्थों से हमारी रक्षा करता है–*यस्मात वाता ऋतुथा पवन्ते।*[37]

जिस समय लोग अपनी सामर्थ्यवर्धन हेतु औषधिरूप सोम का पान करते हैं, तो इससे मानव में रोगनिवारक सामर्थ्य की वृद्धि हो जाती है और यह वायु अपनी शुद्धता से इस प्रकार की औषधियों का संरक्षण उसी प्रकार करता है, जैसे महीने वर्ष को सुरक्षित रखते हैं–*यत् त्वा सोम प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।वायुः सोमस्य रक्षिता समाना मास आकृतिः॥*[38]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज सम्पूर्ण विश्व में प्रदूषण की समस्या है जिसके समाधान हेतु वायु के महत्त्व को भलीभाँति समझ सकते हैं। इस कारण पर्यावरण को स्वच्छ रखने की चिन्ता और उस चिन्ता को कार्यरूप में

परिणत करना सबका धर्म है। सबका पावन कर्त्तव्य है। शुद्ध वायु ही वैश्विक प्रदूषण को समाप्त करने में समर्थ है इसी लिए वायु से प्रार्थना की गयी है–सर्वकल्याणमय वायु हम सभी को शान्ति प्रदान करे–*शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः।*[39]

संदर्भ सूची

1. वैशेषिक सूत्र, 2/14
2. तर्कसङ्ग्रह, पृ. 7
3. अथर्ववेद, 2/13/2
4. तदेव, 4/15/1
5. तदेव, 4/30/8
6. अवस्थाः पूताः पवनेने शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्तिलोकम्। अथर्व, 4/34/2
7. तदेव, 4/39/4
8. तत्र गन्धवती पृथिवी, तर्कसङ्ग्रह, राजेश्वर टीका, पृ. 15
9. अथर्ववेद, 5/3/3
10. तदेव, 5/5/7
11. तदेव, 8/1/5
12. वातात् ते प्राणमविदं सूर्योच्चक्षुरहं तव। तदेव, 8/2/3
13. तदेव, 8/2/14
14. पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधिः। तवदे, 9/4/13
15. तदेव, 9/12/4
16. तदेव, 10/1/13
17. अथर्व, 11/6/15
18. तदेव, 19/43/3
19. वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुदिवस्पयः। तदेव, 19/44/5
20. कालेन वातः पवते।, तदेव, 19/54/2
21. तदेव,20/136/3
22. ऋग्वेद, 10/186/2
23. अथर्ववेद, 10/186/3
24. अथर्व, 1/15/1
25 शं ते वातो अन्तरिक्षे वायो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः। तदेव, 2/10/3
26. तदेव 2/10/4, (2/12/1)
27. अथर्व, 2/20/1, 2 (2/20/3, 4, 5)
28. वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्सोमो अति द्रुतः। तदेव, 6/51/1
29. अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च, तदेव, 6/53/1
30. वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः। तदेव, 6/62/1
31. तदेव, 6/89/2
32. अथर्व, 6/91/2 (द्रष्टव्य, 6/92/3)
33. तदेव, 6/141/1
34. वायुरमित्राणामिष्वग्राण्यांचतु। तदेव, 11/12/16
35. तदेव, 11/3/12
36. अग्निरेनं क्रव्यात् पृथिव्या नुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः। तदेव, 11/11/11
37. तदेव, 13/3/2
38. तदेव, 14/1/4
39. अभिषा, 1/1

डा. अभिमन्यु सिंह
असि. प्रोफेसर, संस्कृत तथा प्राकृत विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती की कहानियों में चित्रित परिवेश

—डॉ. गुलाब सिंह यादव

कहानी-विधा में देशकाल और वातावरण-सृष्टि को एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। समकालीन कहानीकार अमृता प्रीतम एवं कृष्णा सोबती की कहानियों के कथानकों को देखने से उस समय का समस्त वातावरण, पात्रों के रहन-सहन का ढंग रीति-रिवाज, जीवन-पद्धति, प्राकृतिक परिवेश आदि जीवन्त रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। अनुभव सिद्ध एवं सीमित देशबोध को अपनी कृतियों के आधार पर ग्रहण करते हुए अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती की कहानियों में स्थानीय वास्तविकता प्रामाणिक रूप से चित्रित हुई है। दोनों लेखिकाओं ने मुख्यतः ऐतिहासिक नगरीय एवं ग्रामीण परिवेश से सम्बन्धित कहानियों में वातावरण पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया है।

आधुनिक युग की कहानीकार अमृता प्रीतम की अधिकांश कहानियाँ वातावरण प्रधान हैं। कई कहानियों में तो घटनातत्व अति सूक्ष्म है और पात्र वातावरण की सजीव पृष्ठभूमि में ही भाव प्रवण रचनाओं की सर्जना कर दी गई है। इसी से उनकी कई कहानियाँ गद्य गीत के अन्तर्गत आती हैं। कथानक प्रधान कहानियाँ भी वातावरण के प्रभावोत्पादक एवं मार्मिक स्पर्श से अनुप्राणित हैं। वातावरण के निर्माण में निहित प्रकृति चित्रण को वे अपेक्षाकृत अधिक वैशिष्ट्य से उभारती हैं। ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक परिवेश के निर्माण में अमृता प्रीतम की अधिक रूचि है। इससे सम्बन्धित परिवेश को लेकर उन्होंने अनेक सुन्दर कहानियां लिखी हैं। 'एक शहर की मौत' कहानी में ऐतिहासिक वातावरण को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—''पामपेई नेपल्ज के पास इटली का एक प्राचीन शहर था। इससे भी पहले यह समुद्री किनारे का शहर ईसा पूर्व 8वीं शताब्दी में युनान के समुद्री जहाजों का बन्दरगाह हुआ करता था। 310 ई. पू. में एक रोमन जहाज यहां आया था, पर पामपेई ने उसे तट से लौटा दिया था। पर आखिर यह शहर जीत लिया गया था और 80 ई. पू. में यह रोमन कॉलोनी बन गया था। फरवरी, 63 में यहाँ एक भयानक भूचाल आया। बहुत कुछ ढहकर ढेरी हो गया। पर इसका निर्माण फिर से शुरू हो गया। निर्माण जारी था कि 24 अगस्त, 79 को यहां लावा फूट पड़ा और शहर आग की गरम राख के नीचे ढँप गया। यह गरम राख गेंह की तरह बरसी थी-धरती से छह फुट ऊँची इसकी तह जम गई थी और इसके लोग

जहाँ बैठे या खड़े थे, वैसे के वैसे उस गरम राख में दब गए थे... ।''[1]

कृष्णा सोबती की कहानियों में चित्रित परिवेश कहानी की मूल संवेदना से सम्बद्ध, पात्र की मनः स्थिति का प्रतिरूपक और समसामयिक जीवन का चितेरा है। चाहे महानगरीय परिवेश हो या ग्रामीण परिवेश या किसी यात्रा या संस्थान का परिवेश हो और चाहे वह उच्चवर्गीय हो, सबके चित्रण में कृष्णा सोबती ईमानदार रही हैं। उनकी कहानियाँ समकालीन परिवेश की कहानियाँ हैं। फलतः उनमें चित्रित वातावरण भी अपने आप में किसी महत्त्वपूर्ण पात्र से कम अहमियत नहीं रखता है। कृष्णा सोबती की कहानियों का जो कथ्य है वह किसी अकेले व्यक्ति की नहीं है, वह हमारे समय का है और वह है–आकुलता, गहरा असंतोष और विद्रोह का। इस सबको शब्दबद्ध करने के लिए कृष्णा सोबती ने प्रायः प्रत्येक कहानी में एक परिवेश दिया है। इनका परिवेश मध्यवर्गीय, उच्चवर्गीय, निम्न मध्यवर्गीय और सरकारी, गैर-सरकारी, शिक्षा संस्थान और त्रासद जीवन का परिवेश है। 'कलमी' कहानी में ऐतिहासिक परिवेश को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–''नगर के बाहर चिलियॉवाला मैदान में आमने-सामने तोपें, गोले फटने लगे। धमाकों में सूरमाओं की हुंकार विलीन होने लगी। चिंघाड़ते घोड़े और उनके सवार पल-पल सीना तानते और फूल होकर मिट्टी को चूम लेते। धरती वही थी, वही धरती थी, पर उसके ऊपर के पाँव डोल गए थे। सिंह की तरह फिरंगी का सामना करने वाली मजबूती आज बिखर चुकी थी... ।''[2]

प्राकृतिक परिवेश का निरूपण प्रत्येक कृति में अहम भूमिका रखता है। अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती के कहानी साहित्य में प्रकृति के विभिन्न रूप प्रस्तुत हुए हैं। अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती दोनों समकालीन हैं। अतः समकालीन हिन्दी कहानी की एक प्रमुख विशेषता के रूप में जिस प्रकृति वर्णन का उल्लेख होता वह दोनों लेखिकाओं की कहानियों में भी विद्यमान है। कहानियों में प्रकृति चित्रण की भावभंगिमाओं को अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती ने अनेक रूपों में बाँधा है, वहीं सूक्ष्मान्वेषिणी दृष्टि उनकी कहानियों में भी प्रकृति के भव्य दृश्यों का विधान करती है। अमृता प्रीतम की कहानी 'वह आदमी' में प्रकृति का कोमल स्वरूपों में चित्रण है–''पेड़ों के पत्तों की शॉ-शॉं, घास की सरर-सरर, पास की नदी के पानी की कल-कल, उसकी एक बकरी की मैं-मैं, उसकी तीन मुर्गियों की कुड़-कुड़ और जाड़ों में दूर पहाड़ी पगडण्डियों पर से उतरते 'गद्दी' गीतों की आवाज और गर्मियों में उन्हीं पगडण्डियों पर से पहाड़ों पर चढ़ते गीतों के स्वर। पर ये आवाजें उसे अपने दिल की धकधक की तरह लगतीं। या अपनी बांह में टकटक करती नब्ज की तरह... .. ।''[3]

इसी तरह कृष्णा सोबती की कहानी 'गुलाबजल गडेरियां'' में प्रकृति का तांडव-पूर्ण एवं कोमल दोनों स्वरूपों में चित्रण है–''आज तपन का दिन था। पर अब वह तपन काँप क्यों रही हैं? आकाश पहले घुटा है। धन्नो की बन्द आँखों पर कोई पर्दा ऊपर-नीचे हो रहा है। वह सेठ के अहाते में लगे जामुन के पेड़-तले बैठी अपनी झोली भर रही है। ढेर से जामुन, पर्दा हिलता है, वह घाट की ओर जाते हुए मैदान में हवा में झूल रही है। हवा में? नहीं, वह चार आदमियों के कन्धों पर है। वह झूलती जा रही है, घाट की ओर, जमुना की ओर, जमुना! 'बाबूराम', रोको रोको.. ।''[4]

कृष्णा सोबती की 'दादी अम्मा' कहानी में प्रकृति वह शृंगार सज्जा चम्पा के मुक्त होने की घटना को यथार्थ परिवेश में व्यक्त करती है। 'दादी अम्मा' का प्रारम्भ द्रष्टव्य है–''बहार फिर आ गई। बसन्त की हल्की हवाएँ पतझर के फीके ओठों को चुपके से चूम गई। जाड़े ने सिकुड़े- सिकुड़े-पंख फड़फड़ाए और सर्दी दूर हो गई। आँगन में पीपल के पेड़ पर नए पात खिल-खिल आए। परिवार के हँसी खुशी में तैरते दिन-रात मुस्कुरा उठे।''[5]

अमृता प्रीतम की अन्य कहानियों में भी प्रकृति-चित्रण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यंजना हुई है। कई कहानियों का तो प्रारम्भ प्रकृति के ही उपादानों से होता है जिनमें उनकी कहानियाँ–'गुलियाना का एक खत', 'पाँच बरस लम्बी सड़क', 'मलिका', 'पिघलती चट्टान', 'सात सौ बीस कदम', 'वह दूसरा और तहखाना' । 'तहखाना' कहानी का प्रारम्भ द्रष्टव्य है–''हवा कुछ तेज सी हो गई शायद इसलिए कि हवा में तुम्हारा साँस मिला हुआ था। और, हवा के सीने में खड़े वृक्षों के पत्ते धड़कने लगे।''[6] इसी प्रकार कृष्णा सोबती की कई अन्य कहानियाँ हैं, जो प्रकृति-चित्रण से प्रारम्भ हुई हैं, यथा– 'बादलों के घेरे', 'दादी अम्मा', 'बदली बरस गई', 'अभी उसी दिन ही तो', 'दोहरी साँझ', 'डरो मत', 'मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा','जिगरा की बात', 'खम्माघाणी-अन्नदाता', और 'एक दिन' । 'एक दिन' कहानी की प्रारम्भिक पंक्तियाँ दर्शनीय है–''इस घर पर से होकर सर्दियाँ गुजर गईं, गर्मियाँ आईं, फिर सर्दियाँ बाहर और फिर गर्मियाँ। सावन शुरू हो गया था। काले कजरारे मेघों की आपस में होड़ होती, बलखाती बिजली चमकती और छम, छम, छम बरखा से धरती भीग जाती। जाने कहाँ से बादल घिरते, कहाँ पर छाते, और कहाँ पर बरस जाते!''[7] इस प्रकार प्राकृतिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण कर अमृता प्रीतम और कृष्णा

सोबती प्रकृति के परिवेश से पाठकों की अन्तः भावनाओं का सामंजस्य प्रस्तुत करती हैं।

अमृता प्रीतम ने प्रकृति चित्रण करते समय आलंकारिक शैली का आश्रय लेते हुए उसमें मानव हृदय के मनोभावों का साम्य परखा है। अमृता प्रीतम की 'यह कहानी नहीं' में नगरीय परिवेश के एक खास कोण से चित्रित करती हुई वह लिखती हैं– ''पत्थर और चूना बहुत था, लेकिन अगर थोड़ी सी जगह पर दीवार की तरह उभरकर खड़ा हो जाता, तो घर की दीवारें बन सकता था। पर बना नहीं। वह धरती पर फैल गया, सड़कों की तरह, और वे दोनों तमाम उम्र उन सड़कों पर चलते रहे। सड़कें, एक-दूसरे के पहलू से भी फटती हैं, एक-दूसरे के शरीर को चीरकर भी गुजरती हैं। एक-दूसरे से हाथ छुड़ाकर गुम हो जाती हैं, और एक-दूसरे के गले से लगकर एक-दूसरे में लीन भी हो जाती थीं।''[8] अमृता प्रीतम की अन्य कहानियों में भी नगरीय परिवेश का चित्रण हुआ है। उनकी 'दो खिड़कियाँ', 'पिघलती चट्टान', अपना-अपना कर्ज आदि में उक्त प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं।

कृष्णा सोबती की कहानी में आंचलिक तत्व की अभिव्यक्ति नगरीय परिवेश पर आधारित कहानियों में भी हुई है। कृष्णा सोबती की कहानी 'पहाड़ों के साये तले' में नगरीय परिवेश को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–''चलते-चलते हर कदम पर लगता कि राह अच्छी नहीं, गिरूँगी। सावधानी से, चौकन्नी होकर पाँव उठाते गई। पाँव भर टेकने की जगह और नीचे काली गहराई। मोटर की सड़क पर पहुँची, तो पहाड़ी रात के साए नहीं उतर आए थे। दूर कहीं अँधियारे में, खुली आँखें पलकों की राह, दो बत्तियाँ हवा की सरसराहट में काँप-काँपकर चमकती थीं, धीमी होती थीं, फिर चमकती थीं। सड़क की तरह आगे-पीछे बिछे अकेलेपन से घबराकर मैं खूब तेज चली।''[9]

आंचलिक तत्त्व की अभिव्यक्ति नगरीय परिवेश पर आधारित कहानियों में हुई है। नगर के वे क्षेत्र जो किसी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं, आंचलिक कथ्य का आधार बनते हैं। इस दृष्टि से कृष्णा सोबती की कहानियाँ 'मेरी माँ कहाँ', 'बादलों के घेरे', 'दोहरी साँझ', 'गुलाबजल गडेरियां', 'सिक्का बदल गया' आदि नगरीय लोक संस्कृति का आंचलिकता के माध्यम से चित्रण करती हैं। अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती की कहानियों में औद्योगिक परिवेश को भी देखा जा सकता है। औद्योगीकरण महानगर सभ्यता का आवश्यक अंग है। अमृता प्रीतम की कहानी 'वह आदमी' में प्रमुख 'कुँवर साहब' की पत्नी की मृत्यु हो जाने के बाद कुँवर साहब को घर की हर चीज फालतू लगने लगती है, वे उससे छुटकारा पाना चाहते हैं। औद्योगिक परिवेश का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–''रेडियोग्राम उसके लिए सबसे फालतू चीज थी-निरा शोर, उसने सबसे पहले उससे छुटकारा पाया। 'कुकिंग रेंज' ने भी यूँ ही जगह घेर रखी थी–उसे तो कुछ पकाने के लिए सिर्फ आग की एक लपट चाहिए थी और आग की लपट के लिए दो-एक ईंटें बहुत थीं। फ्रिज ने यूँ ही पसारा किया हुआ था। उसे दो जून की ताजा रोटी में से कुछ भी बचाकर रखने की जरूरत नहीं थी। महँगे स्टील के बर्तन बिल्कुल फिजूल थे। एक हाँडी, एक तवा, और एक आध प्लेट प्याला, लकड़ी या एक आध और कोई बर्तन बहुत था।''[10] इसी प्रकार कृष्णा सोबती की कहानी 'पहाड़ों के साये तले' (बादलों के घेरे-कहानी संग्रह) में औद्योगिक परिवेश का उदाहरण द्रष्टव्य है–''अचानक बिजली का तार ठीक करते हुए एक सहकारी को इसका इलाज सूझ गया, 'साहब, सत्तर हफ्ते चलने वाली फिल्म के रिकार्ड छाँटता हूँ, आन-की आन में जनता कौसानी के इस चौराहे पर न बिछ गई। लाउडस्पीकर ऊँचा हुआ, बोल उठे और हल्की-फुल्की तर्ज की गूँज लोगों के दिल खटखटाने लगी। चौराहे पर सचमुच रौनक घिर आई। बच्चे, बूढ़े, मर्द, औरतें। पर्दे पर तस्वीरें नाचने लगीं और चित्रों के विदेशीपन को समझाने के लिए देशी भाषा कानों के परदे खोलने लगी।''[11] इसी प्रकार कृष्णा सोबती की प्रसिद्ध कहानी 'ऐ लड़की' में भी औद्योगिक परिवेश देखा जा सकता है–'सूसन, क्या कर रही हो? बत्तियों को न जगा-बुझा। मुझे अँधेरा नहीं भाता। मैं अभी सोने नहीं लगी।''[12] ''दवा दी। पट्टी की। सूई लगाई। टैंपरेचर लिया। डॉक्टर को फोन किया। करवट दिलाई।''[13] ''फ्रिज में से ठंडा पानी, बर्फ, नीबू और गिलास यहाँ रख जाओ। तुम कुछ देर आराम कर लो, जरूरत पड़ेगी तो तुम्हें जगा लूँगी।''[14]

अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती की कहानियों में मध्यवर्गीय परिवेश भी उपलब्ध है। कहानी में दोनों लेखिकाओं ने कुशलतापूर्वक एक मध्यवर्गीय परिवार के परिवेश का चित्रण किया है। अमृता प्रीतम की कहानी 'शाह की कंजरी' में मध्यवर्गीय परिवेश का उदाहरण द्रष्टव्य है– ''काफी शाम हो गई, महफिल खत्म होने वाली थी। शाहन का कहना था, आज वह उसी तरह बताशे बाँटेगी, जिस तरह लोग उस दिन बाँटते हैं जिस दिन गीत बैठाये जाते हैं। पर जब गाना खत्म हुआ तो कमरे में चाय और कई तरह की मिठाई आ गई और शाहनी ने मुट्ठी में लपेटा हुआ सौ का नोट निकालकर, अपने बेटे के सिर पर से वारा, और फिर उसे पकड़ा दिया, जिसे लोग शाह की

कंजरी कहते थे।''[15] इसी प्रकार कृष्णा सोबती की कहानी 'एक दिन' में भी मध्यवर्गीय परिवार को देखा जा सकता है—''धर्मपाल नीचे आँगन में आकर देखा, कोई नौकर-चाकर नहीं था। परदा उठाया तो सामने फर्श पर महरी बैठी कपड़ों की तह लगा रही थी। बच्ची सो गई थी, इसलिए दबे पाँवों बाहर आकर वह काम-धन्धे में लगी थी। जमाई को देखते ही आँखें ऊपर नहीं उठीं। मानों कहती हो रिश्ता ऐसा है, क्या कहूँ। पर तुम यहाँ कैसे? धर्मपाल भी महरी की ओर ठीक से देख नहीं पाए। दबी सी आवाज में बोले, 'महरी!' शायद कुछ पूछना चाहते थे, पर महरी हाथ के कपड़े हाथ में लिए, बिना कुछ कहे-सुने बाहर चली गई।''[16]

अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती की कहानियों में मध्यवर्गीय परिवार का वातावरण यथातथ्य रूप में अंकित हुआ है। अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती ने अपनी कहानियों में गाँव के सीधे-साधे मेहनतकश लोगों का उनके रहन-सहन के ढंग, रीति-रिवाजों के प्रति उनके अनुराग तथा वहाँ के प्राकृतिक वातावरण का अत्यन्त सहज रूप में वर्णन किया है। दोनों लेखिकाओं ने अपने कहानी संग्रह में पंजाब के ग्रामीण जीवन के बारे में वर्णन किया है, साथ ही अपनी कहानियों में पंजाब की तरह-तरह के सांस्कृतिक पक्षों को पूरी जीवन्तता व प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। वहाँ के लोगों की मानसिकता की सूक्ष्म पहचान है। जहाँ उन्होंने अपनी कहानियों में ग्रामीणों की कुंठाएँ, बदलती सीमाएँ, अन्तर्विरोध, यातनाएँ, सामन्तवादी मूल्य मान्यताएँ, जमींदारों-महाजनों की धूर्तता व पुलिस कर्मचारियों व अन्य साजिशों व शोषण के हथकण्डों को कुशल ढंग से बेनकाब किया है, वहाँ पंजाब के पर्वों-त्यौहारों, लोकगीतों, लोक कलाओं व मनोविनोद प्रदान करने वाले अनेक पहलुओं के सजीव-गतिशील चित्र भी पेश किये हैं।

कहानियों के विषयों के आधार पर तो अमृता प्रीतम और कृष्णा सोबती में पार्थक्य है ही, अमृता प्रीतम का कवि हृदय भाववादी प्रभाव को लिए हुए प्रकृति के विभिन्न कलात्मक चित्र प्रस्तुत करने में दक्ष है और कृष्णा सोबती समाज की समस्याओं से अवगत कराने के लिए तत्पर हैं। अतः उनकी कहानियाँ सामाजिक वातावरण को प्रमुख रूप से चित्रित करती हैं। साथ ही दोनों कहानीकारों की वातावरण निरूपण पद्धति में पर्याप्त भेद है। अमृता प्रीतम जहाँ वातावरण को प्रस्तुत करने का कोई भी सुअवसर हाथ से नहीं निकलने देती हैं वहीं कृष्णा सोबती अल्प शब्दों में ही परिवेश को वर्णित कर आगे बढ़ जाती हैं। अमृता प्रीतम वातावरण का चित्रण अपेक्षाकृत विस्तार से करती हैं। कहानी एक लघु विधा है। अतः इसमें परिवेश चित्रण का अधिक अवकाश नहीं रहता पर फिर भी अमृता प्रीतम ने सर्वत्र वातावरण का व्यापक चित्रण किया है। प्रकृति के निरूपण में उनकी वृत्ति अधिक रमी है। कुछ कहानियाँ तो आरम्भ से अन्त तक प्राकृतिक वातावरण पर भी आधारित है। इनमें कथातत्व कम और परिवेश निरूपण अधिक है। इसके विपरीत कृष्णा सोबती अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप में ही परिवेश का परिचयात्मक वर्णन करती है।

संदर्भ सूची

1. अमृता प्रीतम, सात सौ बीस कदम (कहानी संग्रह), एक शहर की मौत, पृ. 97
2. कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे (कहानी संग्रह), कलमी, पृ. 180
3. अमृता प्रीतम, सात सौ बीस कदम (कहानी संग्रह), वह आदमी, पृ. 209
4. कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे (कहानी संग्रह), गुलाबजल गडेरियां, पृ. 77
5. कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे (कहानी संग्रह), दादी अम्मा, पृ. 31
6. अमृता प्रीतम, सात सौ बीस कदम (कहानी संग्रह), तहखाना, पृ. 148
7. कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे (कहानी संग्रह), एक दिन, पृ. 165
8. अमृता प्रीतम, सात सौ बीस कदम (कहानी संग्रह), यह कहानी नहीं, पृ. 199
9. कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे (कहानी संग्रह), पहाड़ों के साये तले, पृ. 157
10. अमृता प्रीतम, सात सौ बीस कदम (कहानी संग्रह), वह आदमी, पृ. 208
11. कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे (कहानी संग्रह), पहाड़ों के साये तले, पृ. 169
12. कृष्णा सोबती, ऐ लड़की, पृ. 31
13. वही, पृ. 60
14. वही, एक दिन, पृ. 94
15. अमृता प्रीतम, सात सौ बीस कदम (कहानी संग्रह), शाह की कंजरी, पृ. 84
16. कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे (कहानी संग्रह), एक दिन, पृ. 173

डॉ. गुलाब सिंह यादव
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी)
वी. एस. एस. डी. कॉलेज, कानपुर

शैलेश मटियानी की कहानियों में जीवन संघर्ष

—डॉ. नीरज कुमार

शैलेश मटियानी का साहित्य भारतीय जनमानस एवं उसकी भावनाओं के साक्षात प्रतिरूप हैं। व्यक्तिगत पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ मटियानी जी के साहित्य में मुखर होकर बोलती दिखाई देती हैं। इसके लिए उन्होंने एक मनीषी की भाँति सतत चिन्तन किया, इतिहास का कोना-कोना झाँका, पुरातत्वों की खोज किया। मानवता के हित के लिए किए गए अपने इस अथक प्रयास के द्वारा अपने चेतना के सागर से ऐसी-ऐसी मणियों को अपने साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है, जिनकी प्रभा में वर्तमान पीढ़ी को दिशा बोध प्राप्त होता है। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचन्द जी का है, ठीक वही स्थान हिन्दी कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में शैलेश मटियानी जी का है। शैलेश मटियानी के साहित्य में निहित सामाजिक उद्देश्य और पुष्ट कथानक दोनों के कारण उसे प्रेमचन्द का संशोधित संस्करण भी कहा गया है। लेखक होने का अर्थ मनुष्य होना है। मनुष्य हो पाने के प्रयत्न में लेखक स्वयं लगा रहता है, साथ ही परिवेशजन्य त्रासदी से जूझता हुआ रचनाओं में भी व्याप्त हो जाता है। शैलेश मटियानी ऐसे ही लेखकों की श्रेणी में आते हैं। जहाँ इनकी कहानियों में संघर्ष आत्मबल को बढ़ाता हुआ जीवन की जिजीविषा को कम नहीं होने देता है। शैलेश की कहानियों के मूल में ही संघर्ष है। इनके पात्र भी जीवन के अनेक स्तरों पर जूझते हैं, जहाँ सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक आदि आयामों से जीवन संघर्ष उभरकर आता है।

शैलेश मटियानी का मानना है कि भय, भूख और स्त्री किसी भी मनुष्य के अस्तित्व को संकट में डालने के लिए पर्याप्त हैं। भय, भूख और स्त्री तीनों पक्ष शैलेश मटियानी की कहानियों में व्यापकता पाते हैं। 'चील', 'बिद्दू अंकल', 'मिट्टी', 'इब्बू मलंग', 'तीसरा सुख', 'सुहागिन', 'मैमूद', 'माता', 'बंदिश', 'कपिला', 'दो दुःखों का एक सुख', 'हारा हुआ', 'शरण्य की ओर', आदि कहानियों में भय, भूख और स्त्री का संघर्ष देखने को मिलता है।

'चील' कहानी का खेलावन घोर दारिद्रय में जीता है। भूख में बदहवासी इस कदर है कि उसे चोरी करना सूझता है, लेकिन चोरी में दो चम्मच चुरा लेता है। यह नहीं सूझता कि इन चम्मचों का क्या होगा? बालक खेलावन को स्वयं का व्यक्तित्व घिनौना लगने लगता है। अपनी माँ से कहता है, ''चोरी ना करि, तो हम का करि? भुक्खे मर जाई?''[1] यहाँ एक बालक परिस्थितियों की भयावहता से जूझता दिखता है।

'बिद्दू अंकल' का विद्यासागर भी लावारिस ढोर डंगर की भाँति जीवन व्यतीत करता है। भूख, बेकारी की तलाश में संवेदना के स्तर पर छटपटाता है, लेकिन विद्यासागर अपना स्वाभिमान बचाए रखता है। उसे यह अहसास हो गया है, ''आँसू अम्मा के आँचल में गिरे तो मोती दीगर के सामने गिरे तो गीज।''[2] 'मिट्टी' कहानी के लालमन और गनेशी भूख व संवेदना से जुड़े हैं। लालमन भीख माँगता है तो उस भीख पर पलते हैं, गनेशी, लालमन तथा गनेशी के दो बच्चे। लालमन गनेशी से कहता है, 'तू मेरी माई है गनेशी'। लालमन की मृत्यु के पश्चात् गनेशी मश्त लालमन को वहीं छोड़कर अपने दोनों बच्चों के साथ चल देती है।

'इब्बू मलंग' का इब्बू मस्तान चरस, शराब, गोश्त, रोटी की खातिर होटल की बड़ी-बड़ी देगची माँजता है, फिर अपना भोजन लेने के बाद कचरे के ढेर पर सो जाता है। एक आवारा कुतिया से आत्मीयता रखता है। कुतिया की हत्या के बाद उसकी कमी इब्बू मलंग को खलती है। उस कुतिया को भूल पाना कठिन था। कुतिया की करुण चीत्कार भरभराते मनों का आतंक उस पर सदा छाया रहा है। नबी पाड़े के दादा में उसे फकीर बना दिया जाता है। वह चरसी इस ढोंग से मुक्त होना चाहता है, अपने भीतर की संवेदनात्मक उपस्थिति को विस्मृत नहीं कर पाया है। भीतर की करुणा उसे मनुष्य की तरह सोचने के लिए विवश करती है। भीतर से मानवीय मूल्यों के लिए जूझता इब्बू मलंग भय और आतंक से चीख पड़ता है–''तू परे हट बे, दोजख के कुत्ते।...आया बड़ी पीर फकीर की दुआ देने वाला। तू कौन है अपनी भैन का मुझे पीर-मलंग बताने वाला? यह बेचारी महतारी, ठीक कहती है कि मैं मलंग नहीं चोर-लबार और मक्कार हूँ। उस दिन तैन, मेरी कुतिया की पीठ पर छुरा घुसेड़ दिया था, आज अपनी भैन के...मेरे ही घुसेड़ के मुझे दफना दे। इब्बू मलंग एकदम फूट-फूट कर रो पड़ा।''[3] शैलेश मटियानी का ध्यान मानवीय मूल्यों पर टिका रहता है। वे लिखते हैं–'स्मरणीय दुःख नहीं होते बल्कि स्मरणीय होती है वह करुणा और संवेदनशीलता जिनका साक्षात्कार दुःखों से गुजरते हुए होता है।'

'तीसरा सुख' की लक्ष्मी का संघर्ष अकरुण समाज की दृष्टि में मायने नहीं रखता। यह संघर्ष देह से देह तक का है। देह असुन्दर है, स्तन भी सपाट है तो पति द्वारा तिरस्कार मिलता है। परित्यक्ता लक्ष्मी अपमान अवहेलना, घृणा की परिस्थितियों में रहते हुए भी उस रहस्य सुख से परिचित होना चाहती हैं जिस रहस्य से परिचित कराने के नाम पर पति द्वारा ठुकराई जाती है। अपने सपाट शरीर से दुःखी थी। इस मनःस्थिति को रेखांकित करते हुए शैलेश मटियानी लिखते हैं–''एक दुर्दान्त आकर्षण से अपने आपको अपने ही लिए अजनबी और घृणा तथा दया के बीच अनिर्णीत लटका देने वाली मनःस्थिति।''[4] एक अंधे भिखारी को देखकर उसे अवलम्ब बनाकर रहस्यमुक्ति का सुख चाहती है। अन्ततः लक्ष्मी अपनी कल्पनाओं को घृणास्पद मानकर पश्चाताप के आंसुओं से धो देना चाहती है। यहाँ संघर्ष पुरुष की निष्ठुरता, रूढ़िग्रस्त कुलीनता एवं देह की उमड़ती इच्छाओं से है।

'सुहागिन' की पद्मावती की पीड़ा लक्ष्मी से मिलती-जुलती है। अपनी कुरूपता और दरिद्रता के कारण उसे अविवाहित रहना पड़ा। लक्ष्मी तथा पद्मावती भारत की हजारों-लाखों लड़कियों की त्रासद यातना और संघर्ष की प्रतीक बन जाती है। इनकी वेदना सबकी वेदना तक पहुँच जाती है। भीतर के उमड़ते आवेगों को दबाने के लिए पद्मावती को निरन्तर जूझना पड़ा। बाहर से सब कितना शान्त परन्तु भीतर कितना बवंडर, कितनी हलचल, कितना शोर, कितना द्वन्द। संवेदनशून्य समाज में पद्मावती का भाई उसके तारण के लिए उसका विवाह तांबे के कलश से करा देता है। ''किशोरियों का जैसा बावलापन, तरुणियों के जैसी सौन्दर्यानुभूति और गृहणियों का अपना व ताम्रकलश पद्मावती की आँखों में एकदम छा गया।''[5]

सुहागिन पद्मावती जितनी ही कलशपति के प्रति अनुरक्त होती जाती है, उतनी ही उसकी पृष्ठभूमि में सामाजिक निर्भयता गहरी होती जाती है और उसका संघर्ष अत्यंत कारुणिक।

'मैमूद' कहानी में जद्दन का संघर्ष ममत्व के धरातल पर है। जद्दन अपने भीतर के मनुष्य बोध से असम्पृक्त नहीं हो पाता है। मैमूद नाम का एक बकरा ही तो है। आखिर उसकी अंतिम परिणति तो गोश्त बनकर मेहमानों के खातिरदारी में ही लगना है, लेकिन जद्दन है कि मैमूद को बेटा मानकर यातना भुगत रही है। वह खुद के भीतर के अकेलेपन से परेशान हैं। सामान्य होने का पूरा प्रयास करती है लेकिन उसके भीतर की संघर्ष-व्यथा, भावना, वात्सल्य, करुणा को समझने के लिए दूसरों के भीतर भी करुणा तथा वात्सल्य भाव का होना अपेक्षित है।

'माता' कहानी की भगवती सामाजिक, पारिवारिक, मानसिक तीनों ही स्तरों पर संघर्षरत है। देह के आवेग को भभूत की रूखी परतों के भीतर दबाने का प्रयत्न किया, भगवती ने और चंचल चित्त को स्थिर करने के लिए जप, तप, व्रत का अवलम्बन लिया। संन्यासिन होना भगवती की चाह नहीं थी, बल्कि पारिवारिक संताप ने ढकेल दिया उस राह पर। भगवती का चिंतामणि पंडा की तरफ आकर्षण

होता है। इस द्वन्द में वह जूझती है। भगवती के मानसिक संघर्ष के मूल में समाज का भय है। इस कहानी के माध्यम से शैलेश मटियानी ने समाज की निमर्मता, क्रूरता और परपीड़न की प्रवृत्ति को दिखाया है। भगवती व्यथा को सहती जाती है। चिंतामणि को अपने निर्णय से गर्व है। उनकी दृष्टि में जैसा संसार नारायण का होता है, वैसा ही नर का भी होना चाहिए। भगवती एक दिन गाँव वालियों की प्रहारधर्मी कटूक्तियों के वारों को झेलते हुए पूछती है– ''जब तक मैं कोरी एक छड़ संन्यासिनी थी, माता नहीं थी, तब तक तो सभी मुझे माताज्यू, माताज्यू पुकारते थे। 'माताज्यू नमो नारायण' कहते थे। मगर अब जब मैं सचमुच की माता बन गई हूँ, मेरा नारी जनम सफल हो गया है, तो तुम मुझे घृणा की दीठ से क्यों देखने लगी हो बैणा ?''[6]

'बंदिश' कहानी की मिस उपाध्याय का संघर्ष समाज द्वारा तय की गई सीमाओं से है। अपने प्रेमी के साथ राधा पातर सुधारगृह से भाग जाती है। पढ़ी-लिखी मिस उपाध्याय समाज की बंदिशों को नहीं तोड़ सकती हैं। उसमें साहस नहीं है। पिता का क्रूर आदेश मिस उपाध्याय की नियति बन जाती है। छुआछूत जाति-पाँति मिटाने की बात करने वाले नेता भी छोटी जातियों के दामाद या बहुएँ लाने का साहस नहीं जुटा पाते हैं। पिता के दोगलेपन की बात से मिस उपाध्याय किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाती है। वह राधा की तरह बन जाना अच्छा मानती है। पिता की क्रूरता से डर कर प्रेमी की जगह पिता द्वारा पसंद के युवक से शादी कर लेती है। प्रेमी चन्द्रशेखर संन्यास की राह चुनता है। राजेश्वरी पति और पुत्र के साथ रहते हुए भी चन्द्रशेखर के लिए ग्लानिग्रस्त रहती है और अन्तर्द्वन्द में फंसी रहती है। उसकी अन्तरात्मा में एक कचोट सी रहती है। अपने आपसे लड़कर भी वह ईमानदारी का परिचय देती है। अपने पति से कहना चाहती है–'जीवन में बहुत कुछ ऐसा भी होता है, जिसे संवादों से नहीं ढाला जा सकता है। एक ऐसा मौन भी होता है, जो व्यक्ति के अन्तर्मन के सबसे घने कोलाहल में से उत्पन्न होता है। अपने सिर्फ औरत होने की अवधारणा और एक पत्नी तथा माँ होने की बंदिशों के बीच जो द्वन्द उमड़ता है, उसे आसानी से शब्दों में नहीं कहा जा सकता है।'

एक स्त्री माँ-बहन-पत्नी होने के मध्य निरन्तर जूझती रहती है जिसका प्रतीक स्वयं राजेश्वरी बनती है। राजेश्वरी सोचती हैं–''काश! तुम लोग समझ पाते अपने लिए संन्यासी हो गए पुरुष को देखने पर कोई भी विवाहिता औरत कैसी दुस्सह आत्मग्लानि और कितना जबरदस्त आकर्षण महसूस कर सकती है और अपनी इस आसक्ति को पाप की अवधारणा से बदल कर देखना कितना क्लेशदायक होता है।''[1] 'सीखचों पर अटका अतीत' शैलेश मटियानी अपने पात्र चन्द्रशेखर के माध्यम से कहते हैं– ''नारी पुरुष से ज्यादा समर्थ होती है। जितने बड़े अंतर्द्वन्द्व को लेकर कोई पुरुष संन्यास लेने, आत्महत्या कर लेने तक की स्थितियों से गुजर जाए और फिर क्रूर पशु और चरित्रहीन हो जाए, उतने को कई औरतें इस तरह अपने ही अन्दर निबटा लेती हैं कि शायद उन्हें अपने अतीत की ओर पलट कर देखने की भी जरूरत नहीं होती।''[8]

'इब्बू मलंग' कहानी संघर्षयुक्त है। विधवा शकुन्तला के जीवन की कौंध उसका सम्पूर्ण संघर्ष उद्भासित कर जाती है। तीन बच्चों को जन्म दे चुकी शकुन्तला चौथे बच्चे को गर्भ में ली है। घरों में बर्तन मांजती हुई जीवन निर्वाह करती है। अपने पति को सट्टा खेलने से रोकने वाली पत्नी बच्चों की माँ बनकर स्वयं सट्टा खेल जाती है। अपनी जमा पूंजी शकुन्तला ने दांव पर लगा दी। सट्टा उसके लिए नशा नहीं था। जिन्दगी और मृत्यु के बीच के फासले को बनाए रखने का एक सशक्त माध्यम था। शकुन्तला इब्बू मस्तान के पास पहुँचकर कहती है–''अरे ओ मस्तान कुल बाईस रूपये तो मैंने अपने कुत्ते के पिल्लों का पेट पालने के लिए बचा रखे थे, अब बना दे मेरे बच्चों के लिए भी यहीं एक मजार और जिन्दा ही दफना दे मुझ कुतिया को यहीं पर।''[9]

इब्बू मस्तान को शकुन्तला की यातना उस कुतिया की तरह दिखाई देती है जो अपनी पीठ पर मूठ तक धँसे हुए छुरे से तड़प-तड़प कर आसमान की तरफ मुँह उठाकर चीखती है।

'कपिला' कहानी की नायिका आर्थिक व सामाजिक धरातल पर संघर्ष करती है। कपिला की परिस्थितियाँ शकुन्तला से भिन्न है। पारिवारिक जिम्मेदारी उसे कपिला से 'कप्पू घोडियानी' बना देती है। कप्पू घोड़ियानी के लिए रात-दिन का डर-भय नहीं है बल्कि गल्ले समय से पहुँचाने की चिन्ता है। स्त्री सुलभ कोमलता संघर्ष की पीड़ा से इस्पात की तरह ढलता गया है। शैलेश मटियानी कहते हैं, ''दूर-दूर के इलाकों तक में कप्पू के पौरुष की चर्चा अगरबत्ती जैसी सुलगती रहती थी।''[10] संघर्ष में सामर्थ्य प्रभावी रहता है। चरित्र की दृढ़ता उसे दैन्य नहीं बनने देती। उसकी दृढ़ता कौतूहल का कारण बन जाती है। बीमार तरुण ध्यान सिंह को पठान की गिरफ्त से बचाती हैं। शैलेश मटियानी लिखते हैं–''ज्यों-ज्यों ध्यान सिंह की काठी सुधरती गई, त्यों-त्यों कपिला की देह छूटती-दुबली

होती गई।''[11] ध्यान सिंह के पौरुष के उभार के साथ कपिला का इस्पाती जिस्म कोमल नारी रूप में बदलता गया है।

'दो दुःखों का एक सुख' की मिरदुला प्रत्येक स्तर पर जूझती है। बेबसी की जिन्दगी जीने को मजबूर है। सूरदास को कोढ़ी करमिया द्वारा पीटने पर तमाशबीनों से बीच-बचाव की उम्मीद करती है। दर्शकों में घृणा का भाव है। अश्लील बातें भी कहते हैं। मिरदुला के भीख के पैसे जगत मिस्त्री ले लेता है। मिरदुला सूरदास के साथ रहती है। करमिया भी उसी कोठरी में सोना चाहता है। मिरदुला को यह पसन्द नहीं है फिर भी आश्रय देने के एहसान के दबाव में विरोध नहीं कर पाती है। करमिया को सह लेना उसकी मजबूरी बन जाती है और करमिया अपनी सभी इच्छा पूरा करता है, फिर भी मिरदुला सूरदास के प्रति गहरी आत्मीयता रखती है। उसके बिछुड़ने की कल्पना मात्र से आँखों में आँसू उमड़ पड़ते हैं। सूरदास के साथ गहरी मिठास है जिसके लिए देह स्तर पर समझौता कर लेती है। कठोर यातना के बावजूद प्रबल जिजीविषा के बूते माँ बन जाती है। शैलेश मटियानी के कहानियों में स्त्री पात्रों के संघर्षों की कमी नहीं है। स्त्री पात्र कहीं-कहीं घुटने टेक देती है लेकिन अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जूझती है तथा अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सफल भी होती है।

'हारा हुआ' कहानी में नायक व खलनायक के बीच का संघर्ष है। एक के जीत में मानवीय मूल्यों की जीत है, वहीं दूसरे की हार में भी उसकी मानवीय संवेदनाओं की जीत होती है। शैलेश मटियानी लिखते हैं–''अपने आप से लड़ता हुआ आदमी हर स्थिति में सिर्फ हारता है, चाहे फिर अकेले के हाथों हारे या भीड़ के हाथों।''[12] 'शरण्य की ओर' का बसंतलाल अपनी रूप गर्विता पत्नी को बहुत चाहने के बाद भी बांध नहीं पाता। पत्नी उसे छोड़कर चली जाती है लेकिन बसंतलाल उसके प्रति उदार बना रहता है। बसंत की आंखों में वेदना है।

मटियानी जी की कहानियों के पात्र आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक धरातल पर संघर्षों से जूझते हुए भी मानवीय करुणा और संवेदना को न केवल बचाए रखते हैं, बल्कि उसी के बल पर उदात्त भावभूमि पर प्रतिष्ठित होते हैं, और कालजयी पात्र बनते हैं।

संदर्भ

1. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-3, प्रकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2004, पृ. 369
2. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-4, संस्करण 2004, पृ. 69
3. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-2, संस्करण 2004, पृ. 308
4. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-2, संस्करण 2004, पृ. 288
5. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-1, संस्करण 2004, पृ. 69
6. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-2, संस्करण 2004, पृ. 306
7. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-2, संस्करण 2004, पृ. 270
8. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-2, संस्करण 2004, पृ. 274
9. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-2, संस्करण 2004, पृ. 307
10. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-2, संस्करण 2004, पृ. 77
11. शैलेश मटियानी की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-2, संस्करण 2004, पृ. 81
12. शैलेश मटियानी की इक्यावन कहानियाँ, विभोर प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2001, पृ. 295

डॉ. नीरज कुमार
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
दीन दयाल उपाध्याय राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, सीतापुर, उ.प्र.

आदिवासी साहित्य के विविध आयामों का अध्ययन

–शैलेन्द्र सिंह
–डॉ. सुमित मोहन

भारत में वर्तमान में अनुसूचित जनजाति को अनेकों नामों से पुकारा जाता रहा है जिसमें मूल निवासी, आदिवासी शब्द काफी प्रचलित रहे हैं। वर्तमान में राजनैतिक लाभ के मद्देनजर वनवासी शब्द भी वर्तमान सरकार द्वारा खूब लिया जाता है किन्तु विपक्षी पार्टी के द्वारा चिंता जताते हुए कहा गया कि जब जंगल कट जायेंगें तो यह लोग वनवासी की श्रेणी से बाहर आ जायेंगें। अतः इनका नाम आदिवासी या मूल निवासी ही ठीक है। मेरा मानना है कि सम्पूर्ण भारत संविधान से चलता है। संवैधानिक भाषा अनुसूचित जनजाति का प्रयोग किया जाय तो ज्यादा उचित होगा क्योंकि इनको भारतीय संविधान के 342 में परिभाषित किया गया है जिसके तहत अनुसूचित जनजातियों के विकास हेतु अनेकों संवैधानिक प्रावधान किये गये हैं। जनजातीय विकास के आरम्भ का श्रेय मौर्य राजा अशोक को दिया जाता है जिसने इस कार्य के लिए अपने मंत्रिमण्डल में एक मंत्री (अन्तमहामात्य) की नियुक्ति की थी। जनजातियों का सन्दर्भ कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दिया गया है जिसमें कहा गया है कि ये स्थानीय लोग अपने क्षेत्र के चप्पे-चप्पे से वाकिफ होते हैं तथा जासूसी सहित स्थानीय कार्यों के लिए इनका अस्थाई सहयोग लिया जा सकता है।

आधुनिक भारत में जनजाति विकास को एक व्यवहारिक रूप अंग्रेजों ने दिया। सन् 1920 तक भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं को उनकी दशा की भनक तक नहीं थी। स्वतन्त्रता के समय ही स्थिति की गम्भीरता को पहचानते हुए संविधान में धारा 38 एवं धारा 46 को जोड़ा गया ताकि पिछड़े वर्गों को शोषण से बचाया जा सके तथा आर्थिक विकास में उनकी सेवा की जा सके। एस.सी./एस.टी./अल्पसंख्यक महिलाओं के सच्चे सहयोगी डा. अम्बेडकर थे जिन्होंने भारतीय संविधान को इतना व्यापक बनाया ताकि सभी का विकास सम्भव हो सके।

आरम्भ में यह तय कर लिया गया था कि जनजातियों को तो मुख्यधारा में आत्मसात किया ही जाए बल्कि उन्हें राष्ट्र की मुख्यधारा के साथ एकीकृत किया जाए। जनजातियों की वास्तविक स्थिति को अनदेखा करने के कार्य को रूटीन समझकर शुरूआत की गयी, जिसका लाभ कुछ अनुसूचित जनजातियों को तो हुआ और वे सामाजिक ताने बाने में सामन्जस्य करने में सफल रहीं किन्तु कुछ आज भी स्कूल आने में असमर्थ है। जनजातियों का अपार जन समूह जिसे

बाजरे की रोटी भी नहीं मिलती है, वे अपने-अपने अस्तित्व को ऐन-केन प्रकारेण बचाए रखते हुए ये आदिवासी दशकों में सरकारी सहयोग की उम्मीद लगाए बैठे हैं। इनमें से ऐसे भी हैं जिनकी स्थिति पहले बेहतर थी जो अब सरकार की अनदेखी का खामियाजा भुगत रहे हैं। जनजातीय विकास के नाम पर सरकार ने सड़कें बनवाईं। पर इसके दुष्परिणाम भी देखने को मिले। विकास की इन सड़कों ने आदिवासियों के विकास के साथ-साथ उनके शोषण के रास्ते भी खोल दिये। इन्हीं सड़कों द्वारा जनजातीय बस्तियों तक पहुँचे सरकारी अफसर, जंगलात ठेकेदारों एवं सूदखोरों महाजनों में जनजातीय संसाधनों को समेटने की होड़ लग गयी ।

वननीति में फेरबदल कर जनजातियों को लाभ पहुंचाने की कोशिश की गई लेकिन इस नीति ने वे वन के अपने अधिकारों से वेदखल हो गए। उन वनों से जो उनकी रोजी-रोटी थी वह छिन गई। धीरे-धीरे उन्हें निहित स्वार्थी तत्वों द्वारा सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक रूप से उखाड़ फेंका गया। ऐसे में मानवतावाद को मानने वाले कुछ समाज सेवक, साहित्यकार आदि हैं जो आज आदिवासियों की सभ्यता, संस्कृति, समस्यायें आदि पर लेखन/साहित्य लेख लिख रहे हैं। एक वे स्वयं जो आदिवासी हैं और दूसरा सामान्य वर्ग पर जो आदिवासी साहित्यकार नहीं है। जनजातियों की कुछ विशेषताएं हैं।

1. निश्चित भौगोलिक क्षेत्र।
2. हम की भावना का पाया जाना।
3. विशेष संस्कृति।
4. कम जनसंख्या घनत्व।
5. आदिम अर्थव्यवस्था।
6. आदिम धर्म।
7. निम्न प्रौद्योगिकी।
8. अलग भाषा।
9. अलग संस्कृति।
10. आर्थिक आत्म निर्भरता।
11. अन्तर्विवाह परिवार।

जनजातीय समाज की अनेकों समस्यायें हैं उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं। यथा– पृथक विकास, वाह्य समाज से सम्पर्क, नई प्रशासनिक व्यवस्थाएं, प्राकृतिक सम्पदाओं का वर्तमान में दोहन न कर पाना, वाह्य लोगों द्वारा शोषण, दुर्गम निवास स्थान की समस्यायें, स्थानान्तरित खेती से सम्बन्धित समस्या, नवीन भूमि व्यवस्था एवं कृषि का अभाव, ऋण ग्रस्तता की समस्या, धार्मिक समस्यायें, भाषाई समस्यायें, अनुकूलनशीलता की समस्या, कला संस्कृति को बचाए रखने की समस्या, स्वास्थ्य एवं पोषण की समस्यायें आदि। भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजातियों हेतु व्यापक रक्षोपाय हैं। उनका रक्षा संविधान के निम्नलिखित अनुच्छेदों मे वर्णित है। यथा–अनुच्छेद 15(4), 16(4), 17, 19, 23, 24, 25, 26, 29, 46, 244, 244(क), 275, 325, 332, 333, 334, 338, 339, 342 आदि अनुच्छेदों में अनुसूचित जाति के विषयों में चर्चा है।

किसी भी समाज एवं साहित्य को पढ़कर उसकी सभ्यता व संस्कृति का पता लगाया जा सकता है। उस समाज के विचार, उस समाज की समस्यायें, उस समाज का रहन-सहन सब साहित्य में झलकता है। किसी भी समाज का साहित्य उसका दर्पण होता है। आदिवासी साहित्य जल, जंगल और जमीन के इर्द-गिर्द घूमता नजर आता है। आदिवासी साहित्य में आदिवासियों की एक ओर कला झलकती है उनके हाथों की सुन्दर चित्रकारी, उनके गहने, उसकी संस्कृति सब का आदिवासी साहित्य में जिक्र है। आदिवासी कहानियां मानव पटल के धरातल पर चित्रकारी करती नजर आती हैं, उनमें इतनी सजीवता है। आदिवासी साहित्य की अपनी अवधारणाएं हैं।

आदिवासी विषय पर लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है।

1. आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है।
2. आदिवासी (आदिवासी दर्शन) के तत्वों वाला साहित्य आदिवासी साहित्य है।

पहली अवधारणा गैर आदिवासी लेखकों की है। जैसे रमणिका गुप्ता, संजीव, राकेश सिंह, महुआ मांझी, बजरंग बिहारी तिवारी, गणेश देवी आदि। आदिवासी लेखकों में हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, आई वी होसदा आदि लेखक हैं। दूसरी अवधारणा इन आदिवासी लेखकों और साहित्यकारों की है जो जन्मना और स्वानुभूति के आधार पर आदिवासियों द्वारा लिखे गये साहित्य को ही आदिवासी साहित्य कहते हैं। तीसरी अवधारणा उन आदिवासी लेखकों की है, जो आदिवासियत के तत्वों को निर्वाह करने वाले साहित्य को ही आदिवासी साहित्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

आदिवासी विमर्श सम्बन्धी साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास आदि प्रमुख विधाओं में रचनाएं हुई हैं। इनमें कविता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विधा है। प्रमुख आदिवासी कविता संग्रहों में झारखण्ड की संथाली कवियित्री निर्मला पुतुल की 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' राम दयाल मुण्डा का 'नदी' और उसके सम्बन्धी अन्य गीत, वापसी, पुनर्मिलन आदि है। इसी तरह कुजूर, मोतीलाल और महादेव टोप्पो

की कविताएं भी अपने प्रतीक चरित्रों और घटनाओं की कथात्मक संष्लिष्टता के कारण विशिष्ट पहचान बनाने में सफल रहीं हैं। मुक्त बाजार आधारित अर्थव्यवस्था के दौर में आदिवासी कभी पैसे और कभी सरकारी नियमों के बल पर अपनी जमीन से बेदखल होकर पलायन कर रहे हैं। इसके कारण आदिवासी भाषा एवं संस्कृति संकट में पड़ गयी हैं। परम्परागत खेलों से लेकर आदिवासियों की लोक कला तक विलुप्त होती जा रही है। ये संकट वामन शेलके के यहाँ इस रूप में है। *सत्य आदिवासी/कटी पतंग की तरह भटक रहा है/कहते हैं, हमारा देश/ इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ रहा है।*

मदन कश्यप की कविता 'आदिवासी' बाजार के क्रूर चेहरे को सामने लाती है–*ठण्डे लोहे सा अपना कन्धा जरा झुकाओ/हमें उस नाव पर पांव रखकर/ लम्बी छलांग लगानी है/मुल्क को आगे जाना है/अब खबर फैल रही है कि मेरा गाँव भी जाने वाला है।*

आदिवासी गद्य साहित्य की शुरूआत बीसवीं सदी के आठवें दशक में हुई। बाल्टर भेगरा ने झारखण्ड अंचल और वहाँ के जीवन को केन्द्र में रखते हुए 'सुबह की शाम' उपन्यास लिखा। इसे हिन्दी का पहला आदिवासी उपन्यास माना जाता है। पीटर पाल एक्का ने 'जंगल के गीत' लिखा। इस उपन्यास में उन्होंने टुम्बा टोली गाँव के युवक कर्मा और उनकी प्रिया करमी के माध्यम से बिरसा मुण्डा के उलगुलान का संदेश पहुँचाया। आदिवासियों द्वारा लिखे गये उपन्यास समकालीन शिल्प और ढांचों से दूर दिखायी पड़ते हैं। इस कमी की भरपाई गैर आदिवासियों द्वारा लिखे गये आदिवासी उपन्यासों से कुछ हद तक हो पायी है। ऐसे उपन्यासों में रमणिका गुप्ता का 'सीता मौसी' कैलाश चन्द्र चौहान का 'भंवर', रणेन्द्र का 'ग्लोबल गाँव का देवता' आदि महत्त्वपूर्ण है। आदिवासी द्वारा लिखे गये हाल ही के उपन्यासों में हरिराम मीणा का 'धूरी तपे तीर' सर्वाधिक लोकप्रिय है। रणेन्द्र का ग्लोबल गाँव देवता सिर्फ आग और धातु की खोज करने वाली धातु पिघलाकर उसे आकार देने वाली कारीगरी असुर जाति के ''जीवन का संतप्त सारांश'' है।

आदिवासी विमर्श के विभिन्न कथाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि आदिवासी विमर्श मानवीय मूल्यों के इतना करीब हैं कि यदि इस साहित्य का प्रचार प्रसार किया जाए तो निश्चित तौर पर आदिवासी विमर्श एक अहम मुकाम बनाने में सफल होगा। आदिवासी विमर्श के साहित्य की जीवन्तता देखने लायक है। वह चाहे निर्मला पुतुल की स्त्री विमर्श की कविताएं हो या रणेन्द्र जी की ग्लोबल गाँव का देवता जैसा साहित्य बरवस आदिवासी साहित्य का पाठक बनने पर मजबूर करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मजूमदार, रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया, एशिया पब्लिकेशन हाउस, बाम्बे, 1961, पृ. 367
2. एस. एल. दोषी, पी. सी. जैन, भारतीय समाज नेशनल पब्लिकेशन हाउस, 2007, पृ. 150
3. हरिनारायण दत्त, श्रीमती जसप्रीत बाजवा, संस्कार व प्रथाएं, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
4. कुमार चौहान, श्रीमती रेनू चौहान, सामाजिक-आर्थिक जीवन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
5. कवि मन जनी मन, सम्पादक, वंदना टेटे
6. सुनील चौधरी, पुरातन एवं नवीन जनजातीय आन्दोलन : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण, रैपिड बुक सर्विस, लखनऊ, उ. प्र.
7. नरेश कुमार वैदम, जनजातीय विकास मिथक एवं यथार्थ, रावत पब्लिकेशन, दिल्ली
8. मीणा, गंगा सहाय, आदिवासी साहित्य, नई दिल्ली
9. पथिक बी. पी. वर्मा, अरावली उद्घोष, उदयपुर
10. शाह के आर. आदिवासी सत्ता, दुर्ग, छत्तीसगढ़
11. टेटे वंदना, झारखण्डी भाषा साहित्य
12. गुप्ता रमणिका, युद्धरत आदमी, दिल्ली
13. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव का देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, 2009

शैलेन्द्र सिंह
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, जे. एस. विश्वविद्यालय
शिकोहाबाद, उ.प्र.

डॉ. सुमित मोहन
शोध निर्देशक, हिन्दी विभाग, जे. एस.
विश्वविद्यालय शिकोहाबाद, उ. प्र.

दशकीय वर्ष 2001-2011 के मध्य जनपद जालौन की अनुसूचित जाति की महिलाओं का शैक्षिक विकास

—अजय कुमार अहिरवार
—डॉ. राजीव अग्रवाल

व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा की महत्ता कपड़े भोजन एवं धन से कहीं अधिक है। बिना शिक्षा के व्यक्ति पशु समान होता है। शिक्षा प्राप्त करने का माध्यम औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही हो सकता है। अर्थात् विद्यालय, परिवार, समाज एवं व्यक्ति के आसपास का वातावरण उसे शिक्षा प्रदान करता है। बालिकाओं के लिए शिक्षा की महत्ता व आवश्यकता इसलिए भी है, क्योंकि शिक्षा ही उन्हें सामाजिक, आर्थिक अधिकारों को दिलाने के साथ-साथ पारिवारिक-सामाजिक व किसी भी प्रकार के शोषण से मुक्ति दिलाती है। देश, समाज व परिवार का विकास महिलाओं की शिक्षा के बिना सम्भव नहीं। शिक्षा बालिकाओं/महिलाओं में निर्णय लेने की क्षमता का विकास करती है। उनमें आत्मविश्वास के साथ-साथ अपने अधिकारों के प्रति सचेत करती है।

अनुसूचित जाति की बालिकाओं की शिक्षा की स्थिति बालकों एवं अन्य वर्गों की बालिकाओं की तुलना में बेहद चिंताजनक है।[1] शिक्षा के सभी स्तरों पर उनकी ड्रॉपआउट दर बेहद चिंतनीय है। प्राथमिक स्तर पर देखें तो मात्र 24.84 प्रतिशत बालिकाएं ही कक्षा-5 तक पढ़ाई पूरी कर पाती हैं। अनुसूचित जाति की बालिकाओं की शैक्षिक ड्रॉपआउट दर के विभिन्न कारण हो सकते हैं, जिसमें प्रमुख कारण के रूप में अनुसूचित जाति की बालिकाओं के अभिभावकों का शिक्षा के प्रति उदासीन दृष्टिकोण, आर्थिक स्थिति तथा असुरक्षा की भावना प्रमुख है। जनपद जालौन जो कि उत्तर प्रदेश राज्य में स्थित है, की अनुसूचित जाति की बालिकाओं की शैक्षिक स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती। विभिन्न सरकारी तथा गैर सरकारी रिपोर्टों से स्पष्ट है कि अनुसूचित जाति की बालिका शिक्षा पर सरकार ही नहीं बल्कि सामाजिक प्रयासों की भी भागीदारी की आवश्यकता है। प्रस्तुत अनुसंधान वर्ष 2001-2011 के मध्य जनपद जालौन की महिलाओं की स्थिति विशेष रूप से अनुसूचित जाति की बालिकाओं की शैक्षिक विकास, अवरोधन के कारण जैसे तथ्यों पर आधारित है। भारतीय समाज में जाति प्रथा का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसकी संरचनात्मक विशेषता को जातिगत खंड विभाजन के

आधार पर समझा जा सकता है जिसका प्रभाव बालिकाओं के शैक्षिक स्तर पर भी देखा जा सकता है। अनुसूचित जाति की बालिकाएं दो तरह से शोषण का शिकार होती हैं, प्रथम दृष्टया जातीयता तथा दूसरा लैंगिक असमानता। स्वतन्त्रता के उपरान्त सामाजिक व आर्थिक रूप से कमजोर जातियों को अनुसूचित जातियों के रूप में सम्मिलित किया गया एवं इनके विकास के लिए विभिन्न सरकारी व गैर सरकारी योजनाओं का संचालन किया गया।

प्रस्तुत शोध ऐतिहासिक एवं सर्वेक्षण शोध है जिसमें मुख्यतः जनपद जालौन जो कि उत्तर प्रदेश राज्य में स्थित है, की अनुसूचित जाति की बालिकाओं के शैक्षिक विकास का अध्ययन किया गया है। आंकड़ों के संकलन के रूप में जनपद जालौन के वर्ष 2001 तथा वर्ष 2011 के जनगणना के आंकड़ों का अध्ययन किया गया है। नीति आयोग की बुन्देलखण्ड पर रिपोर्टस जालौन गजेटियर के साथ विभिन्न प्राथमिक व द्वितीयक स्रोत सम्मिलित है। जनपद जालौन की विभिन्न तहसीलों के गांव से रैंडम प्रतिदर्श चयन पद्धति से अनुसूचित जाति की बालिकाओं व महिलाओं से प्रश्नावली व साक्षात्कार के माध्यम से आंकड़ों को एकत्रित किया गया।

यादव, नरेन्द्र कुमार सिंह (2000)[2], रंजना मिश्रा (1999)[3], पोरवाल उमाकांत (1996)[4], हरगोविन्द दयाल श्रीवास्तव (1991)[5], शालू (2013)[6], उपरोक्त शोधार्थियों ने विभिन्न प्रश्नावली व साक्षात्कार के माध्यम से अनुसूचित जाति की बालिकाओं के शैक्षिक स्तर के डाटा एकत्र किए। शोधार्थियों ने अनुसूचित जाति की बालिकाओं की शैक्षिक विकास, शैक्षिक ड्रॉपआउट दर, शैक्षिक समस्याओं एवं निराकरण से सम्बन्धित शोध कार्य किए। उपरोक्त शोधार्थियों के शोध अध्ययन का सर्वेक्षण करते समय अनुसूचित जाति की बालिकाओं से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों में एकरूपता दिखाई दी जिसमें मुख्यतः शैक्षिक विकास के अवरोधक तत्वों के कारण, आर्थिक स्थिति, अभिभावकों की बालिकाओं के प्रति दृष्टिकोण प्रमुख थे। विभिन्न सरकारी व गैर सरकारी रिपोर्टस्, आयोगों में समय-समय पर बालिका शिक्षा के लिए कार्य योजनाओं का सुझाव सरकार को दिया, से सम्बन्धित आंकड़े भी शोध कार्य में सहायक हैं। इन आंकड़ों में स्त्री साक्षरता हेतु साक्षर भारत मिशन, महिला कामाख्या कार्यक्रम, प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक शिक्षा हेतु विभिन्न योजनाओं ने बालिका शिक्षा को प्रोत्साहित किया।

जनपद जालौन उत्तर प्रदेश राज्य का एक जिला, जो उत्तर मध्य भारत के हृदय बुंदेलखण्ड में स्थित है जिसका मुख्यालय उरई नगर में स्थित है। वर्तमान सन्दर्भ में साक्षर वह व्यक्ति माना जाता है जिसकी उम्र 7 या 7 वर्ष से अधिक हो एवं वह किसी भाषा को समझ के साथ लिख व पढ़ सकता है। यदि कोई व्यक्ति केवल पढ़ सकता है, लिख नहीं, तो वह साक्षर नहीं है। 2001 के जनसांख्यिकीय आंकड़ों के अनुसार जनपद जालौन की स्थिति उत्तर प्रदेश राज्य में 56 नम्बर पर है। लिंगानुपात के मामले में जनपद जालौन (849), राज्य उत्तर प्रदेश (898) के मुकाबले कमजोर स्थिति पर है। जनपद जालौन में 1151 गांव में से 214 गांव निर्जन है। इस समय माधौगढ़ तहसील में जनपद जालौन के सबसे अधिक गांव (227), एवं सबसे कम ग्राम उरई तहसील (129) में है। जनपद जालौन की साक्षरता दर 64.5 प्रतिशत के मुकाबले अनुसूचित जाति की साक्षरता दर 27 प्रतिशत है, जबकि जनपद जालौन की महिला साक्षरता दर 49.2 प्रतिशत व अनुसूचित जाति महिला साक्षरता दर 26.7 प्रतिशत है।[7] वर्ष 2001 में जनपद जालौन की तहसील की शैक्षिक स्तर पर रैंकिंग (क्रम) देखने पर स्पष्ट होता है कि उरई तहसील शैक्षिक स्तर पर प्रथम नम्बर पर, तथा कालपी तहसील पांचवें क्रम पर थी।[8] जबकि तहसील कालपी में सबसे अधिक प्राथमिक विद्यालय स्थापित थे। स्पष्ट है कि विद्यालयों की उपलब्धता के बाद भी अनुसूचित जाति की बालिकाओं का शैक्षिक ड्रॉपआउट एवं कम नामांकन बालिका शिक्षा की उदासीनता को दर्शाता है।

2011 के जनसांख्यिकीय आंकड़ों के आधार पर जनपद जालौन, उत्तर प्रदेश राज्य में 57वें स्थान पर है। साक्षरता की दृष्टि से यह जनपद राज्य में 11 स्थान रखता है। 2011 में जालौन में कुल 1151 ग्रामों में से 942 ग्राम आबाद ग्राम है। माधौगढ़ तहसील में सबसे अधिक एवं उरई तहसील में सबसे कम ग्राम बसे हुए हैं। जनपद जालौन की समस्त जनसंख्या में अनुसूचित जाति की जनसंख्या लगभग 27.7 प्रतिशत है। 2011 के आंकड़ों के अनुसार जनपद जालौन की साक्षरता दर 73.7 प्रतिशत जबकि अनुसूचित जाति की साक्षरता दर 68.5 प्रतिशत है जिसमें अनूसूचित जाति पुरुष साक्षरता दर 80.4 प्रतिशत जबकि महिला अनुसूचित जाति साक्षरता दर 54.4 प्रतिशत थी।[9] 2011 के आंकड़ों के अनुसार जनपद जालौन में बालकों के मुकाबले बालिकाओं का नामांकन प्राइमरी व अपर प्राइमरी में कम है। जनपद की 44.1 प्रतिशत बालिकाओं का ही प्राइमरी व अपर प्राइमरी में नामांकित है।

साक्षात्कार व प्रश्नावली के माध्यम से प्राप्त आंकड़ों

के आधार पर अनुसूचित जाति की बालिकाओं के कम नामांकन के लिए जिम्मेदार तत्वों में क्रमशः

- बालिका शिक्षा के प्रति अभिभावकों में जागरूकता का अभाव।
- अभिभावकों व विद्यार्थियों में असुरक्षा की भावना।
- पितृसत्तात्मक समाज में बालिकाओं के प्रति उदासीन दृष्टिकोण।
- बालिकाओं के प्रति बढ़ते अपराध। उपलब्ध आपराधिक आंकड़े वास्तविक अपराध के आंकड़ों से बेहद कम है।
- लैंगिक असमानता जिसमें बालिकाओं के मुकाबले बालकों को परिवार के द्वारा अधिक महत्व दिया जाना।
- परिवार की आर्थिक स्थिति का कमजोर होना।
- कक्षा में जातीय भेदभाव।[10]
- सामाजिक-जाति भेदभाव भी बालिका शिक्षा के कम नामांकन के लिए जिम्मेदार तत्व है।
- विद्यालयों में बालिकाओं के लिए सुविधाओं का अभाव।
- बालिकाओं के घर से विद्यालय की दूरी जिससे एक तो असुरक्षा का डर, दूसरा अभिभावकों की आर्थिक स्थिति जिसमें वह अपने यातायात का खर्च वहन नहीं कर पाते।

दशकीय वर्ष 2001, 2011 के आंकड़ों के अध्ययन से स्पष्ट है कि जहां 2001 में अनुसूचित जाति बालिका साक्षरता दर 26.7 प्रतिशत थी, वहीं 2011 के शैक्षिक आंकड़ों में तेजी के साथ वृद्धि देखी गई। 2011 में अनुसूचित जाति बालिका साक्षरता दर 54.4 प्रतिशत हो गई। इस दशकीय वर्ष में अनुसूचित जाति बालिका साक्षरता दर दोगुनी तेजी की वृद्धि के साथ देखी गई। बालिका शिक्षा में तेजी के साथ वृद्धि का मुख्य कारण बालिकाओं के शिक्षा के प्रति जागरूकता अभियान, आंगनबाड़ी कार्यक्रमों के माध्यम से बालिका शिक्षा को जागरूक करना, सरकार द्वारा शैक्षिक क्रियाकलापों की समीक्षा एवं बालिकाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता प्रसारित करना। विभिन्न आयोग एवं सरकारी नीतियों में यह बताया गया कि, शिक्षण के प्रत्येक स्तर पर बालिका शिक्षा को संस्थान प्रोत्साहित करें। विद्यालयों में पर्याप्त शिक्षण सामग्री उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया। प्राथमिक व उच्च प्राथमिक विद्यालयों में महिला अध्यापकों की संख्या को बढ़ाने का प्रयास किया गया जिससे बालिकाओं को विद्यालय जाने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके। जनपद जालौन के ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक व उच्च प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना अनुसूचित जाति की बालिका शिक्षा के आंकड़ों की वृद्धि में सहायक हुए। विद्यालय के समय को बालकों के अनुरूप निर्धारित किया गया। पाठ्यक्रम को रूचिकर बनाया गया जिससे बालिकाएं विद्यालय जाने को प्रेरित हुई। अभिभावकों ने बालिकाओं की शिक्षा के प्रति अपने दृष्टिकोण में बदलाव किया। शहरी क्षेत्र में बालिकाओं के शैक्षिक व सामाजिक विकास ने ग्रामीण क्षेत्र के अभिभावकों को बालिका शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया। परिवार की आर्थिक स्थिति को बढ़ाने में बालकों के साथ-साथ बालिकाओं के हिस्सेदारी को समाज ने जाना तथा बदलते परिवेश में शिक्षित बालिकाओं ने भी आर्थिक योगदान में अपनी हिस्सेदारी दी। दशकीय वर्ष 2001-2011 के मध्य ग्रामीण क्षेत्रों सामान्य सुविधाओं की उपलब्धता जिसमें मुख्यतः पेयजल व्यवस्था, विभिन्न ग्रामों में स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं की उपलब्धता, रोशनी हेतु विद्युत की आपूर्ति ने भी अनुसूचित जाति की बालिका शिक्षा को प्रोत्साहित किया। हालांकि प्रश्नावली व साक्षात्कार के माध्यम से जो आंकड़े प्राप्त हुए हैं, उनमें ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्रों के दयनीय हालत के आंकड़े सामने आए हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के स्वास्थ्य केन्द्रों पर स्वास्थ्यकर्मी समय पर उपलब्ध नहीं रहते। दूरदराज शहरों में उनके आवास होने के कारण समय पर ग्रामीणों को स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध नहीं हो पाती। ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत व्यवस्था के संयन्त्र तो है किन्तु अधिकतर खराब हालात में है। विद्युतकर्मियों की समय पर अनुपलब्धता ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत आपूर्ति में बाधक बनती है। प्राप्त आंकड़ों में जातीय भेदभाव अनुसूचित जाति की बालिका शिक्षा को हतोत्साहित करती है। विभिन्न सरकारी आयोग एवं समाचार पत्रों के माध्यम से जातीय भेदभाव के तथ्य उजागर होते रहते हैं। नीति आयोग की रिपोर्ट्स बुंदेलखण्ड (2012) में विद्यालयों में होने वाले जातीय भेदभाव को स्पष्ट किया गया जिससे अनुसूचित जाति की बालिका शिक्षा हतोत्साहित होती है।

बालिकाओं का शैक्षिक रूप से सशक्तीकरण तभी सफल हो सकता है, जब इसे किसी भी समाज द्वारा बालिका शिक्षा को सामाजिक स्वीकृति मिले। बालिकाओं में निर्णय लेने की क्षमता का विकास, शैक्षिक विकास से ही सम्भव है। पुरानी परम्पराओं व मान्यताओं ने बालिका शिक्षा को ही कमजोर नहीं किया बल्कि सामाजिक गतिशीलता भी कमजोर हुई है। जरूरत इस बात की है कि समय के साथ समाज बालिकाओं के प्रति अपनी सोच को बदले साथ ही साथ सामाजिक जातीय बन्धनों में उदार दृष्टिकोण अपनाये। सरकारी गैर सरकारी विभिन्न प्रयासों के बावजूद भारत के ग्रामीण क्षेत्रो में बालिका शिक्षा की स्थिति में

संतोषजनक सुधार न होने का मुख्य कारण बालिकाओं के प्रति सामाजिक व पारिवारिक सोच/दृष्टिकोण नकारात्मक होना है, जिसे ग्रामीण भारत में समान्यता देखा जा सकता है। इस पर विचार करने की आवश्यकता है। सरकार बालिका शिक्षा के विकास हेतु विभिन्न योजनाओं का संचालन कर रही है। किन्तु ये योजनाएं धरातल पर कारगर तभी होगी जब योजनाओं का क्रियान्वन करने वाले नौकरशाहों से लेकर कर्मचारी अपनी उत्तरदायित्वता को स्वीकारे। परिवार विशेष रूप से माता-पिता को बालिका शिक्षा के महत्व को समझना चाहिए एवं परिवार की आर्थिक स्थिति को मजबूत करने में बालिकाओं की भूमिका को स्वीकारने के साथ-साथ बालिकाओं के लिये उचित शैक्षिक वातावरण तैयार करने की पहल करनी चाहिए।

जनगणना 2001 एवं 2011 के अनुसूचित जाति बालिकाओं के शैक्षिक आंकड़ो एवं प्रश्नावली व साक्षात्कार से प्राप्त संरचनाओं/आंकड़ों में विरोधाभाष है। दशकीय वर्ष 2001-2011 के मध्य अनुसूचित जाति बालिका की शैक्षिक दर में दो गुना वृद्धि से स्पष्ट है कि इस दशकीय वर्ष में सरकारी व गैर सरकारी प्रयास किये गये किन्तु समुचित क्रियान्वयन में कमी देखी गयी। ग्रामीण क्षेत्रो में इस दशकीय वर्ष में विद्यालयों एवं शिक्षको की संख्या में वृद्धि हुई, किन्तु विद्यालयों के रख रखाव शिक्षकों की उदासीनता ने बालिका शिक्षा को हतोत्साहित किया। अनुसूचित जाति की बालिकाओं के अभिभावकों की खराब आर्थिक स्थिति, बालिकाओं के प्रति नकारात्मक सोच ने भी बालिका शिक्षा को हतोत्साहित किया, बालिका शिक्षा के प्रति सामाजिक जागरूकता के अभाव एवं असुरक्षा की भावना ने भी बालिका शिक्षा को हतोत्साहित किया। प्रशासन द्वारा बालिका अपराध के विभिन्न मामलों को उजागर न करने की सोच एवं वास्तविक आपराधिक घटनाओं पर कार्यवाही न करने से भी बालिका शिक्षा हतोत्साहित हुई। जनपद जालौन के ग्रामीण क्षेत्रों के विद्यालयो में महिला शिक्षकों का उदासीन दृष्टिकोण एवं विद्यालय में बालिकाओं के लिये अलग से सुविधाओं के अभाव में बालिका शिक्षा का विकास रुका।

संदर्भ सूची :

1. नीति आयोग, बुंदेलखण्ड, 2012, पृ. 149
2. http://hdl.handle.net/10603/10650
3. http://hdl.handle.net/10603/10742
4. http://hdl.handle.net/10603/13593
5. http://hdl.handle.net/10603/24706
6. http://hdl.handle.net/10603/314047
7. Census of India 2001, Uttar Pradesh, district census handbook Jalaun, directorate of census operations, UP Lucknow p. xvi
8. वही, पृ. सं. xviii
9. Census of India 2011, Uttar Pradesh, district census handbook Jalaun, directorate of census operations, UP, Lucknow p. xiii
10. बुंदेलखण्ड 2012, नीति आयोग, पृ. सं. 150-154

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह शरद, स्त्री सशक्तीकरण एक मूल्यांकन (2011), खुशी पब्लिकेशन गाजियाबाद
2. दुबे मालती लता, ग्रामीण महिलायें (2011), एकेडमिक बुक हाउस, भोपाल
3. सिंह शरद, पत्तों में कैद औरतें (2012) सामयिक बुक प्रकाशन, नई दिल्ली
4. बद्री नारायण, दलित वीरांगनायें एवं मुक्ति की चाह (2014) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
5. केशरवानी प्रदीप, भारतीय समाज में महिलाओं की बदलती स्थिति (2018), संरचना प्रकाशन, नई दिल्ली
6. दुसाध एच. एल., हिन्दू आरक्षण और बहुजन संघर्ष (2003), सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
7. नीति आयोग, बुंदेलखण्ड, 2012,
8. http://hdl.handle.net/10603/10650
9. http://hdl.handle.net/10603/10742
10. http://hdl.handle.net/10603/13593
11. http://hdl.handle.net/10603/24706
12. http://hdl.handle.net/10603/314047
13. Census of India 2001, Uttar Pradesh, district census handbook Jalaun, directorate of census operations, UP Lucknow
14. Census of India 2011, Uttar Pradesh, district census handbook Jalaun, directorate of census operations, UP Lucknow

अजय कुमार अहिरवार
शोध छात्र, शिक्षा शास्त्र संकाय,
अतर्रा पी.जी. कालेज अतर्रा, बाँदा, उ. प्र.

डॉ. राजीव अग्रवाल
शोध निर्देशक, अतर्रा पी.जी. कालेज अतर्रा, बांदा, उ.प्र.

भारतीय समाज में महिलाओं का शैक्षिक विकास : एक विमर्श

—अजय कुमार सिंह

शिक्षा एक प्रक्रिया है जो विशिष्ट उपलब्धि की प्राप्ति में सहायक होती है। शिक्षा व्यक्ति की एकांगी विकास नहीं करती बल्कि यह बहुमुखी विकास में सहायता करती है। यह विकास, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं व्यावसायिक सभी से अन्तर्सम्बन्धित होता है। अतः शिक्षा का अवलंबन लेकर ही व्यक्ति उच्चतम स्थिति को प्राप्त करने में समर्थ होता है। महात्मा गांधी के अनुसार—''शिक्षा का अभिप्राय बालक और मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के बहुमुखी एवं सर्वोत्तम विकास से है।'' जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार—''शिक्षा द्वारा ही मनुष्य को जीवन का सही अर्थ समझाया जा सकता है और शिक्षा द्वारा ही उसे अनुचित मार्ग से सद्मार्ग पर लाया जा सकता है। किसी भी राष्ट्र के समग्र विकास में शिक्षा की महती भूमिका होती है। विकास की जटिल प्रक्रिया में शिक्षा अपनी भूमिका का सफल निर्माण तभी कर सकती है जब वह समसामयिक जीवन आदर्शों एवं सामाजिक आकांक्षाओं के अनुकूल उत्प्रेरक की तरह गत्यात्मक, सुनियोजित, संवेदनशील तथा क्रियात्मकता से परिपूर्ण होगी। भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम का संदेश है, ''किसी भी राष्ट्र के विकास और समृद्धि के लिए सबसे आवश्यक तत्व शिक्षा है।'' शिक्षा के माध्यम से संसार की वैज्ञानिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति संभव हुई है। किसी भी परिवार, समाज व देश के गौरव को ऊंचा करने में महिलाओं का विशेष तौर से शिक्षित स्त्रियों का सदैव से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने कहा था, ''मैं जो कुछ भी हूं और जो कुछ भी बनने की आशा करता हूं उसके लिए मैं अपनी माता का कृतज्ञ हूं।'' इसी प्रकार महान सेनानायक नेपोलियन बोनापार्ट ने भी कहा था, ''बालक का भविष्य सदैव उसकी माता द्वारा निर्मित किया जाता है।''

भारत में महिलाओं की स्थिति सदैव एकसमान नहीं रही है। इसमें युगानुरूप परिवर्तन होते रहे हैं। वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति सुदृढ़ थी, परिवार तथा समाज में उन्हें सम्मान प्राप्त था। उनको शिक्षा का अधिकार प्राप्त था। संपत्ति में उनको बराबरी का हक था। सभा व समितियों में स्वतंत्रता पूर्वक भाग लेती थीं। वैदिक काल में महिलाओं को किसी भी

प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। इस काल में अनेक महिलाओं ने विभिन्न क्षेत्रों में विशेष ज्ञान एवं कौशल की प्राप्त की थी। इस काल में महिलाओं के लिए अलग से गुरुकुल नहीं थे। जिन गुरुकुल में महिलाएं प्रवेश ले सकती थीं उनमें भी केवल राजा, महाराजाओं और धनी वर्ग की महिलाएं ही प्रवेश ले सकती थीं। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय समाज में महिलाओं की शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं थी।

मध्यकाल में मुगल शासन सामंती व्यवस्था, केंद्रीय सत्ता का नष्ट होना, विदेशी आक्रमण और शासकों की विलासितापूर्ण प्रकृति ने महिलाओं को उपभोग की वस्तु बना दिया था। इस कारण विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का समाज में प्रवेश हुआ, जिसमें महिलाओं की स्थिति को हीन बना दिया तथा उनके निजी व सामाजिक जीवन को कलुषित कर दिया। इस प्रकार इस काल में महिलाओं की शिक्षा क्षेत्र में विशेष प्रगति नहीं हो सकी।

ब्रिटिश शासन की स्थापना से देश का अनेक दशकों से अहित हुआ लेकिन निश्चित रूप से पाश्चात्य ज्ञान दर्शन और साहित्य के संपर्क से कुछ अंधविश्वासों और रूढ़िवादिता का उन्मूलन करने में सहायता प्राप्त हुई तथा स्त्रियों की सदियों से कुंठित दशा में सुधार होना प्रारंभ हुआ। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध से बंगाल में राजा राममोहन राय व ईश्वर चंद्र विद्यासागर तथा पंजाब एवं उत्तर प्रदेश में स्वामी दयानंद ने महिला शिक्षा पर विशेष बल दिया। 1781 ईस्वी में कोलकाता, मद्रास और 1792 ईस्वी में बनारस में संस्कृत कॉलेज की स्थापना की गई थी। ईश्वर चंद्र विद्यासागर के प्रयासों से कोलकाता में पहला महिला कॉलेज बैथ्यून कालेज स्थापित हुआ। श्री बैथ्यून ने लड़कियों के लिए अनेक स्कूल स्थापित किए। इस प्रकार भारतीय समाज सुधारकों और अंग्रेज अधिकारियों के प्रयासों से महिलाओं की शिक्षा के लिए अनेक प्रयास प्रारंभ हुए।

सन 1857 ईस्वी में कोलकाता विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और 20 वर्षों के अंदर मुंबई, मद्रास और इलाहाबाद में भी विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। सन् 1882 में पहली बार लड़कियों ने स्नातक की उपाधि प्राप्त की।

बीसवीं शताब्दी में आगरा, पटना, नागपुर, लखनऊ, अलीगढ़, बनारस, दिल्ली, ढाका, मैसूर, हैदराबाद आदि अनेक स्थानों पर विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। सभी विश्वविद्यालयों में लड़कियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था की गई। ब्रिटिश सरकार के अतिरिक्त ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, सर्वेंट ऑफ इंडिया सोसाइटी तथा लोकसेवक संगठनों के प्रयासों से लड़कियों के लिए विद्यालय और महाविद्यालय खोले गए।

महिलाओं की शिक्षा में आने वाली बाधाओं को जानने और समझने के लिए अनेक समितियों और आयोगों का गठन किया गया, जो निम्नवत प्रस्तुत हैं :

1. बुड का घोषणा पत्र-185 : इस घोषणा पत्र द्वारा भारत में पहली बार देश की उन्नति के लिए महिला शिक्षा की आवश्यकता अनुभव की गई और उसके लिए बालिका विद्यालयों की संख्या बढ़ाने की घोषणा की गई।

2. हंटर कमीशन 1882 : भारतीय शिक्षा आयोग ने स्वीकार किया कि उस समय भारत में महिला शिक्षा की बहुत कमी थी। आयोग ने भारत में महिला शिक्षा के विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए :

i. बालिकाओं की शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिए।
ii. निर्धन छात्राओं को छात्रवृत्ति दी जानी चाहिए।
iii. बालिकाओं के लिए छात्रावासों का प्रबंध होना चाहिए।
vi. महिला शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालय खोले जाने चाहिए।

3. शिक्षा प्रस्ताव (नीति)-1913

i. बालिकाओं के लिए अलग से स्कूल खोले जाएं।
ii. बालिकाओं के लिए पाठ्यक्रम बनाए जाएं।
iii. महिला शिक्षकों और निरीक्षकों की संख्या में वृद्धि की जाए।

4. कोलकाता विश्वविद्यालय (सैडलर आयोग) 1917-19 :

आयोग ने महिला शिक्षा से संबंधित निम्नलिखित सुझाव दिए :

i. आयोग ने महिला शिक्षा की उचित व्यवस्था हेतु स्त्री शिक्षा का विशिष्ट बोर्ड (Special Board of Women Education) की स्थापना का सुझाव दिया।
ii. देश में पर्दानशीन महिलाओं की शिक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। इसलिए माध्यमिक स्तर पर 'पर्दा स्कूल' खोलने का सुझाव दिया।

5. विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (राधाकृष्णन आयोग) 1948-49

i. स्त्री शिक्षा का मुख्य उद्देश्य उन्हें सुमाता और सुग्रहणी बनाना होना चाहिए।
ii. महिलाओं की शिक्षा के पाठ्यक्रम में गृहप्रबंध, गृह-अर्थशास्त्र और पोषण की शिक्षा को स्थान देना चाहिए।
iii. उच्च शिक्षा स्तर पर सह शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

6. माध्यमिक शिक्षा आयोग (मुदालियर आयोग) 1952-53

i. बालकों की तरह बालिकाओं को भी सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार हो।

ii. बालिकाओं के लिए गृहविज्ञान के अध्ययन की व्यवस्था की जाए।

iii. आवश्यकतानुसार बालिका विद्यालय खोले जाएं।

vi. जहां बालिका विद्यालय खोलना संभव न हो वहां सहशिक्षा की स्वीकृति दी जाए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय समाज में महिलाओं की शिक्षा के लिए कुछ समय को छोड़ दिया जाए तो बाकी कार्यों में अनवरत प्रयास दिखाई पड़ता है। महिलाओं की शिक्षा के लिए सबसे अधिक प्रयास ब्रिटिश काल के दौरान भारतीय समाज सुधारकों द्वारा किया गया। समाज सुधारक पाश्चात्य (अंग्रेजी) तथा भारतीय शिक्षा प्रणाली (संस्कृत) दोनों तरह की शिक्षा महिलाओं को प्रदान किए जाने के समर्थक थे।

शिक्षा सामाजिक सशक्तिकरण के लिए प्रथम एवं मूलभूत साधन है। यह माना जाता है कि शिक्षा ही वह उपकरण है जिससे महिला समाज में अपनी सशक्त, समान व उपयोगी भूमिका की अनुभूति करा सकती है। शिक्षा के आधार पर महिला में दक्षता, कौशल, ज्ञान एवं क्षमताओं का विकास होता है। शिक्षित महिला न केवल स्वयं लाभान्वित होती है, वरन् उससे भावी पीढ़ी भी लाभान्वित होती है। महिला शिक्षा से उसका शोषण रोकने में सहायता मिलेगी निर्णय लेने की क्षमता सशक्तिकरण का एक बड़ा मानक है। शिक्षा जीवन के दरवाजे की कुंजी है जिसका लक्ष्य ज्ञान रूपी प्रकाश फैलाना तथा अज्ञानता रूपी अंधेरे को दूर करना है। विश्व विकास रिपोर्ट-1993-99 स्पष्ट करती है कि महिला शिक्षा आर्थिक विकास में सहायक होने के साथ ही प्रजननता को कम करके बच्चों के उचित पालन-पोषण तथा माता-पिता एवं बच्चों के बेहतर स्वास्थ्य में सहायक होती है।

लड़कियों की शिक्षा और महिलाओं के सशक्तीकरण का मुद्दा राष्ट्रीय महिला सशक्तीकरण नीति-2001 ने उठायी, जो इस प्रकार है–एक तरफ संविधान, विधानों, नीतियों, योजनाओं में प्रतिपादित लक्ष्यों और भारत में महिलाओं की स्थिति के सम्बन्ध में परिस्थितिजन्य साक्ष्य वास्तविकता के बीच अभी भी बहुत बड़ा अन्तर है।

जेण्डर सम्बन्धी असमानता कई रूपों में उभरकर सामने आती है जिसमें सबसे प्रमुख है लिंगानुपात में गिरावट। सामाजिक रुढ़िवादी सोच बालिकाओं के प्रति भेदभाव के कई भागों में आज भी जारी है। इसके तहत महिलाओं और लड़कियों के लिए शिक्षा तक समान पहुंच को सुनिश्चित करने, भेदभाव खत्म करने, शिक्षा को जन-जन तक पहुंचाने, निरक्षरता दूर करने, लिंग संवेदी शिक्षा पद्धति बनाने, लड़कियों का नामांकन बढ़ाने, महिलाओं द्वारा रोजगार और तकनीकी कौशल के साथ-साथ जीवन-पर्यन्त शिक्षण को सुलभ बनाने के लिए शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के लिए विशेष उपाए किए जायेंगे। माध्यमिक और उच्च शिक्षा में लिंग भेद को कम करने की ओर ध्यान आकर्षित किया जायेगा।

संदर्भ ग्रन्थ

- अग्निहोत्री, रविन्द्र (2006), आधुनिक भारतीय शिक्षा की समस्याएं और समाधान, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
- चौबे, सरयू प्रसाद (1975), भारत में शिक्षा का विकास, इलाहाबाद, सेन्ट्रल बुक डिपो
- गुप्ता, एस. पी. तथा अलका गुप्ता, (2007), भारतीय शिक्षा का तानाबाना, इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन
- सिंह, अमृता (2014), स्त्री शिक्षा, आगरा, अग्रवाल पब्लिकेशन
- लाल, रमन बिहारी (2012), भारतीय शिक्षा का विकास एवं उसकी समस्याएं, मेरठ, रस्तोगी पब्लिकेशन
- मालवीय राजीव, (2013), उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन
- मालवीय राजीव, (2022), शिक्षा की वैचारिक रूपरेखा, प्रयागराज, शारदा पुस्तक भवन
- रावत, प्यारे लाल (1975), प्राचीन और भारतीय शिक्षा का इतिहास, आगरा, भारत पब्लिकेशन
- मिश्रा, जे. के. (1965), विकास का समाजशास्त्र, वैशाली प्रकाशन, गोरखपुर
- तिवारी, आर. पी. (1999), भारतीय नारी : वर्तमान समस्याएं एवं समाधान, नई दिल्ली
- जैन, प्रतिभा (1998), भारतीय स्त्री, सांस्कृतिक संदर्भ, रावत पब्लिकेशन, जयपुर
- त्रिपाठी, मधुसूदन (2006), बालिका शिक्षा, विद्यावती प्रकाशन, नई दिल्ली

अजय कुमार सिंह
शोध छात्र
शिक्षा शास्त्र विभाग
नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय
जमुनीपुर, कोटवा, प्रयागराज

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के कहानी संग्रह 'आधा कमरा' की कहानियों में जीवन दृष्टि

—अविनाश यादव

हिन्दी साहित्य की प्रख्यात लेखिका चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने तीन सौ से अधिक कहानियाँ; चार उपन्यास—'चंदन चाँदनी', 'वंचिता', 'और दिया जलता रहा', 'कहीं से कहीं नहीं' आदि की रचना की। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की अधिकांश कहानियाँ एवं रचनायें तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं पंकज, माया, शान्ति, चाँद, विश्ववाणी, आज, आजकल, नवयुग, मनोरंजन, विजय, सरगम, जनसेवक, कल्पना, राष्ट्रवाणी, प्रयाग, सैनिक, सारिका, कादम्बिनी, धर्मयुग, हमारा घर, नीहारिका, ज्ञानोदय, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नवभारत टाइम्स में छपी, जिनमें से अधिकांश आज प्राप्य नहीं है। इनकी जो कहानियाँ प्राप्य हैं वह अभी हाल के वर्षों में 9 नवीनतम प्रकाशित कहानी संग्रह में संकलित की गयी हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के 'आधा कमरा' (कहानी संग्रह) में कुल 21 कहानियाँ है जो इस प्रकार हैं—दहकते कोयले, लक्ष्मी के चरण, प्यार की छाँह, बदनाम लोग, किस्मत, आशा और निराशा, कल्याणी, खास पहचान, अफसर का बेटा, प्यार की पुतली, बेटी की कमाई, आँगन की चाँदनी, करुणा, माँस और रोटी, आत्महन्ता, आधा कमरा, 'रेखाएँ और वर्ग, वर्ग और वृत्त', एक किरण प्यार की, सभ्यता की ओर, चोर, हाथी के दाँत आदि।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अपने सभी कहानी संग्रहों में जीवन के सभी पक्षों पर विशेष प्रकाश डाला है तथा जिसका वर्णन उन्होंने अपने कहानी संग्रहों में किया है, जिसमें कहानी संग्रह 'आधा कमरा' में स्त्री जीवन के साथ ही साथ जीवन से सभी पक्षों का वर्णन निम्न है—'लक्ष्मी के चरण' कहानी एक ऐसी लड़की की कहानी है कि जिसके ससुराल में कदम रखते ही चारों तरफ खुशहाली छा जाती है तो ससुराल वाले उसे अपनी आँखों पर बैठा लेते हैं लेकिन यदि कुछ अशुभ या नुकसान हो जाये तो वे उसे उसके दुर्भाग्य का दोष देकर उसे धरती पर पटक देते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—''अम्मा, मैं बहू को लिवा लाऊँ?'' नवीन ने भाभी के द्वारा माँ को कहलाया। माँ ने स्वयं आकर कहा—''जब तक तू एल-एल.बी. पास नहीं कर लेता, बहू इस घर में कदम नहीं रख सकती। वाह उसके रहने पर घर-दुकान में जो घाटे होंगे उन्हें पूरा करने को भी तो कुछ चाहिए।''[1]

'आशा और निराशा' कहानी एक गरीब रिक्शा चालक सीताराम जो पंडित जी के चक्कर में पड़ जाता है और अपनी गाढ़े की कमाई के बीस आने पण्डित जी की बिचरवाई के लिए दे देता है जिसके बदले पंडित जी उसे गण्डा देते हैं और कहते हैं कि सब कुशल मंगल होगा और तुम्हारी स्थिति बहुत जल्द अच्छी हो जायेगी। इससे गरीब रिक्शा चालक के मन में आशा का संचार होता है। लेकिन जब वर्षों बाद उसकी स्थिति अच्छी होने के बजाय और बिगड़ जाती है और उसके मन में निराशा का संचार होता है, सीताराम पुनः पंडित जी के पास जाता है तो पण्डित जी अपनी बातों की चतुराई से सारा दोष उसी रिक्शाचालक पर डाल देते हैं और उससे दूसरा गण्डा बनवाने के लिए कहते हैं और बताते हैं कि इस बार पहले से ज्यादा पैसा लगेगा लेकिन आपकी ग्रह दशा सुधर जायेगी। यह सुनकर गरीब रिक्शा चालक के जेब में एक फूटी कौड़ी भी न होते हुए उसके मन में आशा का संचार होता है और वह दूसरा गण्डा बनवाने के बारे में सोचते हुए पण्डित जी के यहाँ से चला जाता है। उदाहरण द्रष्टव्य है–''तेरे से थोड़ी चूक हो गई बच्चा! हमने कहा था कि जो काम करो होशियारी से करो। घबरा कर काम करोगे तो गड़बड़ हो जाएगा। तुम घबरा के एकदम गाँव चले गए, न साइत देखी न ग्रहदसा और बच्चा सनि देवता कोई ऐसे-वैसे तो हैं नहीं। उन्होंने राजा नल को घाट-घाट का पानी पिला दिया था। सो बच्चा धीरज रखो, इस बार जतन से दूसरा गण्डा बनाए देंगे। हाँ, पैसे कुछ ज्यादा लगेंगे पर दसा सुधर जाएगी।''[2]

'खास पहचान' कहानी चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने स्वयं को केन्द्र में रखकर रची है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के पति कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा जब बदायूँ के एस. डी. एम. थे तो चन्द्रकिरण जी को किसी बच्चे के धार्मिक संस्कार के लिए बरेली जाना पड़ा तथा उसी दिन शाम की गाड़ी से वापस भी अपनी तीनों बच्चियों के साथ आना पड़ा। गाड़ी की सेकेण्ड क्लास में पर्याप्त स्थान खाली था लेकिन गाड़ी के यात्रियों ने चन्द्रकिरण की कोई मदद नहीं की उल्टा उन्हें कष्ट देने का ही प्रयास किया, लेकिन ज्यों ही यात्रियों को यह पता लगा कि चन्द्रकिरण जी एस. डी. एम. साहब की बीबी हैं तो हर एक का नजरिया ही बदल गया और हर कोई चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आवभगत में लग गया। आखिर चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की खास पहचान जो बन गयी थी। उदाहरण द्रष्टव्य है–''बहू जी लाइए छोटी मुन्नी को मुझे दीजिए। मैं खड़े-खड़े चलूँगा। आप बड़ी बीबी के पास ऊपर बैठिए। अकस्मात् लाला और वह सेठ भी दयालु हो उठे। हाँ-हाँ आ जाइए, लीजिए जगह तो है। लड़की को आराम से लिटा दीजिए। आप सामने वाली बर्थ पर बैठ जाइए। धन्यवाद! मैं ठीक बैठी हूँ।''[3]

'दहकते कोयले' कहानी एक धोबी माधव की है जो आजादी के बाद बढ़ी हुई मंहगाई को नहीं झेल पाता है और लाला जी से कोयले को लेकर झगड़ा कर बैठता है। लाला जी झूठा चोरी का इल्जाम लगाकर उसे एक महीने की जेल करवा देते हैं। जेल से जब माधौ वापस होता है तो उसे पुनः रोजी-रोटी की समस्या से दो-चार होना पड़ता है और उसे न चाहते हुए मिलावट खोरी, काला बाजारी, मुनाफाखोरी आदि समस्याओं से जूझना पड़ता है। उदाहरण द्रष्टव्य है– लाला गरजा, ''टर्र-टर्र करे जाता है। कह दिया, अब सब कुछ खुले बाजार मिलता है, गाँठ से टके खर्च और खा। खबरदार जो अब राशन लेने आया। कार्ड फाड़ कर फेंक दूंगा। और मुंदे ज्वालामुखी के विस्फोट-सा माधो चादर और कार्ड थामे स्तब्ध खड़ा था। वह सोच रहा था, चुपचाप बाजार से तीन रुपये का तीन सेर आटा घर ले जाए या इस राशन वाले लाला का सिर फोड़ कर यहीं से सीधा जेल पहुँच जाए?''[4]

'अफसर का बेटा' कहानी सुरजीत की है जिसके पिता अफसर हैं एवं पाश्चात्य प्रभाव से ग्रस्त हैं। पिता को क्लब से तथा माँ को पार्टियों से छुट्टी नहीं मिलती है। सुरजीत को माता-पिता के स्नेह के बजाए कुत्ते का स्नेह, और लापरवाह नौकर-चाकरों के बीच अपना समय बिताना पड़ता है। उसके पिता उसे अपने जैसा अफसर बनाना चाहते हैं भले ही उसके लिए उनके बेटे को कोई भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–''देखो आया, हम लोग पिक्चर देखने जा रहे हैं। साहब कैप्टेन चड्ढ़ा से वायदा कर चुके हैं। वह हमारा वेट करते होंगे। डॉक्टर चटर्जी अभी आएँगे। उन्हें बाबा को दिखा देना। अली को भेजकर दवा मँगा लेना और बाबा की ओर मुड़कर आदेश दिया, बाबा, ठीक से दवा पी लेना। हम लोग रात को देर से लौटेंगे।''[5]

'बेटी की कमाई' कहानी एक ऐसी लड़की की है जिसने अपने पिता के व्यापार में अत्यधिक घाटा आने से अपने पिता का हाथ बंटाने के लिए एक क्लर्क की नौकरी ज्वाइन कर ली जिससे घर का खर्चा चल निकला, लेकिन पिता बेटी की कमाई के कारण बेटी की परवाह न कर सके और बेटी की ब्याह की उम्र निकलने ही वाली थी कि आफिस के एक सहकर्मी ने उसका हाथ थामकर उसे अपनी जीवनसंगिनी बना लिया। आज भी ऐसे बहुत माता-पिता हैं जो अपनी बेटी की कमाई पर आश्रित हैं। पिता के स्वार्थ के कारण प्रायः बड़ी लड़की छोटे भाई-बहिनों

का बोझ उठाने में, बिन ब्याही रहती हैं। किरण जी की 'बेटी की कमाई' में, ऐसी पुत्री की दशा का सच्चा चित्र है, पिता के संवाद के रूप में–''आशीर्वाद! मैं उस दुष्टा का मुँह भी नहीं देखूँगा। मनमोहन से कह दूँगा–जिसने अपने कुल की मर्यादा न रखी; पिता का साथ न दिया वह और किसका साथ देगी? ओफ ''मुंशी जी का दिमाग मानो चला गया था। वह सिर थामकर, अपने आप से ही बकते रहे। ''अभी कर्ज बाकी है दो हजार; उर्मिला बड़ी हो गई है। इस लड़की ने कुछ भी न सोचा।''[6]

'आँगन की चाँदनी' कहानी कलावती एवं आधुनिक समाज की कहानी है। हाईस्कूल पास कलावती उर्फ ज्योत्सना का विवाह उसका सेठ पिता एक बेरोजगार बी. ए. की पढ़ाई करने वाले लड़के के घरवालों को खूब दहेज देकर कर देता है एवं लड़के रणवीर की पढ़ाई का सारा खर्चा उठाता है। लड़का जब पढ़-लिखकर अधिकारी बन जाता है तो वह अपनी घरेलू गृहिणी पत्नी को छोड़कर ऊँची सोसाइटी की लड़कियों से शादी कर अभिजात्य जीवन जीना चाहता है। समय रहते उसकी पत्नी अपने पति की मंशा भांप जाती है और वह अपने को ऊँची सोसाइटी के हिसाब से ढाल लेती है और परपुरुष के साथ देर रात तक क्लब में समय बिताने लगती है। उदाहरण द्रष्टव्य है–''अकेले मोटर चलाकर घर आता तो अनायास ही नींद उड़ जाती। नौकर द्वारा सयत्न आँगन में बिछे पलंग पर लेटता तो सप्तमी के चाँद की चाँदनी चुपके से उसके पास आ जाती। उसे अच्छा नहीं लगता। चाँद की चाँदनी घर की ज्योत्सना बिना एकदम फीकी लगती है। इच्छा होती उठकर जाए और ज्योत्सना को क्लब से बुला लाए। पर क्या वह आएगी? उसे तो बाहर के सुख ने स्पर्श किया है। मित्रों की प्रशंसित दृष्टि ने मोह लिया है? वह क्या अब केवल आँगन की चाँदनी है? न तो वो तो जुहू तट की ज्योत्सना बन गई है। रणवीर उठकर घड़ी देखता है। ज्योत्सना अभी नहीं लौटी है बारह बज रहे हैं।''[7]

'करुणा' कहानी मिस करुणा की है जो दोहरा जीवन जीती हैं। घर के बाहर मिस सदाबहार अर्थात् सबके लिए खुली खिड़की जब कि कहने के लिए वह एक प्राइवेट कम्पनी में सवा सौ रूपये मासिक की नौकरी करती हैं। करुणा के घर का जीवन अत्यन्त नारकीय है। करुणा अपने शुभचिन्तक सुबोध से कहती है, ''सवा सौ की तनख्वाह में क्या घर चलता है? रातभर पागल दीदी को संभालना; सुबह रोटी-पानी, बीमार माँ का काम करना, दफ्तर जाना, वहाँ दिन भर खटना, अगर शाम को वह सब न करूँ तो ऊपर की कमाई कहाँ से आए? सुबोध जी! ऊपर की कमाई के लिए रूप-गंध वाक्चातुर्य सब चाहिए। वैसे, मुझे कौन समारोहों में बुलाए बैठा है, मेरा कौन-सा गॉड फादर है? आप क्या समझते हैं, मैं सचमुच वैसी तितली हूं जैसी दिखती हूं? पर एक धोखा जान-बूझकर देती हूं खुद को, दूसरे को धोखा नहीं दे सकती। हो सके तो आप मुझे क्षमा कर दें।''[8]

'आत्महन्ता' कहानी एक ऐसे माँ-बाप की है जो कि अपने दुबले-पतले लड़के राकेश से उम्मीद से ज्यादा रिजल्ट की अपेक्षा रखते हैं। जिस उम्मीद को उनका लड़का पूरा नहीं कर पाता है। अन्त में वह अपना मानसिक सन्तुलन खो देता है और ट्रेन के आगे कूदकर अपनी जान दे देता है।[9]

'आधा कमरा' एक ऐसी लड़की गौरी की कहानी है जो परिस्थितिवश अपने सहकर्मी मधुसूदन शर्मा से जो कि किराये के एक कमरे के मकान में रहता है, से आधा कमरा अपने रहने के लिए दिल्ली जैसे शहर में किराये पर माँगती है जिससे वह अपनी नौकरी सुचारू रूप से कर सके। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–''मिस्टर शर्मा! गेट पर खड़ी गौरी ने उससे कहा, ''क्या आप चार मास के लिए मुझे अपने कमरे का साझीदार बना लेंगे? इतने दिनों में मैं अवश्य ही कहीं और प्रबन्ध कर लूंगी और साथ रहने पर आप देखेंगे कि मैं भरसक आपको कोई असुविधा न होने दूंगी।''[10] आधा कमरा किराये पर मिल जाने पर वह मिस्टर शर्मा के साथ रहती भी है। गौरी की सगाई किसी दूसरे लड़के से हो चुकी है लेकिन जब वह मधुसूदन शर्मा का झुकाव अपनी तरफ देखती है तो वह यथाशीघ्र अपने लिए दूसरा कमरा खोज कर उसमें चली जाती है।

'एक किरण प्यार की' कहानी एक ऐसे बच्चे की कहानी है जो अपनी गरीब माँ मनिहारिन की अवैध सन्तान है, जिसकी माँ मरते समय अपने बच्चे को उसके पिता के हवाले करते हुए मर जाती है। बच्चे का अमीर पिता उसे अपनी सारी जायदाद में उचित हिस्सा लिखा-पढ़ी में देकर स्वर्ग सिधार जाता है। सौतेली माँ उसका जीना मुहाल कर देती है और बच्चा सड़कछाप जीवन शैली अपना लेता है लेकिन जब उसे मुँहबोली बहिन के रूप में एक किरण प्यार की मिलती है तो वह फौज में भरती होकर देश की सेवा हेतु अपना समस्त जीवन निछावर करने हेतु तत्पर हो जाता है। उदाहरण द्रष्टव्य है–''अरी तो पहले देश में मेरा था ही कौन जिसके लिए प्राण देता? अब तो मैं प्यारी बहन बिन्नो की रक्षा के लिए लड़ूंगा। उसकी बूढ़ी माँ और अन्धे बाबा के लिए लड़ूँगा।''

'हाथी के दाँत' कहानी मध्यम वर्गीय ललिता और

दिनेश की है। ललिता एक गृहिणी होकर चाहे जितना कार्य करे, उसका कोई मूल्य नहीं है। वही ललिता जब आफिस का कार्य करके आती है तो उसका मान-सम्मान सब कुछ होता है और पति उसके लिए नजरे बिछाये बैठा रहता है। उदाहरण द्रष्टव्य है–''ललिता आज अपने सौभाग्य को कहाँ समेट कर रखे? काम तो वह घर में भी करती ही थी, बल्कि वह काम टाइप करने से अधिक कठिन और कष्टकर होते थे। कपड़े धोना, झाड़ू लगाना, बर्तन मलना और पति के आने से पहले नाश्ता तैयार करना। किन्तु कभी किसी दिन दफ्तर से लौटकर दिनेश ने उससे यह नहीं पूछा था कि तुम थकी तो नहीं? और आज? यह सब बाहर जाकर कमाने का प्रसाद है। एक सौ बीस रुपयों की माया है। और है, बढ़िया प्रसाधित रूप में बन-संवर कर रहने का परिणाम। बच्चे को दुबारा आया को दे वह पति द्वारा बनाए प्याले से चुस्कियाँ लेने लगी।''[12]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के कहानी संग्रह 'आधा कमरा' जिसमें जीवन के सभी पक्षों का वर्णन सर्वत्र दिखाई पड़ता है जो कि उनके जीवन्त अनुभव का प्रमाण है। उन्होंने अपनी अधिकांश कहानियों में नारी जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला है।

संदर्भ सूची

1. लक्ष्मी के चरण, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, ईस्ट एण्ड पब्लिकेशन्स, 29/502, ईस्ट एण्ड अपार्टमैंट्स, मयूर विहार एक्स्टेंशन, फेस-प्रथम, दिल्ली-110096, संस्करण, 2011, पृ. 18
2. आशा और निराशा, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 52-3
3. खास पहचान, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 71
4. दहकते कोयले, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 132
5. अफसर का बेटा, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 80
6. बेटी की कमाई, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 99
7. आँगन की चाँदनी, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 104
8. करुणा, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 110-11
9. आत्महन्ता, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 132
10. आधा कमरा, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 135
11. एक किरण प्यार की, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 164
12. हाथी के दाँत, आधा कमरा (कहानी संग्रह), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, पृ. 189

अविनाश यादव

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी), राजकीय महाविद्यालय,
हरीपुर निहस्था, रायबरेली (उ.प्र.)

हिन्दी उपन्यासों में किन्नर समुदाय की सामाजिक चुनौतियाँ

–बबीता

व्यक्ति समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है, लेकिन जिस समाज में वह रहता है वहाँ विसंगतियाँ, रूढ़ियाँ और परम्पराएं प्रचलित रही हैं। हमारा समाज दो स्तम्भों पर टिका है एक स्त्री और दूसरा पुरुष परन्तु जो इन दोनों लिंगों से इतर है उसके लिए थर्ड जेंडर या किन्नर शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत लेख में हिन्दी उपन्यासों में किन्नर समाज की चुनौतियों को प्रस्तुत किया गया है। समाज की मुख्य धारा में दो लिंग हैं–स्त्री और पुरुष, किंतु साथ में एक तृतीय लिंग भी है जिन्हें किन्नर कहा है। हिंदी साहित्य जगत में 21 वीं सदी विमर्शों की सदी है। चाहे वह नारी विमर्श हो, दलित विमर्श हो, आदिवासी विमर्श हो या किन्नर विमर्श हो। इन सभी को समाज द्वारा तिरस्कृत किया गया इनका शोषण सदियों से होता रहा है। अन्य विमर्शों की भांति किन्नर विमर्श में भी किन्नरों की त्रासदी या वेदना को ही नहीं अपितु उनके प्रति संवेदना को भी उजागर किया गया है। थर्ड जेंडर समाज में उपेक्षित वर्ग रहा है। आज इसी उपेक्षित किन्नर वर्ग को साहित्य में स्थान दिलाने का प्रयास साहित्यकार कर रहे हैं। राम प्रकाश सक्सेना द्वारा सम्पादित कोश में किन्नर शब्द को दो अर्थ दिये गए हैं :

1. (पुराण) देवलोक का एक उपदेवता जो एक प्रकार का गायक था और उसका मुँह घोड़े के समान होता था।
2. वर्तमान समय में हिजड़ा के लिए शिष्टोक्ति।[1] हिजड़ा लैंगिक रूप से स्त्री और पुरूष के खाँचे में न आने वाले समुदाय के लिए प्रयुक्त होता है, ''किसी व्यक्ति के पुरुष या स्त्री के रूप में पहचाने या परिभाषित किये जाने के लिए स्पष्ट यौनांग होना आवश्यक है। इसके लिए जननांग की अनियमितता महत्वपूर्ण है। ऐसे मानव हिजड़ा कहे जाते हैं जो लैंगिक रूप से न नर होते हैं न मादा।''[2] राम प्रकाश सक्सेना द्वारा संपादित कोश में हिजड़ा शब्द के दो अर्थ मिलते हैं :

1. ऐसे व्यक्ति जिसमें शारीरिक दृष्टि से स्त्री पुरुष दोनों के कुछ-कुछ गुण, चिन्ह, लक्षण एक जैसे हों, ऐसा व्यक्ति न पूर्णतः पुरुष होता है न स्त्री।
2. संभोग अथवा मैथुन करने की क्षमता से रहित व्यक्ति, नपुंसक, क्लीव।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि हिजड़ा शब्द पहले स्थान विशेष के निवासियों के लिए प्रयुक्त होता रहा है और

हिजड़ा लिंग विशेष के भेद के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु वर्तमान के किन्नर शब्द को हिजड़ा के स्थान पर शिष्टोक्ति के रूप में प्रयोग किया जाने लगा है। 'महेंद्र भीष्म' 'अधूरी देह' नामक लेख में स्वीकार करते हैं, ''मैं किसी हिजड़ा को हिजड़ा सम्बोधन नहीं देता न अनावश्यक लिखता हूं उन्हें किन्नर कहता हूं और किन्नर ही लिखता हूं ठीक उसी तरह जैसे विकलांग को 'दिव्यांग' और 'हरिजन' को 'दलित' कहता लिखता हूं।''[3]

हिन्दी साहित्य के 21वीं सदी में किन्नर समुदाय से संबंधित पहला उपन्यास 'यमदीप' (नीरज माधव) जिसका प्रकाशन 2002 ई. में सामयिक प्रकाशन द्वारा हुआ। फिर 'मैं भी औरत हूँ' (डॉ. अनुसुइया त्यागी), 'किन्नर कथा' (महेन्द्र भीष्म), 'तीसरी ताली' (प्रदीप सौरभ), 'गुलाम मंडी' (निर्मला भुराडिया), 'मैं पायल' (महेन्द्र भीष्म), 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' (चित्रा मृदुगल) तथा 'मंगलामुखी' (डॉ. लता अग्रवाल), 'दीपशिखा' (निर्मला सिंह), 'अस्तित्व' (गिरिजा भारती) आदि प्रमुख कृतियों को यदि देखें तो सभी में किन्नरों के अस्तित्व तथा समाज द्वारा उन्हें अपनाने की समस्या मुखर है। इन उपन्यासों के माध्यम से रचनाकार समाज में रह रहे इस समुदाय की ओर सबका ध्यान खींचने की चेष्टा करते हैं।

यदि हम सामाजिक परिप्रेक्ष्य के रूप में देखें तो समाज में किन्नरों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। यदि हम 'यमदीप' उपन्यास में देखें तो नाज बीवी मातृत्व भावना रखती है परन्तु सोना का पालन पोषण करने की समस्या बनी रहती है। इसमें गलती उस समाज की है जो एक अनाथ बच्ची को अपना भी नहीं पाता एक किन्नर को उसे पालने की इजाजत भी नहीं देता। लेखिका इसीलिए यह लिखती है, ''सोना हमारी समस्या है। पितृसत्ता की निरंकुश लिप्सा का परिणाम है और जब मानवी, नाज बीवी और छैलू की संवेदनाओं के निकष पर अपने पूरे समाज को परखती है तो खोट स्पष्ट हो उठता है। परखने का यह सिलसिला उपन्यास के आरंभ से ही पाठक के हृदय में भी शुरू हो जाता है।''[4] किन्नरों की सामाजिक बहिष्कृति एक खास तरह की मनोवृति के कारण होती है जिसे 'ट्रांसफोबिया' कहा जाता है, ''तीसरे लिंग के प्रति भय, लज्जा, क्रोध, हिंसा, पूर्वाग्रह, भेदभाव आदि नकारात्मक भावों के सम्मिश्रण से बना यह 'ट्रांसफोबिया' तीसरे लिंग के जीवन को नरक बना देता है।''[5]

भारतीय समाज में हिजड़ा बच्चा पैदा होना उसके पिता के पुरुषत्व पर प्रश्नचिन्ह लगा देता है उसे जीवविकृति से इतर पुरुषत्व से जोड़कर देखा जाता है। इसके कारण ही हिजड़े बच्चे को अधिकांश मामलों में पुरुष की ही तरफ से बहिष्कृत किया जाता है। ''अधिकांश हिजड़े जो भारत में जीवित हैं सबकी लगभग एक जैसी कहानी देखने को मिलती है। माता तो स्नेह करती है अपनी हिजड़े संतान को भी पालपोश कर बड़ा करना चाहती है, उसे भी अच्छा जीवन देने का प्रयास करती है, परन्तु पिता उसे मार देना चाहता है या किसी प्रकार से उससे छुटकारा पाना चाहता है। वस्तुतः पितृसत्तात्मक समाज में उसे पुरुष होने को दम्भ विचलित कर देता है।''[6] सामाजिक दुत्कार और पारिवारिक प्रताड़ना के कारण भी किन्नर बच्चे अपना घर छोड़ने को मजबूर होते है। 'यमदीप' उपन्यास में अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए ही 'छैल बिहारी' और 'नंदरानी' स्वयं अपना घर-परिवार छोडकर निकल पड़ते है और 'महताब गुरू' के हिजड़ा समुदाय में छेलू' और 'नाजबीवी' के रूप में एक नई पहचान प्राप्त करते है। 'मैं पायल' उपन्यास में तो 'जुगनी' रोज-रोज की दुत्कार और मार से तंग आकर आत्महत्या करने के विचार से ही घर से निकलती है, ''एकाएक मेरे मन में विचार आया फिर पीटी जाऊँ, मारी जाऊँ इससे अच्छा है मैं खुद ही ना मर जाऊँ और फिर एक बार मेरे मन में यह विचार आया तो मरने की इच्छा गहराती चली गई। मैंने बिना पीछे मुड़कर घर का दरवाजा खोल इस अभिशप्त देह का विनाश करने के लिए निकल पड़ी।''[7]

सामाजिक अपयश के कारण भी कई परिवार अपने बच्चे को हिजड़ों को सौंपने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसका उदाहरण 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' में मिलता है। इसमें गुरू चम्पाबाई 'बिन्नी' के घर हगांमा करती है, उसे अपने साथ भेजने की धमकी देती है। बस्ती मोहल्ले में हंगामें से बचने के लिए बिन्नी के घरवाले उसे अन्ततः सौंप देते है। 'तीसरी ताली' में भी 'निकिता' में हिजड़ों वाले गुण विकसित होने पर सामाजिक उपहास का विषय बनने पर मजबूरन हिजड़ा गुरू 'नीलम' को सौंपना पड़ता है। 'गुलाम मण्डी' की 'रमीला' को भी किन्नर गुरू 'वृंदा' को सौंप दिया जाता है।

सामाजिक असुरक्षा और उदासीनता के कारण किन्नरों के प्रति समाज में यौन हमले भी होते रहते हैं। 'मैं पायल' में तो पायल सिंह पर यौन हमला करने वाला एक सिपाही ही रहता है, जिस पर समाज का सुरक्षा का दायित्व रहता है। वही उसे असुरक्षा प्रदान करता है, ''मुझे लगा कोई मेरे गालों को सहला रहा है, उभरी छातियों पर हाथ फेर उन्हें टटोलने में लगा है। मेरी नींद टूटी और मैं जाग गई और उठ कर बैठ गई; प्लेटफॉर्म की लाइटें जल रही थीं। शाम ढल चुकी थी। पटरियों की ओर धुधंलका फैला हुआ था

क्यों लड़की कहाँ जाना है? मेरी बगल में बैठा गंदी हरकतें करने वाला मुच्छड़ सिपाही मुझसे बोला।''[8] इसी प्रकार से ऐसी उदासीनता और दंड का भय न होने के कारण 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' में विधायक का भतीजा 'बिल्लू' अपने दोस्तों के साथ मिलकर 'पूनम जोशी' के प्रति पाशविकता की हद तक जाते हैं। किन्नरों को उनके काम करने के स्थान पर भी यौन हमलों का भी सामना करना पड़ता है। 'मैं पायल' उपन्यास में सहकर्मी 'प्रमोद' मौका पाकर यौन हमला करता है।

सामाजिक असुरक्षा और स्थायित्व के अभाव में किन्नरों के लिए शिक्षा की कल्पना करना बेमानी लगता है। वर्ष 2014 से पहले तक किन्नरों को अपनी पहचान से इतर स्त्री या पुरुष के रूप में विद्यालय में दाखिला लेना पड़ता था और भेद खुल जाने का भय हमेशा परिवार को सताता रहता था। हिजड़ा समुदाय के लिए शिक्षा दूर की कौड़ी साबित होती है। ऐसा महताब गुरू के इस कथन से संकेतित होता है, ''किसी स्कूल में आजतक किसी हिजड़ा को पढ़ते हुए देखा है? किसी कुर्सी पर हिजड़ा बैठा है? पुलिस में, मास्टरी में, कलक्टरी में किसी में भी?''[9] सामाजिक भय के कारण ही पहले तो किन्नर बालक के परिवार वाले उसे विद्यालय भेजने से बचने का प्रयास करते है जैसा कि नाजबीवी के साथ होता है, ''मम्मी पहले तो स्कूल भेजने को तैयार ही नहीं थी परन्तु पड़ोसियों के कहने टोकने पर उन्होनें उसका नाम राधारमण बालिका विद्यालय में कक्षा छः में लिखवा दिया था।''[10] अगर किन्नर बच्चा अपनी पहचान छुपाकर विद्यालय में दाखिला लेता है तो भेद खुलने की स्थिति में इनको बहिष्कृत और अमानवीय व्यवहार का सामना करना पड़ता है। जैसे 'गुलाम मण्डी' की पात्र 'शर्मिला' के साथ होता है, ''वह छोरा बन भर्ती हुई थी तो बहन जी ने एक दिन उसकी चड्डी उतरवा दी थी और उसे जूते मारकर स्कूल से निकलवा दिया था।''[11]

उचित शिक्षा का अभाव और कौशल की कमी तथा परम्परागत पेशे में गिरावट, आर्थिक असमर्थता, सरकार की उदासीनता आदि कई कारणों से वैश्यावृत्ति के दलदल में स्वयं को धकेलने के लिए किन्नर विवश हो जाते हैं। यही विवशता 'यमदीप' में व्यक्त होती है, ''यहां जजमान ही का भरोसा है। कभी कभार चौसा मिला तो ठीक, नहीं तो वीला मिल गया तो बहुत होगा एक पान को आधा काटकर थमा देगें। हमारे पेट की सुध किसे है? न सरकार को न जजमान को।''[12] अशिक्षा, बेरोजगारी इस वर्ग की आर्थिक दयनीय स्थिति को उजागर करती है। इस वर्ग की समस्याओं के बारे में सुधीश पचौरी ने लिखा है–''असामान्य लिंगी होने के साथ ही समाज के हाशिये पर धकेल दिए गए, इनकी सबसे बड़ी समस्या आजीविका की है जो इन्हें अंततः समुदाय में ले जाती है। अकेले बहिष्कृत ये किन्नर आर्थिक रूप से हाशिये पर डाल दिए जाते है। नपुंसक लिंगी कहां कैसे जियेंगे? समाज का सहज स्वीकृत हिस्सा कब बनेंगे?''[13]

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि यदि किन्नर समुदाय को भी शिक्षा व्यवस्था के समान अवसर मिलने लगे, सामाजिक मानसिकता में बदलाव आए तो किन्नर समुदाय भी समाज की मुख्यधारा से जुड़कर समाज के विकास में योगदान देगा।

संदर्भ ग्रंथ

1. किन्नर कथा, महेंद्र भीष्म, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक संस्करण, 2016, पृ. 45
2. मैं पायल, महेंद्र भीष्म, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2016, पृ. 24
3. किन्नर कथा, महेंद्र भीष्म, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक संस्करण, 2016, पृ. 26
4. यमदीप, नीरजा माधव, सुनील साहित्य सदन, दिल्ली, संस्करण, 2009, भूमिका, पृ. 07
5. थर्ड जेंडरः कथा आलोचना, सम्पादक, डॉ. एम. फिरोज खान, संस्करण प्रथम, 2017, अनुसंधान पब्लिशर्स एडं डिस्ट्रब्यूटर्स, कानपुर, पृ. 52
6. भारतीय साहित्य और समाज में तृतीय लिंगी विमर्श, सं. डॉ. विजेन्द्र प्रताप सिंह, रवि कुमार गोंड, संस्करण प्रथम 2016, अमन प्रकाशन, कानपुर, पृ. 65
7. मैं पायल, महेंद्र भीष्म, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2016, पृ. 39
8. मैं पायल, महेंद्र भीष्म, अमन प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2016, पृ. 26
9. यमदीप, नीरजा माधव, सुनील साहित्य सदन, दिल्ली, संस्करण, 2009, पृ. 94
10. यमदीप, नीरजा माधव, सुनील साहित्य सदन, दिल्ली, संस्करण, 2009, पृ. 60
11. गुलाम मण्डी, निर्मला, भुराडिया, सामयकी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2014, पृ. 69
12. तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2011, पृ. 61
13. थर्ड जेंडर विशेषांक, सामयिक सरस्वती पत्रिका, 2019, अंक 6, पृ. 47

बबीता

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वद्यिालय

शहरी एवं ग्रामीण माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षकों के शिक्षण शैली पर विद्यालयी वातावरण के प्रभाव का अध्ययन

—डॉ. डी.पी.मिश्रा,
—अरविन्द कुमार

वर्तमान युग में शिक्षा का स्वरूप बदल गया है आज शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है और यह परिवर्तन निरंतर जारी है, क्योंकि शिक्षा अधिगम प्रक्रिया में नए-नए प्रयोग हो रहे हैं अतएव इसके साथ ही शिक्षकों की भूमिका में भी बदलाव की जरूरत है। प्राचीन शिक्षकों की तुलना में आज शिक्षकों की भूमिका अधिक जटिल हो गई है। आधुनिक शिक्षण तकनीकी प्राचीन व्याख्यान से अलग है। वर्तमान में शिक्षक मात्र विषय पाठों का औपचारिक व्याख्यान नहीं है अपितु छात्रों के अधिगम अनुभवों का विस्तार है। शिक्षा कक्षा तक ही सीमित नहीं है, बल्कि शैक्षिक वातावरण के बजाए, घर और समुदाय में और दुनिया भर में फैली सूचनाओं का आदान प्रदान है। छात्र तथ्यों के उपभोक्ता नहीं हैं, विज्ञान के सक्रिय सर्जक हैं। विद्यालय सिर्फ कंक्रीट संरचनाएं नहीं है बल्कि वे आजीवन सीखने के केंद्रों का रूप ले रहे हैं, और सबसे महत्वपूर्ण शिक्षण हमारे देश के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्वास्थ्य के लिए पूरी तरह से महत्वपूर्ण, सबसे चुनौतीपूर्ण और सम्माननीय कैरियर विकल्पों में से एक के रूप में मान्यता प्राप्त है। परिस्थिति में आए इस प्रकार के परिवर्तन प्रभावी अध्यापकों की मांग करते हैं। पारंपरिक रूप से जिसे प्रभावी माना जाता रहा है आज की परिस्थितियों में वह शायद प्रासंगिक न हो, शिक्षक आज जिन परिस्थितियों का सामना कर रहा है वैसे ही परिस्थितियां पहले कम दिखाई देती थी। अतः उन्हें उस संगठनात्मक संदर्भ में विभिन्न दक्षताओं का प्रभावी प्रचालन करना होता है। शिक्षा में परिवर्तन और सुधार के प्रस्तावों का स्वरूप चाहे कुछ भी हो उनका कार्यालय में इस बात पर निर्भर करता है कि शिक्षक उन्हें किस रूप में देखते हैं और कक्षा में उन्हें किस प्रकार रूपांतरित करते हैं। कई शिक्षक आज शिक्षण के कला और विज्ञान दोनों रूपों को स्वीकार करते हैं वह संस्थान द्वारा भी उन्हें नए तरीकों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। शिक्षक की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका छात्र के सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, रुचियां, योग्यताओं को जानना वह एक व्यक्ति के रूप में छात्र एवं अपनी अद्वितीय जरूरतों को समझने में है, आज शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार के एक महत्वपूर्ण परिवर्तन के बीज बोए जा रहे हैं। सूचना प्रौद्योगिकी, ज्ञान का विस्तार

और बेहद सीखने की राष्ट्रव्यापी मांग से प्रेरित होकर विद्यालय धीरे-धीरे निश्चित रूप से खुद को पुनर्गठित कर रहे हैं। साथ ही शिक्षकों के लिए भी आवश्यक हो गया है कि वे अपनी भूमिकाओं पर पुनर्विचार करें और अपने कौशलों को पुनः परिमार्जित करें। अतः शिक्षक भी बेहतर स्कूलों और छात्रों की सेवा करने के लिए खुद को और अपने शिक्षण के तरीकों को बदल रहे हैं। इनमें शिक्षकों के हजारों छात्रों-सहकर्मियों के साथ उनके रिश्ते, समुदाय के प्रति उनकी जिम्मेदारी, उपकरणों और तकनीकों का ज्ञान व अपने अधिकारों और जिम्मेदारियों का ज्ञान, पाठ्यक्रम की विषय वस्तु का ज्ञान, मानकों को तय करना, उन्हें स्थापित करना व उनका आकलन करना शिक्षक के रूप में व व्यावसायिक विकास के रूप में उनकी तैयारी इत्यादि शामिल है। अतः वह शिक्षक के रूप में अनुदेशक व परामर्शदाता भी है, ज्ञान का प्रेषक भी है, चिंतनशील पेशेवर होकर परिवर्तन का प्रतिनिधि भी है। शिक्षक का कार्य छात्रों में सकारात्मक सामाजिक, भावात्मक और बौद्धिक विकास को प्रेरित करना है ताकि भी अपने निजी जीवन में अर्जित समझ, और ज्ञान का समुचित उपयोग कर बेहतर निर्णय ले सकें और समाज के लिए बहुमूल्य योगदान कर सकें।

झा एवं रस्तोगी (2014) ने क्रिएटिव स्टाइल आफ टीचिंग आफ हिंदी मीडियम एंड इंग्लिश मीडियम स्कूल टीचर : अ कंपैरेटिव स्टडी पर अध्ययन किया। अध्ययन का उद्देश्य अंग्रेजी माध्यम और हिंदी माध्यम के शिक्षकों के शिक्षण की रचनात्मकता के साथ-साथ शिक्षण शैलियों के संबंध को जानना था। अध्ययन में न्यादर्श हेतु उत्तर प्रदेश राज्य के बरेली शहर के उत्तर प्रदेश बोर्ड के 260 हिंदी माध्यम और 260 अंग्रेजी माध्यम के शिक्षकों का उद्देश्यपूर्ण रूप से चयन किया गया। सर्वेक्षण विधि द्वारा प्रदत्त एकत्र कर निष्कर्षतः प्राप्त हुआ कि हिंदी माध्यम और अंग्रेजी माध्यम के शिक्षकों की शिक्षण शैली में सार्थक संबंध पाया गया लेकिन हिंदी माध्यम और अंग्रेजी माध्यम के शिक्षकों की रचनात्मकता में सार्थक संबंध नहीं पाया गया। वसन एवं पी.के. (2014) ने टीचिंग कॉम्पीटेन्स एंड टीचिंग स्टाइल ऑफ प्रायमरी स्कूल टीचर पर अध्ययन किया। अध्ययन का उद्देश्य प्राइमरी स्कूल के शिक्षकों की शिक्षण शैली एवं शिक्षण दक्षता के बीच संबंध की जांच करना था। अध्ययन के लिए न्यादर्श हेतु केरला राज्य के शहर के 50 प्राइमरी शिक्षकों जिनमें 23 पुरुष तथा 27 महिला शिक्षकों को यादृच्छिक रूप से चयन किया गया। सर्वेक्षण विधि के प्रयोग द्वारा प्रदत्त एकत्र किए गये व निष्कर्ष से प्राप्त हुआ कि महिला एवं पुरुषों शिक्षकों की शिक्षण शैली में सार्थक अंतर नहीं पाया गया व शिक्षकों के शिक्षण दक्षता तथा शिक्षण शैली के मध्य धनात्मक सार्थक संबंध पाया गया। शेख एवं अन्य (2014) ने इंपैक्ट आफ डिफरेंट टीचिंग स्टाइल ऑन स्टूडेंट मोटिवेशन टूवर्ड्स इंग्लिश लैंग्वेज लर्निंग एट सेकेंडरी लेवल पर अध्ययन किया। अध्ययन का उद्देश्य अंग्रेजी भाषा के शिक्षकों की शिक्षण शैलियों की जांच करना था व अंग्रेजी भाषा के विद्यार्थियों की प्रेरणा स्तर पर शिक्षण शैलियों के प्रभाव को देखना था। अध्ययन के लिए हैदराबाद जिले के 20 निजी माध्यमिक विद्यालयों के अंग्रेजी विषय के शिक्षकों एवं विद्यार्थियों का यादृच्छिक रुप से चयन किया गया। अध्ययन हेतु स्वयं द्वारा निर्मित शिक्षण शैली व इंग्लिश लैंग्वेज मोटिवेशन स्किल तैयार कर, विद्यार्थियों व शिक्षकों द्वारा प्रश्न पत्र भरवाकर प्रदत्त एकत्र किए गये। अध्ययन के निष्कर्ष में पाया गया कि अन्य शैलियों के अपेक्षा प्रत्यायोजक शिक्षण शैली ज्यादा प्रभावी पाई गई क्योंकि यह विद्यार्थी आधारित शिक्षण शैली है व विद्यार्थियों के प्रेरणास्तर पर अधिक प्रभावी प्रभावित हुई। चटर्जी एवं अन्य (2015) ने लिंकिंग टीचिंग स्टाइल एंड लर्निंग स्टाइल एज अ मेजर ऑफ पर्सनल एनवायरमेंट फिट टू असेस स्टूडेंट्स परफारमेंस पर अध्ययन किया। अध्ययन का उद्देश्य आज के संदर्भ में शिक्षकों और विद्यार्थियों की निष्पत्ति को उनके शिक्षण शैली और अधिगम शैली को अनुभव अनुरूपता पर आलोचनात्मक परीक्षण करना था। अध्ययन हेतु भारत के 15 संस्थानों के 260 मैनेजमेंट के विद्यार्थियों का यादृच्छिक रूप से चयन कर प्रदत्त एकत्रित किये गये। अध्ययन हेतु गुणात्मक विधि का प्रयोग किया गया व निष्कर्ष प्राप्त कर देखा गया कि शिक्षण शैली और अधिगम शैली में विद्यार्थियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। विषय की प्रकृति को सीखने/अधिगम करने में, व विद्यार्थी प्रदर्शन करने में, शिक्षक के शिक्षण शैली में भी विद्यार्थी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अवस्थी (2015) ने अ स्टडी आफ नीड टू चेंज इन टीचिंग स्टाइल पर अध्ययन किया। अध्ययन का उद्देश्य शिक्षकों की शिक्षण शैलियों में परिवर्तन की आवश्यकता पर जांच करना था। अध्ययन में न्यादर्श हेतु इंदौर के 5 कालेज के 20 शिक्षकों का यादृच्छित न्यादर्शन विधि द्वारा चयन किया गया। अध्ययन में सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया था । अध्ययन के निष्कर्ष में देखा गया कि शिक्षक पारम्परिक शिक्षण शैली का प्रयोग अधिक करते हैं व उनमें सफल भी पाये गये। लेकिन शिक्षकों द्वारा प्रयोग की गई सबसे ज्यादा प्रगति शिक्षण शैली अधिक सफल शिक्षण शैली पाई गई।

समस्या कथन

''शहरी एवं ग्रामीण माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षकों के शिक्षण शैली पर विद्यालयी वातावरण के प्रभाव का अध्ययन''

शोध में प्रयुक्त पदों की संक्रियात्मक परिभाषाः-

माध्यमिक विद्यालय

विद्यालय का तात्पर्य उच्च विद्यालय संस्था से है जहां कक्षा 9 से 12 तक छात्रों हेतु शिक्षण कार्य किया जाता है। माध्यमिक विद्यालयों को दो भागों प्रथम निम्न माध्यमिक विद्यालय कक्षा 9 और 10 के रूप में जाना जाता है, द्वितीय उच्च माध्यमिक विद्यालय कक्षा 11 और 12 के रूप में जाना जाता है।

शिक्षण शैली

किसी शिक्षक के द्वारा अपने छात्रों के समक्ष पाठ्य वस्तु को सरल से सरल रूप में प्रस्तुत करने के लिए अनेकों विधि एवं विधियों का सहारा लिया जाता है जिससे कि छात्र विषय-वस्तु को आसानी से सीखें, शिक्षण शैली कहलाती है।

विद्यालय वातावरण

किसी भी विद्यालय में वहां का प्रबंधन तंत्र और शिक्षक के मध्य समायोजन, अध्ययन एवं अध्यापन के लिए उपस्थित सामग्रियां यथा विद्यालय भवन, कक्षागत व्यवस्थाएं, शिक्षण सहायक सामग्री की उपलब्धता, शिक्षक और छात्रों के मध्य संबंध इत्यादि विद्यालय वातावरण को प्रदर्शित करता है।

शोध अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध के निम्नलिखित उद्देश्य है-

1. माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कार्यरत महिला एवं पुरुष अध्यापकों की शिक्षण शैली का तुलनात्मक अध्ययन करना।
2. शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र में स्थित माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में अध्यापकों की शिक्षण शैली का तुलनात्मक अध्ययन करना।

शोध अध्ययन की परिकल्पनाएँ

शोधकर्ता द्वारा प्रस्तुत शोध को अधोलिखित परिकल्पनाओं के अन्तर्गत सम्पादित किया जायेगा-

1. माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कार्यरत महिला एवं पुरुष अध्यापकों की शिक्षण शैली में कोई सार्थक अंतर नहीं है।
2. शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र में स्थित माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में अध्यापकों की शिक्षण शैली में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

जनसंख्या : इस शोध कार्य को सफलतापूर्वक पूर्ण करने के लिए शोधकर्ता द्वारा प्रयागराज जनपद में स्थित समस्त माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कार्यरत समस्त अध्यापकों को जनसंख्या के रूप लिया गया है।

प्रतिदर्श : शोधकर्ता द्वारा प्रयागराज जनपद के शहरी व ग्रामीण क्षेत्र में स्थित 30-30 माध्यमिक स्तर की विद्यालयों में शिक्षण कार्य कर रहे 150 शहरी क्षेत्र के अध्यापकों और 150 ग्रामीण क्षेत्र के अध्यापकों को यादृच्छिक न्यायदर्श विधि द्वारा चुना गया है।

शोध विधि : प्रस्तुत शोध में शोधकर्ता द्वारा वर्णनात्मक अनुसंधान की सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक विधि होती है। इस विधि द्वारा प्राप्त प्रदत प्रमाणित व विश्वसनीय होते हैं तथा इनकी सत्यता भी अभीष्ट होती है।

शोध के उपकरण : प्रस्तुत शोध में माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कार्यरत अध्यापकों की शिक्षण शैली से संबंधित स्वनिर्मित अनुसूची का प्रयोग किया गया है।

शोध में प्रयुक्त सांख्यिकी विधियां : प्रस्तुत शोध अध्ययन में एकत्रित आंकड़ों के विश्लेषण एवं व्याख्या के लिए निम्नलिखित सांख्यिकी का प्रयोग किया गया है-

1. मध्यमान
2. मानक विचलन
3. क्रांतिक-अनुपात

अध्ययन का सीमांकन

प्रस्तुत शोध कार्य प्रयागराज जनपद के शहरी व ग्रामीण क्षेत्र में स्थित माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कार्यरत महिला एवं पुरुष अध्यापकों तक सीमित हैं।

आंकड़ों का विश्लेषणः-

उद्देश्य : माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कार्यरत महिला एवं पुरुष अध्यापकों की शिक्षण शैली का तुलनात्मक अध्ययन करना।

परिकल्पना : माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कार्यरत महिला एवं पुरुष अध्यापकों की शिक्षण शैली में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

तालिका : 1. माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कार्यरत महिला एवं पुरुष अध्यापकों की शिक्षण शैली का मध्यमान, मानक विचलन और 'टी' मान

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	स्वतंत्रता मात्रा	'टी' मान	निष्कर्ष
महिला	150	205.81	22.80	298	0.64	0.05 स्तर पर कोई सार्थक अंत नहीं है
पुरुष	150	207.53	38.07			

व्याख्या : उपर्युक्त तालिका के अवलोकन से ज्ञात होता है कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कार्यरत महिला एवं पुरुष अध्यापकों की शिक्षण शैली का मध्यमान क्रमशः 205.81 और 207.53 तथा मानक विचलन का मान क्रमशः 22.80 और 38.07 हैं। इनका 'टी' मान ($t=0.64$, $p>.05$) के 0.05 स्तर पर सार्थक अंतर नहीं है अतः शून्य परिकल्पना स्वीकृत की जाती है अर्थात माध्यमिक विद्यालयों के कार्यरत् महिला और पुरुष आध्यापकों की शिक्षण शैली में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

उद्देश्य 2. शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र में स्थित माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में अध्यापकों की शिक्षण शैली का तुलनात्मक अध्ययन करना।

परिकल्पना 1. शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र में स्थित माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में अध्यापकों की शिक्षण शैली में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

तालिका 2. शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र में स्थित माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में अध्यापकों की शिक्षण शैली का मध्यमान, मानक विचलन और 'टी' मान-

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	स्वतंत्रता मात्रा	'टी' मान	निष्कर्ष
महिला	143	207.63	32.89	298	0.62	0.05 स्तर पर कोई सार्थक अंत नहीं है
पुरुष	157	205.80	29.95			

व्याख्या : उपर्युक्त तालिका के अवलोकन से ज्ञात होता है कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कार्यरत शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों के अध्यापकों की शिक्षण शैली का मध्यमान क्रमशः 207.63 और 205.80 तथा मानक विचलन का मान क्रमशः 32.89 और 29.95 हैं। इनका 'टी' मान ($t=0.62$, $p>.05$) के 0.05 स्तर पर सार्थक अंतर नहीं है अतः शून्य परिकल्पना स्वीकृत की जाती है अर्थात माध्यमिक विद्यालयों के कार्यरत् शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों के आध्यापकों की शिक्षण शैली में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध कार्य से प्राप्त निष्कर्ष इस प्रकार से हैं-

1. माध्यमिक विद्यालयों के कार्यरत महिला और पुरुष अध्यापकों की शिक्षण शैली में कोई सार्थक अंतर नहीं है।
2. माध्यमिक विद्यालयों के कार्यरत शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों के अध्यापकों की शिक्षण शैली में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- भट्टाचार्य, जी. सी. (2018), अध्यापक शिक्षा, अग्रवाल पब्लिकेशन, ज्योति ब्लॉक, संजय प्लेस, आगरा-2
- दुबे, सत्य नारायण (2014), अध्यापक शिक्षा शारदा पुस्तक भवन पब्लिशर्स एंड डिस्टीब्यूटर्स, 11, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद
- हन्फी, एम. ए. (2014), अध्यापक शिक्षा, अग्रवाल पब्लिकेशन, ज्योति ब्लॉक, संजय प्लेस, आगरा-2
- पांडेय, डॉ. के. पी. (2019), नवीन शिक्षा मनोविज्ञान, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पोस्ट बॉक्स नंबर 1149, विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी, उत्तर प्रदेश
- गुप्ता, डॉ. एस. पी. (2015), उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, शारदा पुस्तक भवन इलाहाबाद।
- पांडेय, डॉ राम शकल (2012), उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, श्री विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
- कुमार, डॉ. बृजेश (2022), अध्यापक शिक्षा के आयाम, बी एफ सी पब्लिकेशन, लखनऊ उत्तर प्रदेश
- पाल, हंसराज (2015), उच्च शिक्षा में अध्यापन एवं प्रशिक्षण की प्रविधियां, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
- गुप्ता, डॉ. एस.पी. (2003), शिक्षा मनोविज्ञान में आधुनिक मापन एवं मूल्यांकन, शारदा पुस्तक भवन इलाहाबाद।

डॉ. डी. पी. मिश्रा

शोध निर्देशक एवं प्रोफेसर, शिक्षा संकाय, कमला नेहरू भौतिक एवं सामाजिक विज्ञान संस्थान, सुल्तानपुर डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय अयोध्या, उ.प्र.

अरविन्द कुमार

शोध छात्र, शिक्षा संकाय, डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय अयोध्या, उ.प्र.

आदिवासियों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश

—डॉ. ज्योति गौतम

जल, जंगल, जमीन के बीच अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की रक्षा करने वाले आदिवासी समाज के लोग कई समस्याओं का सामना कर रहे हैं। यदि जंगल नहीं रहे तो जल और जमीन दोनों ही समाप्त हो जायेंगे। साथ ही आदिवासी संस्कृति भी खत्म हो जायेगी। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि एक संस्कृति को नष्ट होने से बचाया जाए और आदिवासी जीवन के विकास के रास्ते उन्हीं के परिवेश में ढूंडे जाएं ताकि विकास के साथ-साथ कृषि, औषधियों, पशुपालन, वनोपज को भी जीवित रखा जा सके।

जनजातियों का महत्वपूर्ण स्थान हमारी भारतीय सामाजिक व्यवस्था को मजबूती प्रदान करता है। इसके सन्दर्भ में मजूमदार का कहना है, ''कोई जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह है, जिसका एक सामान्य नाम है। जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं, जिन्होंने एक आदान-प्रदान सम्बन्धी तथा पारम्परिक कर्तव्य विषयक एक निश्चित व्यवस्था का विकास कर लिया है। साधारणतया एक जनजाति अन्तर्विवाह के सिद्धान्त का समर्थन करती है और उसके सभी सदस्य अपनी ही जनजाति के अन्तर्गत विवाह करते हैं।'' एस. एल. दोषी एवं पी. सी. जैन ने व्यक्त किया है, ''जब हम अनुसूचित जनजातियों के पद को काम में लेते हैं तो इसका यह प्रयोग संवैधानिक है अर्थात भारत के संविधान में जो जनजातियाँ अनुसूचित की गयी हैं वे ही वास्तविक जनजातियां हैं।''

जनजातियों के रहन-सहन की बात करें तो आदिवासियों का संसार उनके पहनावा, शिल्प-कलाएं, गहने तथा गोदने (शरीर पर बनाये जाने वाले टैटू), चित्रकारी से सजावट, मिट्टी के खिलौने, मुखौटे, सामाजिक शिक्षा, विवाह, मृत्यु अंतिम संस्कार आदि से है। किसी भी व्यक्ति को देखकर उसके सांस्कृतिक परिवेश का पता चल जाता है। उसी प्रकार बोलने के तरीके, भाव भंगिमाओं से भी व्यक्ति अपनी पहचान प्रकट करता है और यह सब उस समाज के भौगोलिक वातावरण के कारण ही भिन्न होता है। आदिवासी लोगों के सभी जनजातियों के पहनावे में अधिकांश रूप से भिन्नता पाई जाती है। जैसे- मध्यप्रदेश में गोंड जनजाति के आदिवासी घुटनों तक धोती पहनते है। स्त्रियाँ काँच लगाकर धोती पहनती है। ताकि उन्हें नदी में तैरते समय, फसल काटते समय, जंगल से लकड़ी लाकर तेज चलते समय या पेड़ों पर चढ़ते समय किसी

प्रकार की असुविधा का सामना न करना पड़े। साथ ही वह ढीला बड़ा ब्लाउज भी पहनती हैं जिसे पोलका कहते हैं।

माड़िया पुरुषों द्वारा कमर तक की धोती पहनने का चलन है। इस जाति की स्त्रियाँ कमर से लिपटी हुई साड़ी पहनती हैं जो घुटनों से ऊपर रहती है। घुटनों से ऊपर पहनी साड़ी इस जाति की स्त्रियों के कार्यों की शैली को स्पष्ट करती है। भील और भिलाला जाति के स्त्री पुरुष भी इसी तरह धोती पहनते हैं। सिर्फ रंगों का विशेष फर्क देखने को मिलता है। कोरकू जाति के लोग सादे कपड़े पहनते हैं और स्त्रियां रंग-बिरंगे घाघरे और चोली पहनती हैं। पुरुषों द्वारा ज्यादातर बंडी ही पहनी जाती है। सही ही कहा जाता है 'जैसा देश वैसा भेष' मनुष्य प्रत्येक तरह के समाज में अपने को फिट ही दिखाना चाहता है फिर वह स्वदेश हो या विदेश लेकिन अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम एक अलग स्थान रखता है। सहरिया पुरुष घुटनों तक लम्बी धोती के साथ रंगीन कमीज पहनते हैं। वे सिर पर साफा बाँधते हैं। सहरिया स्त्रियाँ लंहगा, घाघरा, सलूखा पहनती हैं। रंग, रूप और साइज के अन्तर से यह जातियां आपस में भिन्नता रखती हैं।

यदि हम आदिवासी स्त्रियों के गहने की बात करें तो वह वजन में काफी भारी होते हैं। इनमें गोदनों को एक गहने की तरह धारण किया जाता है जिसमें वह अपने पति का नाम, पुत्र का नाम, गहनों का डिज़ाइन, घड़ी, बाजूबन्ध आदि को अपने हाथों, नाक, गले, चिन, गर्दन और पैरों पर करवाती हैं। इन गोदनों को कभी फैशन, कभी उपचार, कभी पहचान तो कभी अन्धविश्वास के चलते गोदा जाता रहा है। कभी-कभी घर की मुखिया महिला द्वारा बहू को गोदना जबरन करना पड़ता रहा है। यदि गोदना कराने से इन्कार किया जाता है तो उसे पुरुषों की बराबरी करना माना जाता रहा है। स्त्री-पुरूष के बीच की असमानता रूपी खाई को आदिवासी जीवन में भी देखा जाता रहा है। पुरुष सिर्फ अपनी मर्जी से ही गोदना कराते हैं। आदिवासी स्त्रियों के गहने की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह ऐसे गहने पहनती हैं जो आवाज करते हों ताकि उनके होने का पता आस-पास के लोगों को चलता रहे। जब वह जंगल में काम करने जाती हैं तो उनके गहने की आवाज से छोटे जंगली कीड़े भाग जाते हैं और उनकी रक्षा होती रहती है। कुछ गहने पत्थरों से भी बने होते हैं जिसे वह औजार के रूप में इस्तेमाल करती हैं और अपनी रक्षा करती हैं।

आदिवासी महिलाओं के गहने भले ही ज्यादा कीमती न हों लेकिन वह उनके जीवन का एक हिस्सा जरूर होते हैं जिसे वे सिर्फ शरीर की सजावट के लिए नहीं पहनती बल्कि आत्मरक्षा के लिए भी पहनती हैं। इनके गहने प्रायः चांदी, गिलट, मोती, पत्थर, मूँगे, पंखों, हाथी दाँत, कौड़ी, लकड़ी आदि के बने होते हैं। आदिवासी अपने उपयोग की तमाम वस्तुओं को अपने आस-पास मौजूद प्राकृतिक संसाधनों से बनाते हैं।

''आदिवासी पेड़ों की छाल और रस्सी आदि को तुम्बे में लपेटकर पेय पदार्थ रखने का पात्र बनाते हैं। ये पात्र देखने में कलात्मक दिखते हैं और उपयोग करने में भी सुविधाजनक होते हैं। ताड़ के पत्तों से स्त्री और पुरुषों के उपयोग के बटुए बनाए जाते हैं। पेड़ों की छालों से बनाई गई रस्सियों से सिर पर घड़ा अथवा टोकरी रखने के लिए काम में लाई जाने वाली गोलाकार कलात्मक वस्तु बनाई जाती है, जिसे चोमल कहते हैं। चोमल बनाने के लिए ताड़ के पत्तों का भी प्रयोग किया जाता है। लकड़ियों से भी विभिन्न प्रकार की सुंदर वस्तुएँ, मूर्तियाँ, खिलौने आदि बनाने में आदिवासी कुशल होते हैं। दैनिक उपयोग में आने वाले सामानों में अनाज मापने का बरतन बनाया जाता है जिसे काठा कहते हैं। मुरिया जनजाति के लोग बाल सँवारने के लिए लकड़ी एवं बांस की कंघियाँ बनाते हैं। इन कंघियों पर नक्काशीदार ज्यामितीय आकृतियाँ बनी रहती हैं। दरपन का फ्रेम, बालों में लगाने वाले पिन, हाथों में पहनने के कंगना, गले में पहनने की माला भी लकड़ी की गोल, चौकोर आकृतियों वाली बनाई जाती है। अनाज कूटने का ऊसर-मूखर, आटा गूँथने की थाल, बैठने की चौकी तथा मचिया, कलछी, बीजों से तेल निकालने के लिए यंत्र आदि वस्तुएँ आदिवासी लकड़ी के द्वारा बनाते हैं जो विशेष प्रकार के बेल-बूटों से सजी सहती है।''

आदिवासी जाति के लोगों में प्रकृति का प्रेम उनके प्रत्येक उपयोग की वस्तु और स्थान पर देखने को मिलता है। फिर चाहे वह कोई गहना हो, बर्तन हो, घर सजावट हो आदि।

आदिवासी जंगल के निवासी होने के कारण कृषि और वनों पर निर्भर रहते हैं। महुआ, कँद मूल, फल, ज्वार, चना, मक्का, गेहूँ आदि की खेती करते हैं। महुए की शराब 'कबूतरा' जनजाति का विशेष पेय पदार्थ है। वह उसे अपने व्यवसाय का साधन भी बनाते हैं। इस जनजाति की महिलायें शराब बेचने का काम भी करती हैं। कुछ जनजातियों के लोग सब्जी भाजी के उपयोग से जीवन यापन करते हैं। लौकी, चना, टिंडा, आलू, शकरकंद आदि भारिया जनजाति के लोग खाते हैं।

आदिवासी अपने पूरे परिवार को समान रूप से सभी कार्यों में शामिल करते हैं। विशेषकर कृषि कार्यों में हर

आयु के स्त्री, बच्चे, बूढ़े और युवा साथ मिलकर सहयोग करते हैं। छोटे-मोटे घाव या बीमारी का इलाज वह पौधों के फूल, पत्ते, तने, जड़, बीज, छाल, फल आदि से करते हैं। यह ज्ञान उन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी सीखने को मिलता है। व्यवहारिकता और अनुभव के आधार पर ज्यादातर इनका इलाज अचूक रहता है।

देवी देवताओं की बात की जाए तो अक्सर ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य के हृदय में एक देवी-देवता के प्रति आस्था अवश्य होती है जिसके सामने वह अपने मन की हर परेशानी को कह लेता है। आदिवासी जनजीवन में पत्थर के देवी-देवताओं की मान्यता ज्यादा रही है जो गुफाओं आदि में निवास करते हैं। वह पत्थर को इसलिए भी अपनी आस्था का विषय बनाते हैं कि पत्थर की गुफाएँ ही इन्हें प्राकृतिक आपदा और जंगली जानवरों से बचाते रहे हैं। पत्थर के औजार, गहने, बर्तन, आग जलाने का साधन, कृषि का साधन, घर बनाने का साधन, आत्म रक्षा का साधन यही पत्थर रहे हैं। जिस कारण इनका महत्व आदिवासी जनजीवन में ज्यादा रहा है। आदिवासी पशु, वृक्ष, जल आदि की भी पूजा करते हैं वह जीवनदान देने वाली हर प्राकृतिक संसाधन को पूजा के योग्य मानते हैं। वैसे तो कई देवी-देवताओं के नाम सामने आते हैं जो प्रकृति से जुड़े हुए है। जैसे–आंगादेव, डोकरा-डोकरी, हिंगलाजिन माता, भीमादेव, मावली माता, बंजारन माता, पाटदेव, शीतला माता, खप्पर माई, शिव, त्रिशूलधारी गरुड़देव, ठाकुरदेव आदि।

आदिवासियों के त्यौहारों के विषय में बात करें तो वह फागुन माह में होली, गल त्योहार, हरेली, दशहरा आदि प्रमुख हैं। आदिवासी प्रकृति से जुड़े है। उनके त्योहार भी फसलों और मौसम के आधार पर मनाये जाते हैं। इस अवसर पर नाच-गाने का विशेष महत्व है। आदिवासी सभ्यता में जो नृत्य रूप पाये जाते हैं उनमें वीरता के नृत्य, धार्मिक नृत्य, सामाजिक उत्सवों के नृत्य आदि प्रमुख है। ''नृत्य के ये तीनों रूप आज भी जनजातियों में रीति-रिवाज के रूप में पाये जाते हैं। मध्यप्रदेश में निवास करने वाले आदिवासी भी नाच गाकर अपनी खुशियाँ मनाते हैं। कई जनजातियाँ नृत्य के समय तरह-तरह के मुखौटे लगाती हैं। जैसे– धार, झाबुआ के भील जनजाति के नर्तक नाचने के समय लकड़ी अथवा चमड़े के मुखौटे लगाते हैं जिसे राय बुड़ला कहते हैं। ये मुखौटे भारी और बड़े आकार के होते हैं। गोंड आदिवासी छेरता नृत्य करते समय भूत, प्रेत, राक्षस आदि के मुखौटे लगाते हैं जिन्हें कठभेभा कहा जाता है। बैगा आदिवासी छेरता नृत्य के समय रावण और हिरण्यकश्यप के मुखौटे लगाते हैं जिन्हें खेखड़ा कहते हैं। होली पर्व पर फाग नृत्य करते समय बैगा पुरुष रावण का मुखौटा लगाते हैं, जबकि स्त्रियाँ साही पशु के कॉटों से बना हुआ मुकुट लगा कर नृत्य करती हैं। इस मुकुट को मिज्जी कहते हैं जो कि रावण की पत्नी मंदोदरी का रूप माना जाता है।

किसी भी व्यक्ति की पहचान उसके चेहरे, शारीरिक बनावट, बोलचाल, रहन-सहन, खान-पान आदि से होती है और इन सभी की भिन्नता का सीधा आधार भौगोलिक वातावरण होता है। जिस देश की जलवायु जैसी होती है व्यक्ति पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है और पूरा जीवन उसी वातावरण में रचा वसा होता है जो संसाधन जंगलों में मौजूद हैं वह शहरी जीवन में नहीं है जिसका अत्यधिक दोहन आदिवासी संस्कृति को खतरे में डालता चला आ रहा है। आदिवासी समाज के लिए बनायी गयी सरकार की योजनाओं का क्रियान्वयन इस समाज के विकास में न होकर विनाश में हो रहा है। आदिवासी समाज का घर जंगल है, देवता प्रकृति है और जीवन जल है। इन तीनों के बिना इनका जीवन सम्भव नहीं है। यदि जिस गति से जंगल काटे जा रहे हैं इसे न रोका गया तो निश्चय ही एक संस्कृति व सभ्यता को खो देना होगा जिसका नकारात्मक प्रभाव शहरी जीवन पर भी पडेगा। वर्तमान समय में आदिवासी बच्चों की शिक्षा, स्त्रियों की सुरक्षा व स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएँ तथा पुरुषों को रोजगार परक जीवन देने की नीतियों पर सरकार का ध्यान होना चाहिए।

सामाजिक और सांस्कृतिक दायित्वों की जब बात आती है तो स्त्री की बात जरूर आती है क्योंकि वह ही समाज और संस्कृति के तमाम मूल्यों का निर्वाहन करते नजर आती है। फिर वह चाहे शहरी जीवन में स्त्री हो, उच्च-मर्ध्य-निम्न वर्ग की स्त्री हो या जंगल और कच्चे मिट्टी के घरों में रहने वाली आदिवासी स्त्री। बात तो हमेशा स्त्री अस्मिता, सुरक्षा और सम्मान की या उनके हक की आती ही है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री को सदैव गैरबराबरी के नजरिये से ही देखा गया है। आदिवासी स्त्री भी पुरुष प्रधान आदिवासी समाज में ही रहती है।

उपरोक्त अनेकों महती संस्कृति के मालिक वर्तमान समय में जल, जंगल, जमीन की रक्षा के लिए सदियों से अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए अनेकों बार आन्दोलित होते रहे है। आदिवासी आन्दोलनों का आदिवासी विमर्श में विशेष स्थान है। कुछ आदिवासी आन्दोलन निम्नलिखित हैं, यथा–

1. रामोसी विद्रोह (1822-1829)

2. भील विद्रोह (1825-1831)
3. कोल विद्रोह (1831-1832)
4. खासी विद्रोह (1833)
5. मुन्डा विद्रोह (1899-1900)
6. संथाल विद्रोह (1855)
7. कोरा माल्या विद्रोह (1900)
8. कोंडा डोरा विद्रोह (1922)
9. चुआर विद्रोह (1768)
10. रंपा विद्रोह (1822-1824)
11. नागा विद्रोह (1931)

आदि अनेक आन्दोलन आदिवासी अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु करते आ रहे है।

आदिवासी साहित्य लेखन में कहानी, उपन्यास, कविता, आत्मकथा, संस्मरण आदि विधाओं के माध्यम से स्त्रियों के प्रति न्यायपूर्ण रवैया अपनाये जाने पर ध्यान दिया जा रहा है। ये स्त्रियां विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक बाधाओं के कारण समाज की मुख्यधारा से कटी हुई हैं जिसमें साहित्य एक सेतु के रूप में कार्य कर रहा है। आदिवासी लेखन में रमणिका गुप्ता, वाहरू सोनवणे, वंदना टेटे, रोज करेकेट्टा, निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन, एलिस एक्का, संजीव, ग्रंस कुजूर, तेमसुला आओ, जयपाल सिंह मुंडा, रघुनाथ, मुर्मू, दयामणि बारला आदि प्रमुख हैं।

बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में शुरू हुआ आदिवासी अस्मितामूलक विमर्श की चिंता का मूल उनके जंगल हैं। यदि जंगल है तो आदिवासी समाज का अस्तित्व है, यदि जंगल नहीं तो आदिवासी समाज नहीं।

अतः हम कह सकते हैं कि आदिवासी विमर्श वर्तमान मे उभरता हुआ विमर्श है। भारतीय संविधान द्वारा जबसे अनसूचित जनजातियों को संवैधानिक अधिकार प्रदान किये गये हैं तबसे उनके हितों की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य हो गया है। किन्तु कुछ सत्ताधीश गन्दी मानसिकता के चलते अनुसूचित जनजातियों के प्रति भेद-भाव पूर्ण रवैया अपनाकर उनके साथ अन्याय कर रहे हैं। जब समाज के सभी वर्गों का विकास होगा तभी देश का विकास भी सम्भव है। अतः हम कह सकते हैं कि जनजातीय विकास पर नागर समाज व सरकार को विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मजूमदार, रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया, एशिया पब्लिकेशन हाउस, बाम्बे, 1961, पृ. 367
2. एस. एल. दोषी, पी. सी. जैन, भारतीय समाज नेशनल पब्लिकेशन हाउस, 2007, पृ. 150
   हरिनारायण दत्त, श्रीमती जसप्रीत बाजवा, संस्कार व प्रथाएं, सम्पादक, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
3. कुमार चौहान, श्रीमती रेनू चौहान, सामाजिक-आर्थिक जीवन, सम्पादक, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
4. कवि मन जनी मन, सम्पादक, वंदना टेटे
5. सुनील चौधरी, पुरातन एवं नवीन जनजातीय आन्दोलन : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण, रैपिड बुक सर्विस, लखनऊ, उ. प्र.
   नरेश कुमार वैदम, जनजातीय विकास मिथक एवं यथार्थ, रावत पब्लिकेशन, दिल्ली।

डॉ. ज्योति गौतम

असि. प्रोफेसर, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय
लखनऊ, उ.प्र.

सच होकर भी सच से दूर : झूठा सच

—डा. मनोज कुमार पाण्डेय

झूठा सच यशपाल द्वारा लिखित एक महाकाय उपन्यास है जो 'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य' दो भागों में विभाजित है। इस उपन्यास में भारत के विभाजन के समय की त्रासदी वर्णित की गई है। कभी-कभी सच्चाई इतनी भयावह और वर्णनातीत होती है कि उसे शब्दों में समेटा नहीं जा सकता? केवल कहने की कोशिश की जा सकती है और यह विश्वास किया जाता है कि सच्चाई ऐसी ही रही होगी, जबकि ये सभी समझते हैं कि बयानगी सत्य से दूर ही है कोसों दूर! झूठा सच (वतन और देश) को प्रारंभ करने से पूर्व यशपाल लिखते हैं—''सच को कल्पना से रंग कर उसी जन समुदाय को सौंप रहा हूँ जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिये अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता।''[1]

कुछ ऐसी ही स्थिति है यशपाल द्वारा लिखित उपन्यास झूठा सच की। 15 अगस्त, 1947 को आजाद होने से पहले ही भारतवर्ष के दो टुकड़े कर दिये गए। टुकड़े हुए राजनीतिक स्वार्थ साधने के लिए! जो चन्द राजनेताओं की वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाएं थीं और उसका वीभत्स परिणाम भोगना पड़ा भारतमाता के गर्भ से जन्मे दो नवजात राष्ट्रों भारत और पाकिस्तान की निरीह जनता को। चूंकि बटवारा पंजाब प्रान्त का हुआ था, इसलिए इस राष्ट्र विभाजन का सबसे दर्दनाक पहलू पंजाब सूबे ने ही देखा और भोगा भी। यद्यपि बँटवारे की तासीर दोनों मुल्कों के लोग तब भी जान गए थे और आज भी जानते हैं। तभी बँटवारे पर एक सामान्य व्यक्ति की टिप्पणी को यशपाल उपन्यास के पहले भाग 'वतन और देश' में कुछ इस तरह बयान करते हैं—ड्राइवर अपने स्थान से उतरकर सामने खड़ा हो गया था। तारा गाड़ी से उतरी। ड्राइवर कह रहा था—''वह काफिला भी वतन छोड़कर अपने देश को जा रहा है। मनुखों के देश धर्मों के देश बन गये।'' ड्राइवर ऊँचे स्वर में बोला—''रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था, रब्ब के बन्दों ने अपने वहम और जुल्म से उन्हें दो कर दिया।''[2] ड्राइवर साधारण व्यक्ति ही तो होता है।

यशपाल द्वारा दो भागों (वतन और देश, देश का भविष्य) में लिखित महाकाय उपन्यास 'झूठा सच' के केन्द्र में है राष्ट्र विभाजन के समय और उसके बाद की परिस्थितियों में फंसा बँटवारे की त्रासदी का दंश भोगता तत्कालीन समाज। उपन्यास लाहौर शहर की भोलापन्धे की गली से प्रारंभ होता है और लाहौर में सुस्तावित विभिन्न परिवारों को विभाजन की

त्रासदी से गुजारता दिल्ली में सूदजी की हार पर समाप्त होता है। पूरा उपन्यास लाहौर की भोला पाँधे गली के निवासी मास्टर रामलुभाया के बेटे जयदेवपुरी और उनकी बेटी तारा के जीवन के उतार-चढ़ाव को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। यही उपन्यास के नायक और नायिका हैं पर हैं भाई-बहन। बँटवारे के प्रभाव को ही इन्हीं दोनों के जीवन के विविध आयामों से जोड़कर उपन्यासकार ने दर्शाया है। विभाजन के दौरान लाहौर में भीषण दंगा होता है और होता है भयानक कत्लेआम। दंगे का ये सैलाब मास्टर रामलुभाया के परिवार को तितर बितर कर देता है। तारा को ससुराल से भागना पड़ता है और जयदेव पुरी को लाहौर के रिफ्यूजी कैम्पों में शरण लेते हुए दिल्ली आना पड़ता है।

लेखक राष्ट्र विभाजन के दौरान हुए बीभत्स नरसंहार के जो वर्णन करता है, कहीं वो इन नरसंहारों की भीषणता के समक्ष यथार्थ के और अधिक भयानक होने के संकेत देता है और ये सच भी है कि वीभत्सता, जुगुप्सा कितनी भी वर्णित की जाए, सत्य के निकट नहीं हो सकती। ऐसे वर्णन सत्य के समक्ष मिथ्या ही होते हैं, एक ऐसा सच जो सच होते हुए भी झूठ हो अर्थात झूठा सच। इस संदर्भ में यहाँ कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं–''20 अगस्त, दोपहर से पहले पुरी ने देहली से आए अखबार में पढ़ा पाकिस्तानी सेना और पुलिस ने लाहौर के रंगमहल, लोहे का तालाब, समीप की गलियों और ग्वालमंडी, पुरानी अनारकली में शेष रहे हिंदूओं को अपने घरों से हटाकर सुरक्षा के लिये डी. ए. वी. कॉलेज की इमारतों में बना दिये गये कैम्पों में इकट्ठा कर दिया था। गुजरांवाला और लायलपुर में भी सब हिन्दुओं को कैम्पों में इकट्ठा कर देने और उपद्रवियों द्वारा बाजारों में हिंदू स्त्रियों को निरावरण करके उनके जुलूस निकाले जाने के भी समाचार थे।"[3]

नैनीताल से लाहौर जाते समय पुरी को जिन हालातों का सामना करना पड़ता है उन्हें दर्शाते हुए इसी तरह अन्य एक स्थल पर यशपाल लिखते हैं–''पुरी अम्बाला में उतरने वाले हिन्दू के स्थान पर बैठ गया था, इसलिए खिड़की के किनारे से बाहर देख सकता था। ....गाड़ी सरहिन्द स्टेशन पर रुकी। प्लेटफॉर्म खाली था। सिपाही संगीनें चढ़ाये पहरा दे रहे थे। आतंक भरी स्तब्धता छायी हुई थी। प्लेटफार्म पर जगह-जगह फर्श लाल-काला हो रहा था। खून फैला हुआ जान पडता था। स्टेशन की बाड़ के साथ-साथ कुछ लाशें पड़ी हुई थीं। स्टेशन के परे से भीड़ का हो-हल्ला सुनाई दे रहा था। केवल डाक उतारी और लादी गई और गाड़ी चल दी।"[4] पुरी तीसरे दिन प्रातः लुधियाना से फिरोजपुर के लिए चल पड़ा। गाड़ी में भीड़ नहीं थी। मोगा तहसील स्टेशन वीरान-सा लगा। प्लेटफार्म पर जगह-जगह खून फैला हुआ था, लाशें पड़ी हुई थीं। हाथों में बर्छे और फर्से लिये लोग निधड़क घूम रहे थे। एक आदमी कंधे में ब्रेनगन लटकाये हुए गाड़ी की खिड़कियों में झाँक-झाँक कर देख रहा था। वे लोग गाड़ी के प्रत्येक डिब्बे के सामने पहुँच कर पूछ लेते थे–''कोई मुर्गा है?'' गाड़ी मोगा स्टेशन से चलना ही नहीं चाहती थी। इंजन बार-बार सीटी देकर रह जाता। पुरी पिछली रात कुछ न खाने के कारण भूख से परेशान हो रहा था। स्टेशन के प्लेटफार्म को घेरे हुए लोहे की सीखचों की बाड़ के बाहर सड़क के दूसरी ओर तंदूरों पर रोटी बनती दिखाई दे रही थी। पुरी वहाँ तक जाकर रोटी ले आने का साहस भी न कर सकता था, इतने में गाड़ी छूट जाती तो फिर जाने कब मिलती।

चार-पाँच जाट सिरों पर पगड़ियाँ और कमर में तहमत बाँधे प्लेटफार्म पर आये। वे अपने बीच में दो सहमी हुई नवयुवतियों को जल्दी चलने के लिए बाँहों से खींच ला रहे थे। एक युवती के सिर पर ओढ़नी नहीं थी। उसका छींट का कुर्ता कंधे से दाहिनी छाती पर फटा हुआ था। गोरी, उभरी, तनी हुई छाती बाहर निकली हुई थी। नवयुवती आतंक से बदहवास थी। दूसरी भी जवान लड़की कंधे पर अटकी नीले रंग की ओढ़नी को सँभाल सकने की अवस्था में नहीं थी। दो जवान बाँहों के नीचे, कढ़ी हुई लाल ओढ़नियों में बँधे हुए छोटे-छोटे पुलिन्दे दबाये थे। जाट नवयुवतियों को लाकर पुरी के ही डिब्बे में बैठ गये। उनके हाथों में खून से सने बर्छे और फर्से थे। एक के हाथ में तमंचा था। जवान लड़कियों के चेहरे आँसुओं से भीगे और आतंक से सहमे हुए थे। उनकी बड़ी-बड़ी बूटी की छींट की सलवारें, गले में चाँदी की हंसलियाँ और कलाइयों पर चाँदी के जेवरों से स्पष्ट था कि वे देहाती मुस्लिम परिवारों की थीं। उन्हें लाने वाले लोग आपस में ऊँचे स्वर में झगड़ रहे थे। पुरी इस दृश्य से स्तब्ध रह गया था। कुछ देर बाद वह लाहौरी उच्चारण से भिन्न पंजाबी को समझने लगा। एक आदमी ऊँचे स्वर में अपने साथी को कोस रहा था–''वही तो असली काम की मटियार (ऊर्ध्वयौवना) थी। साले, तूने उसकी छातियाँ नहीं देखीं? कसम है मेरी, जैसे लड़ाके तीतर चोंच उठाये हों।'' उस व्यक्ति ने उँगलियों के अग्र भाग मिलाकर चोंच का संकेत किया, ''कमबख्त, तूने उसकी गर्दन ही काट दी।''

कोसे जाने वाले जवान ने समर्थन के लिए, दूसरे साथियों की ओर देखकर उसका विरोध किया–''वाह, रे, वाह! क्या बक रहा है तू, उसने मेरी बाँह काट दी, देखता

नहीं?'' जवान ने अपनी कलाई पर लिपटा चीथड़ा हटाकर दिखा दिया। माँसल, पुष्ट बाँह पर खून पोंछा हुआ था। दाँतों की पंक्ति के गड़ जाने के निशानों से अब भी खून छलक रहा था। कोसने वाले जाट ने जवान के अनाड़ीपन के प्रति वितृष्णा प्रकट करने के लिए हाथ छिटक कर कहा–''लानत है तुझ पर, तू मर्द है! बहिन औरत से हार गया, मादर ऐसी औरत को ही तो बस में करना हुनर है। बहिन ''तू मुझे कहता, मैं उसकी ऐसी चाबी मरोड़ता कि बहिन पलस्तर हो जाती।'' पुरी ने करवट लेकर मुँह दूसरी ओर कर लिया। बाँह खींची जाने से पुरी का चेहरा फिर उन लोगों की ओर घूम गया–''कौन है तू? उतार अपनी तंबी (पाजामा)'' एक बर्छा उसके पेट को छू रहा था। पुरी काँप गया। ''हिन्दू हूँ, खत्री'' उसके हाथों ने पाजामे की तरह पहनी हुई अपनी पतलून का बटन खोले बिना नीचे खींच दिया और कमीज उठा दी।

उसके प्रति सन्देह करने वाले लोग जोर से कहकहा लगाकर हंस पड़े। पुरी को सामने सिर झुकाये बैठी स्त्रियों को देखकर लज्जा आ गयी। वह बाँह मोड़कर अपनी पतलून सम्भालने लगा। कहाँ है तेरा घर, फिरोजपुर शहर में?'' फिर प्रश्न सुनाई दिया। ''लाहौर में।'' पुरी ने उत्तर दिया। ''अपनी माँ-बहिन तुर्कों को दे आया है न ?'' पुरी कुछ उत्तर न दे सका। ''अबे बोलता है कि नहीं?'' ''मैं तो नैनीताल में था, अब लाहौर जा रहा हूं।'' ''नैनीताल? वह कहाँ है? किस मुल्क में है?'' ''दिल्ली से परे।'' ''दिल्ली से परे, हिन्दुस्तान (यू.पी.) में ?'' ''हाँ।'' यहाँ हिंसाजनित प्रकरण लेखक ने विस्तार से वर्णित किया है, जो रोंगटे खड़े कर देने वाला है। फिर सच्चाई कैसी रही होगी।''[5] केवल भयानक नरसंहार ही नहीं, प्रमुख पात्रों के जीवन के विविध पक्ष की विभिन्न घटनाओं के माध्यम से भी लेखक ने सच और झूठ की पड़ताल की है और उन्हें पाठकों के समझ रखा है, विशेषकर उनके प्रेम प्रसंगों में।

कनक और जयदेव पुरी का प्रेम विवाह होता है। दोनों प्रबुद्ध हैं, मैच्योर हैं। कनक अपने परिवार के खिलाफ जाकर पुरी से विवाह करती है। दोनों को एक बेटी भी होती है। लेकिन यही दोनों आगे चलकर अलग-अलग रिश्तों में अन्य लोगों के साथ अपनी ही सहमति से बंध जाते हैं। जयदेव पुरी उर्मिला के साथ और कनक प्रीतम सिंह गिल के साथ। असद तारा जैसी साहसी प्रेमिका को अस्वीकार कर देता है और सोमराज तारा जैसी पत्नी को मारता-पीटता है। पुरी और उर्मिला को हमबिस्तर देखकर कनक अवाक् रह जाती है। पुरी उसे लाख समझाता है, पर वह नहीं समझती। तब उसे याद आता है–"कनक चुप हो गयी। याद आ गया। पूरा परिवार पुरी से विवाह करने की उसकी इच्छा के विरुद्ध था। नैयर को पुरी पसन्द नहीं था। नैयर ने पुरी के विरुद्ध आरोप लगाया था कि वह प्रेम और विवाह की स्वतंत्रता केवल अपने लिये ही चाहता है। कनक ने इस आरोप का विरोध किया था। अब वह बात स्वीकार करनी पड़ रही थी।''[6]

पुरी और गिल के बीच फँसी कनक अंत में अपने पति जयदेव पुरी से तलाक लेने को तैयार हो जाती है और प्रीतम सिंह गिल के साथ रहने की सोचती है। पुरी और कनक के इस संवाद में यह तथ्य इस प्रकार उभरकर आता है–''कनक भी गर्दन झुकाये, आँखें फर्स पर लगाये थी। पुरी के आँसुओं का घूँट भरने की गटक सुनाई दी। कनक के मन में आया, क्या व्यर्थ नाटक है। उसने मुँह फेर कर पूछ लिया–''मैं जाऊँ?'' पुरी ने गहरा निश्वास लिया" तुम चाहे जैसे या जहाँ रहो, हमारा संबंध अटूट है। डाइवोर्स नहीं होगा।'' ''मुझे चाहिये।'' ''आखिर उस नाटक की जरूरत क्या है?'' ''नाटक तो झूठाबंधन है। मैं मरे साँप की केंचुल से अपने को क्यों बाँधे रहों?"पुरी का स्वर क्रोध से कड़ा हो गया स्वतंत्रता चाहिये? दूसरा विवाह करना चाहती हो?'' ''जो मेरी इच्छा होगी।'' ''किससे विवाह होगा?'' ''आपको मतलब नहीं।'' ''गिल से?'' ''आपको मतलब नहीं।''[7]

यशपाल इस महाकाय उपन्यास में ऐसे बहुत से सवाल उठाते हैं और जो कहना चाहते हैं वो उपन्यास के प्रारंभ में स्पष्ट भी कर देते हैं कि हमारा जनसमुदाय कैसे सच की खोल में छिपे झूठ से बार-बार आहत होकर भी उसके प्रति अपने मोह को नहीं छोड़ पाता है और लगातार ठगा जाता है।

संदर्भ-सूची

1. झूठा सच, यशपाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-211001 संस्करण, 2014, झूठा सच (वतन और देश) के प्रारंभ मे यशपाल की लिखित टिप्पणी
2. वही, पृ. 415
3. वही, पृ. 355-56
4. वही, पृ. 360
5. वही, पृ. 360-65
6. झूठा सच (देश का भविष्य), पृ. 310
7. वही, पृ. 521-22

प्रो. मनोज कुमार पाण्डेय
हिन्दी विभाग,
कालीचरण पी.जी. कॉलेज, लखनऊ

उपन्यास 'पिछले पन्ने की औरतें' में स्त्री जीवन

—डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी

महिला कथाकार डॉ. शरद सिंह का जन्म 29 नवम्बर, 1963 ई. में मध्यप्रदेश के पन्ना जिले में हुआ था। ये बचपन से ही साहित्य सृजन में जुड़ी हुई हैं। इन्होंने अनेक उपन्यासों की रचना की जिनमें 'पिछले पन्ने की औरतें', 'पचकौड़ी', 'तेंदुए के पत्ते', 'पत्तों में कैद औरतें', 'खुले दरवाजों में बन्द औरतें', 'आधी दुनिया पूरी धूप' आदि प्रमुख हैं। इनके सभी उपन्यास स्त्री जीवन प्रधान हैं। 'पिछले पन्ने की औरतें' उपन्यास में मुख्यतः बेड़नी समाज की औरतों का वर्णन किया गया है, समाज में व्याप्त विसंगतियों के कारण दलित-शोषित जीवन व्यतीत करने को विवश स्त्रियों की दशा को रेखांकित करना कथाकार का मुख्य उद्देश्य है। समाज में इन औरतों की उपस्थिति का अनुभव तो किया जाता है, किन्तु इनके प्रति संवेदनात्मक अनुभूति कभी-कभार ही उपजती है। अधिकांश लोगों के लिए यह औरतें 'बेड़नी' मात्र हैं जिन्हें नाचने वाली के रूप में नचाया जा सकता है और जिन्हें भोगा जा सकता है, किन्तु उन्हें विकास की मुख्य धारा से जोड़े जाने के प्रश्न यदा-कदा ही उठते हैं। मध्य प्रदेश के बुंदेलखंड अंचल में सदियों से लगभग एक सी जीवन शैली को जी रही इन बेड़नियों के अतीत और वर्तमान को उपन्यास में पिरोया गया है जिसमें इतिहास, संस्मरणों, लोककथाओं एवं किंवदंतियों के साथ-साथ बेड़नियों के जीवन से जुड़े हुए शोधात्मक तथ्यों को आधार बनाया गया है। स्त्री विमर्श पर आधारित इस उपन्यास में सदियों से दलित, पीड़ित, शोषित एवं उपेक्षित स्त्रियों की जीवन दशाओं एवं उनसे जुड़ी समस्याओं को रेखांकित किया गया है।

कथाकार ने स्वयं लिखा है—''मैं पुरुषों की विरोधी नहीं हूं, किन्तु उस विचारधारा की विरोधी हूं जिसके अन्तर्गत स्त्री को मात्र उपभोग की वस्तु के रूप में देखा जाता है। विचारों का यह पुरुष-प्रधान परिवेश ही जिम्मेदार हैं उन औरतों के जीवन की त्रासदियों के लिए जो अतीत में 'गणिकाएं', 'देवदासियाँ' अथवा 'नगरवधुएं' कहलाती थीं और वर्तमान में 'कालगर्ल', 'बारडांसर' और 'सेक्सवर्कर' कहलाती हैं। अर्धशिक्षितों के बीच इन्हीं औरतों को 'नचनिया', 'पतुरिया' और 'धंधेवाली' कहा जाता है। समाज में देह-व्यापार यदि आज भी जीवित है तो मात्र इसलिए कि पुरुषों में स्त्री देह को खरीदने की प्रवृत्ति आज भी मौजूद है। स्त्रियों से जुड़े इस 'अपराध' को स्त्रियों की सहज उपलब्धता पर मढ़कर कोई भी समाज दोषमुक्त नहीं हो सकता।''[1]

इस उपन्यास में यह उभारने की कोशिश की गयी है कि बेड़नियों की जीवन शैली कैसी है, उनके समुदाय में उनकी स्थिति कैसी है, उनके समुदाय के पुरुषों की स्थिति क्या है जो वे अपनी औरतों को देह व्यापार करने देते हैं? उनके पुरुष अपनी औरतों की अवैध संतानों को कैसे स्वीकार कर लेते हैं, जबकि समाज के शेष वर्गों में अवैध संतान को न तो परिवार में जगह दी जाती है और न बहुगामी स्त्रियों को। ऐसी औरतें सभ्य माने जाने वाले समाज में कुलटा, वेश्या, पथभ्रष्ट जैसे अपमान जनक नामों से पुकारी जाती हैं। अवैध संतान कहे जाने वाले बच्चों को जन्म दे देकर अपने समुदाय का संख्यात्मक विकास करती हुई ये बेड़नियाँ समाज में किस स्थान पर हैं?

'बेड़नियां औरतें' आर्थिक सुविधा और सामाजिक सम्मान पाने के सपने देखती हैं। गाँवों और शहरों में भटकते हुए उन्हें प्रायः इज्जतदार सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन व्यतीत करती हुई औरतें मिलतीं है जिन्हें देखकर बेड़नियों का मन भी वैसा ही जीवन जीने को लालायित होता है, जबकि यह भी सच है कि घरेलू औरतों का जीवन उन्हें रास आना कठिन है, क्योंकि वह जिस स्वच्छंदता की आदी हैं, उससे घरेलू औरतों का जीवन तनिक भी मेल नहीं खाता है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका का उद्देश्य मात्र बेड़िया समाज की स्त्रियों की दशा को ही उभारना नहीं रहा है, बल्कि बेड़िया समूह में रह रहे पुरुषों की स्थिति को भी उभारना रहा है। यह पुरुष अपनी स्त्रियों से उत्पन्न बच्चों को जो उन्हें यह वास्तविकता में नहीं ज्ञात होता है कि बच्चे उन्हीं के हैं, फिर भी उन्हें अपनाना पड़ता है। इन पुरुषों की भी समाज में कोई इज्जत नहीं होती है। ये पुरुष चौर्यकला में प्रवीण तथा मदिरा मद में चूर एवं अकर्मण्य होते हैं। इनके द्वारा अपने समूह की आर्थिक स्थिति में कोई भी वृद्धि नहीं होती है, अपितु मदिरा के लिए अपनी स्त्रियों की कमाई पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

बेड़नियों के समूह के पुरुष चोर और आलसी प्रवृत्ति के होते हैं। वे अपने परिवार की औरतों को उनके 'कमाऊ रूप' में ही देखना चाहते हैं।[2] समूह की औरतें नाच-गाकर छिटपुट सामान बेचकर तथा चोरी करके अपने समूह की आर्थिक समस्या हल करतीं हैं। वेश्यावृत्ति इनकी विवशता है किन्तु इनका स्वभाव तेज-तर्रार होने के कारण हर कोई इन्हें अपनी अंकशायिनी नहीं बना सकता था। पैसे और रसूख वाले ही इन्हें प्राप्त कर सकते थे। पुरुष प्रधान समाज के सभी ताने-बाने पुरुषों की अभिलाषा के अनुरूप ही बुने गये हैं जिसमें स्त्री की भूमिका अधिकारी की नहीं, अधीनस्थ की रही है। जब किसी पुरुष को अपना पौरुष सिद्ध करना होता है तो वह स्त्री को माध्यम बनाता है।' युद्ध चाहे कोई भी हो, कैसा भी हो, स्त्री की देह पर से होकर पूर्ण होता है। युद्ध के मैदान में पीठ दिखाकर भागने वाले अथवा पराजित होने वाले अपनी स्त्रियों से जौहर कर लेने की अर्थात जीवित जल जाने की आकांक्षा रखते हैं, अन्यथा जाते-जाते वे स्वयं ही अपनी स्त्रियों को मौत के घाट उतार जाते हैं। विजेताओं की तो बात ही कुछ और होती है, उनके लिए पराजितों की स्त्रियाँ अपनी वासना और रक्त पिपासा शांत करने का अद्वितीय साधन होती हैं। दुर्भाग्य से मानव सभ्यता के इतिहास में सभ्य मानव की यह घिनौनी सभ्यता भी दर्ज है। इससे भी बड़ा दुर्भाग्य यह है कि यह जघन्य कृत्य अतीत में तो होता ही था, वर्तमान में भी होता है।

भारतीय संविधान में बेड़िया समुदाय को अनुसूचित जाति के अंतर्गत रखा गया है। बेड़ियों को अनुसूची में लिये जाने से पहले और अनुसूची में लिये जाने के बाद उनकी औरतों की बुनियादी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। क्योंकि बेड़नियाँ तो अभी भी नाच रही हैं। वर्तमान सामंतों के सामने वे अभी भी अपनी देह को किसी 'बुफे की मेज' पर रखे व्यंजन की तरह परोस रही हैं।[3]

कितना विचित्र है कि दिन के उजाले में जिस औरत के साथ समाज के पुरुष अछूत सा व्यवहार करते हैं, रात के अंधेरे में वे ही पुरुष उस औरत की देह पर बिछे मिलते हैं। इस दोहरेपन के अंधेरे को जीने के लिए वे विवश रहती हैं।[4] बेड़नी आर्थिक लाभ के लिए पुरुषों से उन्मुक्त यौन संबंधों को स्वीकार करती हैं, बदले में किसी प्रकार के सामाजिक संबंधों की मांग नहीं करतीं। वे अविवाहित मातृत्व को सहजता से स्वीकार कर लेती हैं और अविवाहित मातृत्व से जन्मी अपनी संतान को सदैव अच्छा जीवन देने का प्रयास करती हैं। उनके लिए उन्मुक्त यौन संबंधों से उत्पन्न होने वाली संतान को पिता का नाम मिलना या न मिलना उसके पिता की इच्छा पर निर्भर करता है। अतः बलपूर्वक पिता का नाम पाने के बदले संतान के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करना श्रेयस्कर समझती हैं। बेड़िया स्त्रियाँ अपने दैहिक महत्व को भली-भाँति समझती हैं, वे अपनी देह का उपयोग व्यावसायिक यौन संबंधों के लिए तो करती ही रहती हैं, साथ ही साथ चोरी करने में भी अपनी देह का उपयोग करती रहीं हैं। 'सन् 1907 ई. में जबलपुर के एक अंग्रेज अधिकारी 'गेयर' ने बेड़नियों की चौर्यकला का वर्णन करते हुए लिखा था–''बेड़नियाँ हीरे-जवाहरात और यहाँ तक कि सिक्के भी अपने गुप्तांगों में छिपा लेने में प्रवीण होती हैं। इनमें अभ्यास के द्वारा

अपने गुप्तांगों में अधिक से अधिक कीमती सामान अंदर रखने की पर्याप्त जगह बनाने की आदत शुरूआत से डाली जाती है। ये बेड़नियाँ घूम-घूमकर भीख मांगती हैं और अवसर मिलते ही चोरी कर लेती हैं।'[5]

लगभग सौ-सवा सौ साल से भी अधिक समय हो चला है जब से बेड़नियों का नाच पारिवारिक उत्सवों में अपनी समृद्धि का प्रदर्शन करने का माध्यम बन गया है। पारिवारिक उत्सवों में बेड़नियों का नाचना गौरव की बात मानी जाती रही है। यह परंपरा ग्रामीण क्षेत्रों में और शहरी क्षेत्रों में कुछ अंशों तक आज भी पायी जाती है। परंपरा पोषक औरतें बेड़नी के नृत्य को पारिवारिक उत्सवों के लिए शुभ मानती हैं। बेड़नी को विवाह समारोहों में नाचने के बदले पहले से तय किये गये पैसे दिये जाते हैं। अपने ऊपर लुटाए जाने वाले धन का आकर्षण बेड़नियों को मादक नृत्य के लिए प्रेरित करता है। जितना रसीला और मादक नृत्य होगा उतने ही अधिक रुपये इनाम में मिलेंगे।

जो बेड़नियाँ अपनी परंपरागत जीवन शैली से ऊबकर एक आम औरत का जीवन जीना चाहती हैं, कम से कम उनके लिए तो यह स्थिति निराशा पैदा करने वाली सिद्ध होती है। आखिर गोदई की नचनारी ने प्रसव-पीड़ा सहते हुए यह तो कभी नहीं सोचा होगा कि उसकी संतान के जन्म के अस्सी-पचासी साल बाद भी बेड़नियों को नाचने की प्रथा गौरव का प्रतीक बनाकर जारी रखी जायेगी। उसने तो यह सोचा होगा कि समय के साथ-साथ सब कुछ बदल जायेगा। उसने यह भी सोचा होगा कि उसकी संतान नहीं तो कम से कम संतान की संतान को तो पतुरिया बनकर नाचना नहीं पड़ेगा और न ही अपनी देह का सौदा करने को विवश होना पड़ेगा।

छल-कपट के न जाने कितने हथकंडे होते हैं, प्रत्येक सबल व्यक्ति किसी न किसी यत्न से निर्बल व्यक्ति को अपने अधीन करके अपने लाभ के लिए प्रयोग में लाना चाहता है। वे औरतें जिन्हें जीवित रहने के लिए अपने शरीर को आमदनी का माध्यम बनाना पड़ा, वे भी शरणागत के रूप में शोषित होने से नहीं बच पायी। बेड़िया समुदाय की औरतें इसका जीता-जागता उदाहरण हैं। उन्होंने पाया कि उनके अपने समुदाय के पुरुष न तो उनका सहारा बन पाते हैं और न उन्हें सुरक्षित जीवन दे पाते हैं तो उन्होंने पूँजीपतियों की शरण में जाने का निश्चय किया। अनिश्चितता के वातावरण में बेड़िया औरतों को यही बात समझ में आयी कि वासना के भूखे पूँजीपति अपनी वासना तृप्ति के बदले उन्हें पर्याप्त संरक्षण तो दे सकते हैं। वे इस स्थिति के लिए तैयार थीं, किन्तु वेश्या भी नहीं कहलाना चाहती थी। उन्होंने पूँजीपतियों से संपर्क के लिए 'राई' नृत्य का सहारा लिया। 'राई' बेड़नियों के द्वारा प्रारम्भ किया गया अथवा यह नृत्य बुंदेलखंड में पूर्व से ही प्रचलित था और बेड़नियों ने इसे अपनाकर विशेष रूप प्रदान किया। इस संबंध में विविध मत पाये जाते हैं, लेकिन इस तथ्य पर सभी एकमत दिखाई पड़ते हैं कि राई नृत्य को बेड़िया समुदाय ने ही विशिष्टता प्रदान की।

बेड़नी जिन पुरुषों से यौन संबंध स्थापित करती हैं, उन्हीं से संतति भी पैदा करती हैं। वे विवाह नहीं कर पाती हैं। भारतीय समाज में पिता के नाम से कुल और वंश चलते हैं, लेकिन बेड़नियाँ अविवाहित माताएं बनती हैं, अतः उनके पास कुल अथवा वंश के लिए संतति पैदा करने का उद्देश्य नहीं रहता। वे अपनी मातृत्व भावना की तुष्टि के लिए तथा अपनी वृद्धावस्था के सहारे के लिए बच्चों को जन्म देती हैं। कथाकार 'बेड़ियों' के जीवन के प्रत्येक पहलू को उजागर करने में समर्थ हुई हैं जो उसका मुख्य उद्देश्य था। अतः उपन्यास अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल हुआ है।

संदर्भ सूची

1. 'पिछले पन्ने की औरतें', डॉ. शरद सिंह, सामयिक प्रकाशन, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, आवरण पृष्ठ
2. वही, पृ. 2
3. वही, पृ. 64
4. वही, पृ. 25.
5. वही, पृ. 68

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी), राजकीय महाविद्यालय
कुचलाई, सीतापुर (उ.प्र.)

उत्तराखंड की भोटिया जनजाति में महिलाओं की सामाजिक स्थिति : खम्पा समाज के परिपेक्ष्य में

—डा. शिवानी रावत
—अजय सिंह खम्पा

किसी भी समाज/देश की स्थिति का अनुमान वहाँ की महिलाओं की दशा कैसी है इस बात से लगाया जा सकता है। बिना महिलाओं के समाज की कल्पना संभव नहीं है। शतपथ ब्राहमण में महिला को अर्धांगिनी कहा गया है। मनुस्मृति में कहा गया है, ''यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता" अर्थात जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ स्वयं देवता निवास करते हैं।[1] संयुक्त निकाय में भगवान बुद्ध द्वारा कहा गया है, ''पुत्र की अपेक्षा कभी-कभी पुत्री अधिक श्रेष्ठ होती है''।[2] वैदिक काल से ही महिलाओं को सम्मान तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था। गृह कार्यों के साथ-साथ कृषि, प्रशासन तथा धार्मिक कार्यों में भी महिलाएं बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती थीं। महिलायें कही भगिनी, कहीं पत्नी तो कही माता की भूमिका निभाती है तथा एक समाज व परिवार को बनाये रखने में उनके असीम योगदान को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है।[3] उत्तराखण्ड में खम्पा समाज उत्तराखण्ड के कुमाऊँ परिक्षेत्र में स्थित धारचूला, पिथौरागढ, अल्मोड़ा, द्वाराहाट, नैनीताल, भवाली, हल्द्वानी, टनकपुर, सोमेश्वर तथा गढ़वाल क्षेत्र में ग्वालदम, पुरोला, डंडा, देहरादून, मसूरी आदि क्षेत्रों में निवास करती है। 2011 की जनगणना अनुसार उत्तराखण्ड की कुल जनसंख्या 1,00,86,292 में से बौद्ध धर्म से संबंधित लोगों की जनसंख्या 14,926 (0.15 प्रतिशत) थी।[4]

1962 से पूर्व यह जनजाति भारत-तिब्बत व्यापार में संलग्न थी तथा इसी व्यापार पर पूर्ण रूप से निर्भर थी। तिब्बत से यह लोग ऊन से बने गर्म कपड़े, सुहागा, याक की पूँछ, छुरा (याक के दूध से बना एक पदार्थ), याक का घी, नमक आदि लेते थे तथा इसके बदले में तिब्बतियों को गेहूं, चावल, गुड़, लकड़ी का किल्ला (जानवरों को बांधने के लिए), लोहे का किल्ला (जानवरों को बांधने के लिए) सूती कपड़ा आदि उन्हें देते थे। इस व्यापार में ये इतने पारंगत हो चुके थे कि राज्य के अन्य व्यापारियों तथा तिब्बती व्यापारियों के बीच बिचौलियों के रूप में भी कार्य किया करते थे।[5] इनमें कुछ व्यापारी इतने समृद्ध थे कि जब उनका सामानों से लदा जानवरों का दल व्यापार के लिए निकलता था तब कोई अन्य दल

उस रास्ते पर नहीं निकल सकता था क्योंकि यह दल इतना बड़ा होता था कि अन्य दलों के लिए रास्ता ही नहीं बचता था। अतः इस दल के निकलने से पहले ही यह घोषणा कर दी जाती थी कि फलां दिनांक को इनका दल व्यापार के लिए निकलेगा। इस कारण अन्य दल इनके रास्ते पर नहीं निकलते थे। सरकार द्वारा इन दलों के साथ एक सरकारी शिक्षक भी नियुक्त किया जाता था तो इनके ठहरने के पड़ावों में इनके बच्चों को शिक्षा देने का कार्य करते थे।[6]

1962 में भारत/चीन युद्ध के उपरांत इनका मुख्य व्यवसाय तथा व्यापार पूर्ण रूप से बंद हो जाने के कारण ये लोग उत्तराखण्ड के तराई तथा मैदानी क्षेत्रों में आकर बस गए थे। यदि हम उत्तराखण्ड में निवास करने वाले बौद्ध अनुयायियों की बात करें तो इनकी मुखाकृति के अनुसार इन्हें मंगोलॉयड नस्ल का कहा जा सकता है। उत्तरकाशी में निवास करने वाले जाड़ भोटियाओं को छोड़कर समस्त उत्तराखण्ड में बौद्ध धर्म के अनुयायियों के रूप में खम्पा समाज की जनसंख्या समस्त उत्तराखण्ड की बौद्ध जनसंख्या के 50 प्रतिशत से अधिक है।[7]

इस समाज में आज भी अधिकतर संयुक्त परिवार की प्रथा देखी जा सकती है। कुछ ही परिवार ऐसे है जो नौकरी और व्यवसाय के कारण एकांकी परिवार में बदल गए हैं। इस समाज में सत्ता के आधार पर परिवार पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक दोनों पाए जाते हैं। परिवार का वरिष्ठ सदस्य ही परिवार का मुखिया होता है चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। इस समाज में महिलाओं को समानता की दृष्टि से देखा जाता है। सम्पत्ति का अधिकारी सामान्यतः लड़का होता है परंतु कहीं कहीं संपत्ति के अधिकार में महिलाओं को भी महत्व दिया जाता है। परिवार में लड़का ना होने की स्थिति में घर जमाई रखने की प्रथा इनमें देखी जा सकती है।[8] इस समाज में लड़कियों के लिए 'भों' तथा महिलाओं के लिए 'केमे' शब्द का प्रयोग किया जाता है। वहीं वरिष्ठ या वृद्ध महिलाओं के लिए 'इबी' शब्द का प्रयोग किया जाता है।[9] समाज में किसी भी नवीन अथवा शुभ कार्य के लिए पूजा-अर्चना अवश्य कराई जाती है। देवी-देवताओं पर इनका अटूट विश्वास रहता है। किसी भी आवश्यक कार्य में महिलाओं का प्रतिभाग करना आवश्यक होता है अन्यथा वह कार्य अधूरा समझा जाता है।[10] परिवार में होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों में भी महिलाओं की उपस्थिति अनिवार्य होती है। परिवार में माता का दायित्व महत्वपूर्ण माना जाता है। सभी आवश्यक कार्य में उसकी स्वीकृति अवश्य ली जाती है।[11] यह समाज आदिकाल से ही एक व्यापारिक समाज रहा है। अतः इस समाज में अधिकतर महिलाएं व्यापार करते हुए दिखाई देती हैं। इस समाज पर भौगोलिक परिस्थिति का भी बहुत प्रभाव पड़ा जिससे इनकी आर्थिक स्थिति भी प्रभावित रही। यह समाज प्रारम्भ से ही हिमालय के ठण्डे वातावरण में जीने का आदी रहा तथा स्वयं को इस स्थिति में ढालने के लिये भेड़ों से प्राप्त ऊन से गरम कपड़े बनाने में पारंगत हो गया। इन गरम कपड़ों की पहचान शायद ही इनसे बेहतर कोई और कर पाये। पूर्व में इनकी महिलायें भेड़ों से ऊन प्राप्त कर स्वेटर, कम्बल (चुकटुक), शॉल, टोपी तथा दन (कालीन) आदि तैयार करते थे तथा पुरुष इन्हें बेचने के लिये नेपाल, तिब्बत, हिमाचल प्रदेश आदि क्षेत्रों में जाते थे। इस समाज में अधिकतर महिलायें व्यापार में ही संलग्न रहती हैं। पुरुषों की अपेक्षा इस समाज की महिलाएं आपको अधिक कुशल व्यापारी मिलेंगी। इस समाज में महिलाएं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होती हैं तथा अपने परिवार के आर्थिक कार्यों में बराबर का सहयोग देती हैं।[12]

यदि हम शिक्षा के क्षेत्र की बात करें तो इनमें बालक और बालिका दोनों को समान रूप से शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त है। 2011 की जनगणना के अनुसार उत्तराखण्ड में अनुसूचित जनजातियों की साक्षरता दर 78.8 प्रतिशत थी जिसमें महिलाओं की साक्षरता दर 70 प्रतिशत थी।[13] इस समाज में शिक्षा के क्षेत्र मे महिलाएं पुरुषों से अधिक प्रवीण समझी जाती हैं। वर्तमान में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कुछ ही लोग कार्यरत हैं जिनमें से सभी महिलाएं ही हैं। इसके अलावा पीएचडी डिग्री प्राप्त वाले भी महिलाएं ही हैं। अभी तक इस समाज में कोई भी पुरूष पीएचडी उपाधि धारक नहीं है। इसके अलावा कुछ ही लोगों ने एम.बी.बी.एस. की शिक्षा ग्रहण की है जिसमें अधिकतर महिलाएं हैं। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान में भी अनेक लड़कियां अध्ययनरत हैं। हालांकि माध्यमिक शिक्षा के बाद कुछ ही महिलाएं उच्च शिक्षा के लिए आगे पढ़ पाती हैं जिसके लिए अनेक कारणों का योगदान होता है जैसे परिवार की जिम्मेदारी, आर्थिक स्थिति, विवाह आदि। फिर भी अन्य समाजों की तुलना में यह समाज शिक्षा के क्षेत्र में काफी प्रगतिशील विचारधारा का पोषक हैं। इस समाज की वर्तमान पीढ़ी लगभग 100 प्रतिशत साक्षर है चाहे उन्होंने दसवीं की परीक्षा ही पास की हो परंतु वे अपनी प्राथमिक शिक्षा अवश्य पूर्ण कर चुके हैं।[14]

मनोरंजन के क्षेत्र में भी इस समाज में महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं। महिलाएं टीवी देख कर, गाने सुनकर, परिवार के साथ घुमने जाकर, इंटरनेट

चला कर, वीडियो गेम खेल कर, लूडो, पासा, लैपटॉप चलाना, मोबाइल चलाना आदि के द्वारा अपना मनोरंजन करती हैं। परिवार में मनोरंजन के लिए उन्हें भी उतनी ही सुविधाएं दी जाती है जितना कि पुरुषों को।[15]

इस समाज में प्रेम विवाह भी होते है। लड़का/लड़की अपनी पसंद से किसी भी धर्म, जाति तथा समाज के लोगों से विवाह कर सकते हैं। कुछ विपरीत परिस्थितियों में ही माता-पिता प्रेम विवाह के खिलाफ होते हैं। अधिकतर प्रेम विवाह ही होते हैं। विवाह में भी महिला/पुरुष को समान अधिकार प्राप्त हैं। विवाह केवल 18 वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर ही किया जाता है। पूर्व में अन्य समाजों की ही तरह ही 13 वर्ष के बाद लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था। परंतु अब स्थितियाँ बदल चुकी हैं। वर्तमान में अधिकतर महिला/पुरुष 25 से 30 वर्ष या इससे अधिक आयु में ही विवाह करते हैं। तब तक ये नौकरी की तलाश में तथा व्यापार में ही व्यस्त रहते हैं।[16] वर वधु को इस समाज में माक्पा नामा' कहते हैं तथा विवाह को 'तेमडेल' कहते हैं। इस समाज में दहेज प्रथा नहीं पाई जाती है अतः महिलाओं की स्थिति पर इसका भी बहुत सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। इसके विपरीत, विवाह में वधू पक्ष की अपेक्षा वर पक्ष का व्यय भार अधिक होता है क्योंकि विवाह में वधु पक्ष के घर में होने वाले खर्च का आधा हिस्सा भी वर पक्ष को ही देना पड़ता है।

इस समाज में विवाह के समय 'कारचोल' नामक एक रिवाज है जो कि विवाह में आए लोग वधु की मां को पीठिया (कुछ पैसे लिफाफे में देना) लगाते हैं। इससे भी वधू पक्ष का विवाह खर्च बहुत कम हो जाता है। साथ ही विवाह में 'खातक सेरेमनी' (छाकजोड़ा) नामक एक अन्य रिवाज भी होता है जिसमें विवाह में आए सभी लोग वर वधू को आशीर्वाद स्वरूप कुछ उपहार और पैसे भेंट करते हैं। यह उनकी भावी भविष्य के लिए आर्थिक सहयोग के समान होता है। यह 'छाकजोड़ा' एक डायरी में नोट किया जाता है ताकि भविष्य में इस डायरी की सहायता से अन्य लोगों के विवाह में भी उन्हें छाकजोंड़ा' दिया जा सके।[18] इस डायरी की सहायता से यह भी पता चल जाता है कि उनके विवाह में कौन-कौन रिश्तेदार शामिल थे अथवा नहीं। इन दोनों प्रथाओं के कारण विवाह में वर और वधु पक्ष का खर्च बहुत कम हो जाता है। भविष्य में यह भेंट और उपहार इनको भी अन्य लोगों को उसी प्रकार देना पड़ता है जैसे उनके विवाह में उन्हें मिला था। विवाह की इन प्रथाओं के कारण इस समाज में महिला एवं पुरुष में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता। विवाह के इन प्रथाओं के कारण इस समाज में महिला एवं पुरुष में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता। क्योंकि अधिकतर देखा जाता है कि अन्य समाज में दहेज प्रथा के कारण ही लड़कियों के साथ समानता का व्यवहार नहीं हो पाता और उनके माता-पिता को हमेशा उसकी शादी में होने वाले खर्च तथा दहेज की चिंता ही लगी रहती है।[20] इस समाज के द्वारा स्थापित इन रीति-रिवाजों ने इनकी महिलाओं में स्वतंत्रता और समानता की भावना का विकास किया है। इस समाज में हिंदू समाज की ही तरह विवाह को एक पवित्र और अटूट रिश्ता माना जाता है।[21]

कहीं-कही इस समाज में पति या पत्नी की मृत्यु हो जाने पर या तलाक की स्थिति में दूसरे विवाह का प्रचलन भी देखने को मिलता है। विवाह के अलावा इस समाज में विवाह विच्छेद में भी महिलाओं को समान अधिकार प्राप्त हैं। महिलाओं की अनुमति के बिना विवाह विच्छेद नहीं किया जा सकता। पूर्व में इस समाज में विवाह विच्छेद करने पर विवाह विच्छेद करने वाले पक्ष (स्त्री/पुरूष) पर समाज के पंचायत के द्वारा आर्थिक दंड भी लगाया जाता था। वर्तमान समय में विवाह विच्छेद के लिए अदालत का भी सहारा लिया जाता है। विवाह विच्छेद के बाद महिलाओं को पुनर्विवाह करने अथवा बिना विवाह के जीवन व्यतीत करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।[22] विवाह विच्छेद इस समाज में मुश्किल से ही देखने को मिलता है परंतु इसमें भी महिलाओं का निर्णय अंतिम होता है। महिला चाहे तो कानूनी कार्यवाही करके तलाक ले सकती है या फिर आपस की सहमति से विवाह विच्छेद कर सकती हैं। इससे उनके सम्मान तथा मान मर्यादा पर किसी प्रकार का कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ता है। वह पहले की तरह ही एक सामान्य जीवन व्यतीत कर सकती हैं।[23] इस समाज में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं है फिर भी बहुएं परिवार के बड़े बुजुर्गों के सामने खाली सिर (सर को बिना ढककर) नहीं जाती हैं। इस समाज में बहुपत्नी तथा बहुपति प्रथा का प्रचलन भी नहीं पाया जाता है।[24]

परिवार में किसी की मृत्यु हो जाने पर महिलाएँ अन्तिम संस्कार में शामिल होने के लिये श्मशान घाट नहीं जाती हैं। वह घर पर रहकर ही मृत व्यक्ति की आत्मा की शान्ति के लिये पूजा-पाठ करती हैं। महिलाओं को उनके मायके जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। वह कभी भी अपने मायके आ जा सकती है। महिलाओं को मासिक चक्र के समय पूजा अर्चना करना वर्जित है बाकी अन्य कार्य वह प्रतिदिन के अनुसार ही करती हैं। विवाह के उपरांत परिवार नियोजन में भी महिलाओं की सहमति

अवश्य ली जाती है। बच्चा जन्म न दे पाने की स्थिति में गोद लेने की प्रथा भी इस समाज में देखी जा सकती है। वर्तमान में ऐसे बहुत परिवार है जिन्होंने किसी अनाथ बच्चे को अपनाकर अपने परिवार में शामिल किया तथा अब उसका लालन-पालन कर रहे हैं।[25]

राजनीति के क्षेत्र में बात की जाए तो यह समाज पूर्व से ही एक व्यापारी समाज रहा है। पूर्व में इस समाज का राजनीति से कोई लगाव न था तथा न ही इनके पास राजनीति के लिए पर्याप्त समय ही उपलब्ध था। यह अपना जीवन यायावरी में ही व्यतीत करते थे। शिक्षा भी इन्हें मुश्किल से मिल पाती थी। वर्तमान समय में सरकार की योजनाओं के कारण इस समाज की बहुत सी महिलाएं अपने-अपने ग्राम सभा के प्रधान पद पर आसीन हैं।[26] यह महिलाएं सरकार की योजनाओं के कारण आज राजनीति में कम ही सही पर सक्रिय भूमिका में है। सरकारी नौकरियों में बने संगठनों में भी इस समाज की कुछ महिलाएं सक्रिय भूमिका निभा रही हैं। उत्तराखण्ड खम्पा जनजाति संगठन में भी कुछ महिला सदस्य कार्यरत हैं जो अपने समाज की मांगो को उठाने में सदा तत्पर रहती हैं।[27]

धार्मिक रूप से इस समाज की महिलाएं पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। फिर चाहे धार्मिक अनुष्ठानों में प्रतिभाग लेना हो अथवा त्यौहार में प्रतिभाग करना। किसी भी प्रकार का कोई सामाजिक नियंत्रण इन महिलाओं पर नहीं है। मंदिरों में जाना, गुरुद्वारे में जाना, चर्च में जाना, यह समाज इन पर किसी भी प्रकार की मनाही नहीं करता। अपने त्यौहार 'लोसर' (नया साल) में महिलाएं अपने घरों को सजाती हैं। स्वादिष्ट पकवान आदि बनाकर सर्वप्रथम उसे पूजा घर में सजाती हैं। इसके उपरांत घर के अन्य सदस्यों को यह पकवान खिलाया जाते है। यह त्यौहार उनके लिए साल भर में आने वाला एकमात्र त्यौहार है जिसमें घर के सभी सदस्य एक साथ मिलकर खूब मौज मस्ती तथा आनंद उठाते हैं।[28]

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि उत्तराखण्ड के भोटिया समाज की महिलाओं विशेषकर खम्पा समाज की महिलाओं के सामाजिक जीवन का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि अन्य समाजों की तुलना में खम्पा समाज की महिलाओं की सामाजिक स्थिति अच्छी है। यह समाज महिलाओं को पुरुषों के समान ही अधिकार देता है। प्रायः यह विदित है कि यदि घर में महिला खुश एवं सुखी है तो पूरे परिवार को खुश एवं सुखी होने से कोई भी नहीं रोक सकता है।

संदर्भ

1. मनुस्मृतिः अध्याय तीन, श्लोक 56
2. संयुक्त निकायः 3/2/6
3. ऋग्वेद : आठवां मण्डल, 81 भाग, श्लोक 513
4. साक्षात्कार, खम्पा शशि, उम्र 45 वर्ष, सहायक अध्यापक, काटली ताकुला, अल्मोड़ा, दिनांक, 12-3-2017
5. साक्षात्कार श्रीमती बसन्ती खम्पा, उम्र 75 वर्ष, वरिष्ठ नागरिक, खम्पा समुदाय हल्द्वानी
6. साक्षात्कार, दरियाल गोपाल सिंह, उम्र 85 वर्ष, पूर्व शिक्षक, दारमा बिदांग, धारचूला, पिथौरागढ़, दिनांक, 2-3-2017
7. साक्षात्कार, खिमाल हिम्मत सिंह, उम्र 55 वर्ष, प्रधान, बिदांग खम्पा, दिनांक 2-3-2017
8. साक्षात्कार, बसन्ती खम्पा उपरोक्त
9. वही
10. साक्षात्कार, गर्ब्याल, अनीता, उम्र 48, धारचूला पिथौरागढ़ दिनांक, 4-4-2017
11. साक्षात्कार, खम्पा दीक्षित, सहायक प्राध्यापक, एल. एस. एम.पी.जी. कालेज, पिथौरागढ़, दिनांक 12-10-2021
12. वही
13. www.socialwalfare.uk.gov.in (जनगणना 2011 के आंकड़े)
14. साक्षात्कार, शशि खम्पा उपरोक्त
15. साक्षात्कार, खम्पा जानकी, उम्र 55 वर्ष, पूर्व ग्राम प्रधान चंडाक, पिथौराढ़ दिनांक 2-2-2021
16. खम्पा बसन्ती उपरोक्त
17. साक्षात्कार, खम्पा पान सिंह, उम्र 55 वर्ष, डोलमा होटल, कसार देवी अल्मोड़ा, दिनांक, 12-6-2022
18. वही
19. वही
20. खम्पा दीक्षा : उपरोक्त
21. खम्पा शशि : उपरोक्त
22. वही
23. खम्पा बसन्ती : उपरोक्त
24. वही
25. साक्षात्कार : खम्पा माया, उम्र 55, बेरीनाग पिथौरागढ़ दिनांक 6-8-2018
26. पांगती एस. एस., मध्य हिमालय की भोटिया जनजाति, 1982, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
27. खम्पा शशि : उपरोक्त
28. खम्पा बसन्ती : उपरोक्त

डॉ. शिवानी रावत
सहायक प्राध्यापक,
इतिहास विभाग, डी.एस.बी. परिसर
कु.वि.वि. नैनीताल, उत्तराखण्ड

अजय सिंह खम्पा
शोध छात्र, इतिहास विभाग
डी.एस.बी. परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल
उत्तराखण्ड

स्वतन्त्रता आन्दोलन एवं संस्कृत साहित्य

—डॉ. जेबा खान

इस धरा पर अवतरित प्रत्येक मानव का जन्मभूमि से प्रेम अवश्यमभावी है। अथर्ववेदीय पृथिवी सूक्त में भी आर्यों का स्वदेशानुराग गुंजित हो रहा है– *''यत्ते मध्ये पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः। तासु नो धेह्यभिः नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः॥''*[1] अर्थात्, हे मातृभूमि! तेरे अन्दर और ऊपर जो-जो पदार्थ हैं, उन सबकी तथा तेरी, शत्रुओं के हाथ से रक्षा करने के लिए जो विद्वान, बलवान और धनवान् मानव एकत्र होकर प्रयास करते हैं, उनके उस संघ से हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि तू हमारी माता तथा हम तेरे पुत्र दुःख से छुड़ाने वाले हैं।

राष्ट्र की अभ्युन्नति तथा विश्व के समस्त प्राणियों के सर्वविध कल्याण की कामना भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता रही है। स्वतन्त्रता संग्राम में संस्कृत के महनीय विद्वानों एवं संस्कृत साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ी भारत माता को देखकर संस्कृत साहित्यकारों का क्षुब्ध होना तथा उसकी मुक्ति के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देना स्वाभाविक ही था। 15 वर्ष की स्वल्प आयु में संस्कृत के परम तेजस्वी विद्वान् चन्द्रशेखर आजाद ने अपना सर्वस्व भारत माता को समर्पित करने का दृढ़ संकल्प लिया। उनकी स्वतन्त्रता आन्दोलन में भूमिका इतिहास प्रसिद्ध है। स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वाले संस्कृत विद्वानों को प्रताड़ित किया गया। अंग्रेजों का अत्याचार इतना बढ़ गया कि उन्होंने संस्कृत चन्द्रिका सुनृतवादिनी तथा ज्योतिषमती जैसी पत्रिकाओं को बन्द करा दिया किन्तु- ''कार्यं वा साधेयं देहं वा पातेयं'' का सिद्धान्त लेकर वह उत्पीड़न से भयभीत नहीं हुए। बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय ने वंदे मातरम् जैसा महनीय गीत लिखा जो कालान्तर में उनके आनन्द मठ में सम्मिलित हुआ।

भारत का राष्ट्रगीत स्वतन्त्रता संग्राम के काल में क्रान्तिकारियों का प्रेरणास्रोत बना। स्वतन्त्रता आन्दोलन भारतीय इतिहास का वह युग है जो पीड़ा, आत्मसम्मान, गौरव तथा सर्वाधिक शहीदों के रक्त समेटे है। स्वतन्त्रता के इस महायज्ञ में समाज के प्रत्येक वर्ग ने अपने-अपने तरीके से बलिदान दिए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्य से साहित्यकार और लेखकों ने अपना पूर्ण सहयोग दिया साथ ही अंग्रेजों को भगाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। रामनाथ तर्करत्न ने अपने काव्य में लिखा है कि पराधीनता व्यक्ति की वीरता को नष्ट कर देती है। दासता व्यक्ति के लिए एक अभिशाप है– *हिनस्ति शौर्यं सुरुचिं रुणद्धि भिनत्ति चित्तं विवृणोति वित्तम् । पनष्टिं नीतिंच युनक्ति दास्यं हा पारतन्त्र्यं निरयं व्यनक्ति॥*[2]

कवि पुनः लिखता है कि पराधीनता से अच्छा है, मृत्यु हो जाए–*असुव्यपायेष्वपि नो जहीमः*
स्वतन्त्रतामन्त्रमतन्द्रिणोऽद्य। उपागतायां परतन्त्रतायां
यशोधनानां शरणं हि मृत्युः ॥[3]

पण्डिता क्षमाराव ने राष्ट्रभक्तिपरक तीन रचनाएं लिखीं। सत्याग्रह गीता, उत्तरसत्याग्रह गीता और स्वराज्यविजयः। सत्याग्रह गीता में उन्होंने 1931-1944 तक की घटनाओं का वर्णन किया है। कवयित्री लिखती हैं–*'तथापि देशभक्तऽ्याहं जाताऽस्मि विवशीकृता। अतएवास्मि तद्मातुमुद्यता मन्दधीरपि ॥*[4] अन्य भी द्रष्टव्य है–*कुर्वन्तो नित्यमेव हि स्वातन्त्र्यं प्राप्स्यथाचिरात्। स्वातन्त्र्यादपि भूतानां प्रियमन्यन्न विद्यते ॥*[5]

हरिप्रसाद द्विवेदी शास्त्री अपनी कविता में कहते हैं कि यह जो गंगा की लहरें कल कल से यह उपदेश देती हैं कि मनुष्य को भी जाति, धर्म से ऊपर पर उठकर सोचना चाहिए तभी राष्ट्र की उन्नति होगी–*त्रिधाराणां यस्मिन् पृथगभुवा संगमवरः स्वरूपाद् भिन्नानां दिशति लहरीणां कलकलैः। गुणैर्जात्या रूपैरिहं जगति भिन्नैरपि जने र्मिथः संगन्तव्यं सुमतिसुखसिद्धौ सहृदयैः ॥*[6] अप्पा शास्त्री राशि वडेकर ने अंग्रेजी शासन का प्रखर विरोध किया। उन्होंने पञ्जरबद्धः शुकः जैसी कविता लिखी। *'शुक सुवर्णमयस्तव पञ्जरो न खलु पञ्जर एव विभाव्यताम्। मुखमिदं ननु हेमशालाकिका रदनशान्ति मृतरतिभीषणम् ॥*[7] अर्थात, हे शुक। इस सोने के पिंजरे को पिंजरा मत समझ, इस पिंजरे में जो सलाखें लगी हैं, वह मृत्यु का मुख हैं। श्रीधर भास्कर वर्णेकर प्रणीत विभूतिवन्दनास्तोत्रम् में अखण्ड भारत की चेतनाचेतन विभूतियों के हृदयवर्जक वर्णनों का स्पर्श पाकर राष्ट्रीयता की मन्दाकिनी भारतीयों की स्वदेशानुरागात्मक भावनाओं को उद्दीप्त करती है ।[8]

श्रीधर भास्कर वर्णेकर द्वारा प्रणीत स्वातन्त्र्यवीरशतकम् में वीर सावरकर द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष का वर्णन किया गया है। उसमे कहा गया है कि हनुमान ने सागर का उल्लंघन किया तो उसमे कोई बडी बात नहीं क्योंकि वह, तो मारूत पुत्र हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक असहाय पुत्र ने अपने बल से समुद्र का उल्लंघन किया है।[9] भारतशतकम् नामक शतककाव्य के लेखक श्री राम कैलाश पाण्डेय हैं। इसमें कवि ने राष्ट्र गौरव की अभिव्यक्ति की है। सैनिकों के उत्साहवर्धन के लिए यह काव्य लिखा गया । सैनिकों का उत्साहवर्धन करने के उद्देश्य से कवि अर्जुन की याद दिलाता है। भारत के प्राचीन गौरव के माध्यम से कवि ने सुप्त भारतवासियों को जागृत करने का प्रयास किया है। भारत के ऐश्वर्य के प्रति ईर्ष्यावान विदेशियों के समूह ने भारत की सम्पत्ति, नीति और संस्कृति की जो हानि पहुंचायी उनका उल्लेख कर कवि देशवासियों के मन ऐसा अदम्य उत्साह भरने का प्रयास करता है, जिसमें भारत पुनः शत्रुओं के हाथों पराजित न हो। वैदिक धर्म के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए उसकी रक्षा की प्रेरणा देता है। काव्य के प्रत्येक श्लोक से देशभक्तिभाव की मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है।[10]

श्री महादेव शास्त्री रचित भारतशतकम् में राष्ट्रीय भावना की परम पावन भन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है। भारत का महनीय वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए कवि पाठकों के राष्ट्र प्रेम की दृढ़ करता है। देश के अतीत का गौरव गान भी पाठकों को राष्ट्र के प्रति श्रद्धावान बनाता है। ''भाति में भारतम्" डॉ. रमाकान्त शुक्ल प्रणीत राष्ट्रीय भावनापरक शतककाव्य है भारत की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कवि भारतीयों के मन में राष्ट्रीय चेतना का आधान करता है। डॉ. सत्यव्रत शास्त्री ने इन्दिरागाँधीचरितामृतम् महाकाव्य लिखा। 25 सर्गों के इस महाकाव्य में नेहरू वंश की कीर्ति रघुवंश के राजाओं के समान वर्णित है। स्वतन्त्रता आन्दोलन में नेहरू परिवार द्वारा किए गए क्रिया-कलापों का इसमें वर्णन है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी और उनकी माता कमला नेहरू के कार्यों का वर्णन है। दर्शनीय तथ्य यह है कि इन्दिरा के जीवन चरित्र के दायरे में इस महाकाव्य के माध्यम से एक सुनहरे भारत की कामना प्रखर हो उठी है। यह भारत देश समृद्ध बने जिसमें न कोई दीन हो और न दरिद्र। कष्ट और व्याधियों से यह देश मुक्त रहे। वैर-वैमनस्य और विवादों का शमन हो और भारत नन्दन वन के समान सुशोभित हो–*देशो मदीयः सुतरां समृद्धो भवेदितीच्छा परमा मदीया। न कोऽपि दीनो न च वा दरिद्रो न व्याधितो वा न पीडितः स्यात् ॥*[11]

आचार्य दीपंकर ने संस्कृत भाषा में अत्यन्त मर्मस्पर्शी संवेदनशील इन्दिरा काव्य लिखा? लेखक स्वतन्त्रता आन्दोलन में इन्दिरा गाँधी के योगदान की चर्चा कर रहा है। उन्हें दलितों का करूणा सागर बताता है। मगर हा धिक्। क्रूर काल का ऐसा विधान कहाँ गई वह मुक्ति संग्राम की पुत्री ?*''सुता मुक्तिक्रांतेर्मधुर जननी भारतभुवः सुपुंसां धन्यानां सरलभगिनी स्नेहपुलिना। निनादा संग्रामे दलित करुणा सागर इव अभाग्यः स्मारं तां क्षयति न कविर्जीवति न च''* ॥ प्रियदर्शिनीयम् के कीर्तिखण्ड में कहा गया है–*सितवपुष्मतां नाशहेतवे, रिपुरहस्यभिन्नाम् वानरी । शिशुजनैयुता धर्षिणीचमूः वयसि नूतने निर्मिता त्वया ॥*[12]

एक अन्य पद्य दृष्टव्य है– *सितशरीरिणां द्रोहकारणात्, मुहुरयादियं कृष्णमन्दिरे । विचलिता नु क्रान्ति भास्वती,*

स्थिरता धृति भंति तेहि सा ॥[13] अर्थात, अंग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलनों के आयोजनों से अंग्रेजों ने द्रोहवश बार-बार इन्दिरा गाँधी को बार-बार कारागार में डाला किन्तु क्रान्ति से देदीप्यमान वह जरा भी विचलित नहीं हुई। ऊर्जा समन्वित पुरुष ही नहीं अपितु नारियों ने स्वतन्त्रता संग्राम में अपने अदम्य साहस का परिचय दिया। कवि ने काव्य में इन्दिरा गाँधी के प्रखर तेज के माध्यम से देश प्रेम को भी अभिव्यक्त किया है।

महर्षि अरविन्द ने संस्कृत के माध्यम से स्वतन्त्रता संग्राम की अगुवाई की। उन्होंने 'अभिनव भारती' नामक अन्य का प्रणयन किया। उनकी जीवन गाथा भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम, भारतीय चेतना दर्शन एवं अध्यात्म का एक अभिनव उन्मेष है। उन्हें हम क्रांति के साथ शांति का प्रवर्तक भी कह सकते हैं। श्रीधर भास्कर वर्णेकर प्रणीत 'जवाहर तरंगिणी' नामक शतककाव्य में पं जवाहर लाल नेहरू के प्रशंसनीय कार्यों का वर्णन बड़े ही प्रभावशाली ढंग से किया गया है। श्री वर्णेकर ने पण्डित नेहरू के देश के प्रति किए गए महनीय कार्यों से प्रभावित होकर उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया है। उन्होंने 'तवाकृतिर्निश्चल-देशभक्ति' कहकर उनके समस्त जीवन की भी निश्चल देशमित का निदर्शन स्वीकार किया है।[14]

बद्रीनाथ झा द्वारा रचित 'शोक श्लोकशतकम्' में कवि ने उनके देहावसान पर शोक प्रकट करते हुए राष्ट्रपिता के गुणों की चर्चा की है जो पाठक को उस महान विभूति के माध्यम से राष्ट्र के साथ जोड़ देती है।[15] रामानन्द सम्प्रदाय के महान संत वैष्णवाचार्य स्वामी भगवदाचार्य की काव्य श्रृंखला स्वतन्त्रता आन्दोलन में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। वे स्वतन्त्रता संग्राम के पूर्णतया समर्थक थे। इनके द्वारा रचित 'काव्यत्रय' संस्कृत साहित्य में महत्वपूर्ण है भगवदाचार्य ने पारिजातापहारम् मे भारत छोड़ो आन्दोलन का इतिहास वर्णित किया है। स्वतन्त्रता की भावना से ओतप्रोत काव्य जैसे अन्य भाषाओं में लिखे गए उसी तरह संस्कृत भाषा के साहित्य में भी इन भावना के स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं। अंग्रेजों के शासन में भारतीयों ने जिस प्रकार के पारतंत्र्य का अनुभव किया, संस्कृत साहित्यकारों की रचनाओं में भी वैसा ही निदर्शन प्राप्त होता है। पारतंत्र्य के विरोध और स्वातंत्र्य के पक्ष में संस्कृतज्ञों ने अपनी लेखनी के माध्यम से स्वतन्त्रता आन्दोलन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

संस्कृत कवियों की सूक्ष्म दृष्टि स्वाधीनता के समर के साथ चल रही थी। संस्कृत कवियों ने महारानी लक्ष्मी बाई, सुभाष चन्द्र बोस, महात्मा गाँधी, आदि स्वातन्त्र्य वीरों के चरित वर्णन करके ऊर्जा भरी। स्वातन्त्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर ने स्वातन्त्र्य संघर्ष को प्रेरित करने के लिए 'काला पाणी' शीर्षक से एक उपन्यास लिखा। सावरकर ने स्वतंत्रता को देवी के रूप में सम्बोधित कर एक गीत लिखा जिसकी प्रथम पंक्ति सावरकर ने संस्कृत में ही लिखी–*सन्ति स्वतन्त्रते भगवति ! त्वामहं यशोयुतां वन्दे। जयोऽस्तु ते श्रीमहन्मंगले शिवास्पदे शुभदे ॥*

इस प्रकार स्वतन्त्रता आन्दोलन में संस्कृत की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 15 अगस्त, 1947 में देश की स्वतन्त्रता पर जो उल्लास छाया, उसका भी विस्तार संस्कृत के विद्वानों द्वारा किया गया। प्रकाशित होने वाले सभी संस्कृत पत्रों में स्वातन्त्र्य का हार्दिक अभिनन्दन हुआ। स्वतन्त्रता संग्राम में संस्कृत के महनीय विद्वानों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. शास्त्री सत्यवीर (संपादक, अथर्ववेद), डी. पी. बी. पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2022, पृ. 544
2. आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, सम्पादक, डॉ. जगन्नाथ पाठक, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण, 2000 ई., पृ. 23
3. वही, पृ. 23
4. वही, पृ. 32
5. वही, पृ. 33
6. वही, पृ. 105
7. वही, पृ. 278
8. विभुतिवन्दनास्तोत्रम् , डॉ. श्रीधर भास्करवर्णेकर, मन्दोर्मिमाला काव्य संग्रह में प्रकाशित
9. स्वातन्त्र्यवीरशतकम, डॉ. श्रीधर भास्करवर्णेकर
10. श्री रामकैलाश पाण्डेय, भारतशतकम्
11. शास्त्री, डॉ. सत्यव्रत, इन्दिरा गाँधीचरितामृतम्।
12. सेमवाल कविरत्न श्री कृष्ण, प्रियदर्शिनीयम (कीर्तिखण्ड), दिल्ली संस्कृत अकादमी, पृ. 07
13. वही, पृ. 09
14. वर्णेकर, डॉ. श्रीधर भास्कर, जवाहरतरंगिणी।
15. झाँ बद्रीनाथ, शोकश्लोकशतकम् ।

डॉ. जेबा खान

असिस्टेंट प्रोफेसर (संस्कृत), फ. अ. अ. राजकीय स्ना. महा.

महमूदाबाद, सीतापुर (उ.प्र.)

गुलशेर खाँ शानी का परिवेश और रचना धर्मिता : एक अवलोकन

–विप्लव गौतम
–डा. अखिलेन्द्र प्रताप सिंह

हिन्दी कथा जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले हिन्दू मुस्लिम संस्कृति को एकसूत्र में बांधने वाले अदिवासी क्षेत्र एवं मुस्लिम समाज को अभिव्यक्ति का प्रमुख आधार बनाने वाले गुलशेर खाँ शानी का समकालीन कथाकारों में प्रमुख स्थान है। गुलशेर खाँ शानी समाज में फैली कुरीतियों विसंगतियों को लेखनी का आधार बनाते हैं। शानी अपने लेखन के माध्यम से हिन्दू मुस्लिम समाज में व्याप्त कुसंस्कारों को रेखांकित करते हैं। शानी जी के साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे मुस्लिम समाज में किसी भी धार्मिक कट्टरता के विरोधी थे। शानी का पूरा नाम गुलशेर खाँ शानी था शानी जी का जन्म मध्य प्रदेश वर्तमान में छत्तीसगढ़ के बस्तर जिले में आदिवासी क्षेत्र जगदलपुर में 16 मई, 1933 को हुआ। शानी के पिता का नाम गुलमीर खाँ था जिन्हें वह बाबा कहकर बुलाते थे तथा माता का नाम रमजान बी था। शानी जी का विवाह सलमा से 1957 में हुआ। शानी और सलमा से फिरोज नामक पुत्र तथा सूफिया नामक पुत्री प्राप्त हुई। सूफिया का विवाह परवेज के साथ हुआ था। शानी के पिता मालगुजारी का काम करते थे। इनकी दादी हिन्दू थीं जो नित्य पूजा पाठ करती थीं। घर के सेहन में तुलसी चौरा था जिस पर वह रोज जल चढ़ाती थीं। शानी को घर में लोग प्यार से गुल्लू बुलाते थे। शानी का बचपन बहुत ही अभावों में व्यतीत हुआ। इनकी दादी के स्वर्गवास हो जाने पर इनके दादा जी उच्छश्रृंखल हो गये थे और अपनी सम्पूर्ण जायदाद लुटा बैठे। फिर गरीबी का ऐसा दौर आया की शानी का जीवन तितर-बितर हो गया। शानी जी की प्रारम्भिक शिक्षा बस्तर में हुयी। शानी स्वभाव से कोमल किन्तु प्रतिभा के धनी मेधावी विद्यार्थी के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान बना ली। एक दिन उनके स्कूल में कलेक्टर इन्सपेक्शन के लिये आये थे। उन्होंने बारी-बारी से सब बच्चों से पूछा कि वे बड़े होकर क्या बनना चाहेंगे। किसी ने कहा डॉक्टर, किसी ने इंजीनियर जब उनकी बारी आयी तो उनकी समझ मे नहीं आया कि वे क्या कहें। उन्हें तो मालुम भी नहीं था कि उन्हें क्या बनना हैं। उनके मास्टर जनाब भिखारी राम ने आँखें दिखाकर उनसे पूछा कि गुलशेर बताते क्यों नहीं क्या बनोगे? वे फिर भी

चुप रहे। कमरे में काना फूसी होने लगी। इसी बीच कलेक्टर ने हंसते हुए कहा कि भाई देखो हमारे बीच ऐसा लड़का है जिसे यह नहीं मालूम की वह क्या बनना चाहता है। सारी क्लास मिलकर ठहाका लगा के हंसने लगी। वे रोने लगे। वो ठहाका क्लास की दीवारों से टकराकर खौलते सीसे की तरह उनके कलेजे में उतर गया। उन्होंने भीतर-भीतर ही कलेक्टर के बच्चे से कहा कि बेटा मैं वो बनूंगा जो तेरा बाप भी नहीं बन सकता! क्या गुस्से ने सानी को लेखक बना दिया शायद हाँ।

शानी ने केवल बी. एड. तक की पढ़ाई की। आगे पढ़ाई न कर पाना उन्हें जीवन भर सताता रहा। लेकिन चाहकर भी वे आगे कि पढ़ाई नहीं कर पाये क्योंकि गरीबी का कहर उनके परिवार पर टूट पड़ा था। आगे की शिक्षा प्राप्त करने के लिये उन्हें रायपुर जाना पड़ता जो उनके पैतृक गाँव से बहुत दूर था। फलतः शानी का ध्यान रोजगार की तरफ जाने लगा जिससे उनकी जीविका चल सके। शानी ने स्कूल जीवन से ही हिन्दी के बड़े लेखकों के अध्ययन की जिज्ञासा थी। ये प्रेमचन्द, यशपाल, जैनेन्द्र, अमृतलाल नागर, फणीश्वर नाथ रेणु, अज्ञेय का अध्ययन किये शानी उपेन्द्रनाथ अश्क से सर्वाधिक प्रभावित थे। अश्क का उपन्यास 'गिरती दिवारें' और 'गर्मराख' इन्हें बड़े ही प्रिय उपन्यास लगते थे। हिन्दी के मुख्य केन्द्र से दूर जगदलपुर जैसे छोटे से क्षेत्र में उनके लेखक होने की संघर्षगाथा एक मिशाल के रूप में पेश होती हैं। शानी व्यावसायिक जीवन का आरम्भ मध्य प्रदेश सूचना एवं प्रकाशक संचालनालय की एक मामूली नौकरी से अपने जीवन का आरम्भ किया। इस नौकरी में उन्हें जगदलपुर से ग्वालियर फिर भोपाल के लिए तबादला होता रहा। मध्य प्रदेश में साहित्य परिषद के सचिव के रूप में 1972 में नियुक्त हुये।

शानी अपनी लेखनी का सफर जगदलपुर से आरम्भ कर ग्वालियर फिर भोपाल और दिल्ली तक तय किया। उन्होंने एक समाज विज्ञानी के आदिवासियों पर किए जा रहे शोध पर पूरा सहयोग किया था। उनका शोध पूरा करवाने के लिए बस्तर के अन्दरूनी इलाके के जाँच-पड़ताल करते रहे। शानी जी एक ऐसे कथा लेखक हैं जो वर्तमान समय में घट रही घटनाओं का एक खाका तैयार करते हैं। उनका लेखन समाज से सम्वेदना के धरातल पर सीधे रूप में जुड़ता है। शानी जी हमारे आस-पास के लेखक हैं। वह उच्च कोटि के लेखक कथाकर और उपन्यासकार हैं। उन्होंने लिखा है—अपनी कच्ची जहनियत और अपरिपक्वता के कारण अज्ञेय, जैनेन्द्र या यशपाल तो मेरी समझ से बाहर थे या फिर अश्क के सतही विवरणात्मक वाले कलाहीन और स्कीन डीप उपन्यास मेरी तत्कालीन मानसिकता और सूझ-बूझ के निकट पड़ते थे।

शानी जी की बी. एड. की पढ़ाई के उपरान्त आगे और पढ़ने की इच्छा बनी रही। उन्होंने कक्षा-आठ से ही कहानियाँ लिखना आरम्भ कर दिया था। उनके अन्दर औरों से आगे निकलने कि होड़ लगी थी जो उन्हें योद्धा सिद्ध कर देती थी। कुछ अलग कर दिखाने की जिजीविषा उन्हें लोंगो से आगे ले जाकर खड़ा कर देती थी। साधना उनकी सबसे बड़ी ताकत बन गयी थी। लिखा चाहे उन्होंने बहुत न हो लेकिन पढ़ा भयानक था, खास कर उर्दू शायरी, रूसी क्लासिक्स और अमेरिकन नीग्रो साहित्य। उनकी याददाश्त भी गजब की थी। मीर सांस-सांस में बसे थे।

शानी की एक अज्ञात प्रेमिका होने की भी बात लोग करते हैं। वह उम्र में शानी से पाँच वर्ष बड़ी थी और शादीशुदा थी। उसका पति भी था और उसका एक बच्चा भी था। सामाजिक मान्यताओं के अनुसार यह रिश्ता वर्णित था। उसके सम्बन्धों की वैसी परिणति घोर अनैतिक थी। शानी की पत्नी सलमा बड़ी सरल सुन्दर व सहयोगी भावनाओं से ओत-प्रोत थीं। सलमा ने शानी के साथ बहुत सामंजस्यपूर्ण जीवन व्यतीत किया। शानी के जीवन को आनन्दमय बनाने में सलमा का विशेष योगदान रहता था। शानी ही उनसे प्रभावित नहीं थे बल्कि पास पड़ोस तथा शानी की मित्र मण्डली पर भी उनका प्रभाव पड़ा था। शानी की समस्त रचनाओं पर भी उनका प्रभाव पड़ा था। राजेन्द्र यादव जी ने सलमा के बारे मे अपना विचार व्यक्त किए हैं—'बात अधूरी रह जायेगी अगर हर क्षण बदलते मौसम में शांत और धीर गम्भीर धरती की तरह आश्वस्त सलमा भाभी का जिक्र ना किया जाए। न कभी बोलतीं न कभी विचलित होतीं दिन भर दो चार वाक्य बोलकर कोई कैसे रह सकता है। इससे मुझे हमेशा बेचैनी व झुंझलाहट होती थी। सब समझती और सोखती सलमा भाभी श्रद्धा और डर एक साथ पैदा करती थीं। शानी के मित्र परिचितों के बारे में उनकी रीडिंग अद्भुत थी। शानी जैसे शौकीन फ्युडल और तूफानी आदमी के साथ शांत स्थिर और सन्तुलित बने रहना मुझे चकित विस्मित ही करता था।' एक शानी के पुत्र फिरोज ने दादा-दादी के विषय में पूछा तो शानी ने निम्नलिखित शब्दों में अपना उत्तर दिया।

अगर देखा जाए तो मुसलमान साहित्यकार में हिन्दी भाषा में लिखने वाले शानी पहले मुसलमान साहित्यकार थे। अब तो शानी के बाद हिन्दी में लिखने वाले प्रतिभाशाली मुसलमान लेखकों की अच्छी खासी परम्परा बन गयी जिसमें

मेहरून्निसा परवेज, असगर वजाहत, अब्दुल विस्मिल्लाह और मंजूर एहतेशाम ने साहित्य में अपनी जगह बना ली हैं। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में शानी का महत्व और भी बढ़ जाता है। आलोचकों को यह शिकायत थी कि उन्होंने निम्न मध्यम वर्ग की राजनीतिक आकांक्षाओ की उपेक्षा की है। यह बहुत कुछ सही भी है। इसकी कमी अपने समाज के नैतिक पतन के प्रति क्षोभ और बिके हुए बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य करके पूरी कर दी। उनके लेखन में किसी प्रकार की सामाजिक या राजनीतिक प्रतिबद्धता नहीं है। इसे उन्होंने स्वीकार भी किया है। उन्होंने राजनीतिक व्यवस्था के वर्तमान चरित्र पर कुछ मार्मिक व्यंग्य किए हैं। यह शुभ संकेत है। शानी जी का सम्पूर्ण संस्कार भारतीय तथा उनका देश भक्ति से ओत प्रोत था। शानी ने 1947 और 1984 के दगों का प्रत्यक्ष दर्शन किया था, किन्तु इन मुश्किल के क्षणों में यदि कोई उन्हें मुस्लिम देशों में जाने की सलाह देता तो वह बिगड़ जाते थे और कोई भारत देश की बुराई करता तो वह आपे से बाहर हो जाते थे। अगर कोई भी नागरिक देश प्रेम की बात नहीं करता तो वे उससे नाराज भी हो जाते थे। वे समाज के सभी वर्गों के प्रति दया भाव तथा सहयोग की भावना रखते थे। वे संकीर्ण भावना का त्यागकर सम्पूर्ण देश हित की बात करना पसन्द करते थे।

शानी केवल देश प्रेमी न होकर मानवता व भाई चारे को वरीयता देने वाले व्यक्ति थे। उनका समस्त साहित्य राष्ट्रीय एकता व अर्न्तराष्ट्रीय सद्भावना से भरा पड़ा है। वे देश पर न्योछावर होने के लिए कृतबद्ध थे। वे सबसे पहले अपने देश को ही वरीयता देते हैं। वे अपने विचार हंस पत्रिका के माध्यम से हम लोगों के सामने लाये थे। हंस के दिवंगत सम्पादक राजेन्द्र यादव ने जिसे इस प्रकार व्यक्त किया था—क्या होता है पाकिस्तान, बांग्लादेश और कुवैत में हिन्दू होकर रहना। शानी हिन्दी सहित्य जगत के ऐसे लेखक हैं जो अपनी प्रतिभा योग्यता के दम पर हिन्दू और मुसलमान समाज में होने वाले कर्मकाण्डों तथा अन्य प्रकार कि रीतियों में व्याप्त कमियों को स्पष्ट करने में पीछे नहीं हटते। भक्तिकालीन सन्त कवि कबीर जी ने अपने दोहों में हिन्दू मुसलमान समाज में व्याप्त कमियों का प्रबल विरोध किया। कुछ इसी रूप में शानी जी भी इस परिपाटी को आगे बढ़ाने का कार्य करते हैं।

शानी इन्सान को प्राथमिक रूप से तवज्जो देने वाले लेखक हैं। गुलशेर खाँ शानी बहुत ही व्यवहार सुलभ व्यक्तिव के धनी थे, किन्तु कभी-कभी वह गालियों का प्रयोग भी करते थे जो साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने में लिप्त थे। नैतिकता विरोधी कार्य करने पर वह कभी-कभी अपने शब्दकोश की सुन्दरतम गालियों के साथ आदमी का सिर काटकर उसमें भूसा भर दिया करते थे। वे गलत सही की चिन्ता किये बिना अपना सिर भी कटा सकते थे और काट भी सकते थे। भोपाल और दिल्ली के अनेक दोस्तों के साथ उन्होंने ऐसा किया। इसमें एक सिर दुष्यन्त कुमार का भी था। कभी उसका सबसे प्यारा दोस्त शानी बड़े नाटकीय चरित्र वाले व्यक्ति थे। या हम कह सकते हैं पल में सोना पल में शबनम वाली कहावत उन पर चरितार्थ सिद्ध होती थी किन्तु तत्परता उनमें सदैव रहती थी। साहित्य के प्रति उनका रूझान इतना अधिक था कि उन्हें साहित्य लिखने भर से सन्तुष्टि नहीं होती थी। वरन् साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन उसमें चर्चा करना तथा उनमें भाग लेना ही उनका व्यसन था। शानी को खाना बनाने और खिलाने का शौक था। वह अपने साहित्यिक मित्रों को अपने यहाँ बुलाते थे और सब लोग एक साथ मिलकर आनन्द की अनुभूति करते थे।

संदर्भ सूची

1. शानी रचनावली—भाग 1, गुलशेर खाँ शानी, प्रकाशक शिल्पायन 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032
2. शानी रचनावली—भाग 2, गुलशेर खाँ शानी, प्रकाशक शिल्पायन 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032
3. शानी रचनावली—भाग 3, गुलशेर खाँ शानी, प्रकाशक शिल्पायन 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032।
4. शानी रचनावली—भाग 4, गुलशेर खाँ शानी, प्रकाशक शिल्पायन 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032।
5. शानी रचनावली—भाग 5, गुलशेर खाँ शानी, प्रकाशक शिल्पायन 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032
6. शानी रचनावली—भाग 6, गुलशेर खाँ शानी, प्रकाशक शिल्पायन 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

विप्लव गौतम
शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
रमाबाई पी.जी. कॉलेज, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर

डा. अखिलेन्द्र प्रताप सिंह
शोध निर्देशक, हिन्दी विभाग, रमाबाई पी.जी. कॉलेज, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर

भारत रूस के मध्य सांस्कृतिक एवं अन्य सम्बन्ध

—डा. पुष्कर पाण्डेय

भारत-रूस संबंध अत्यधिक मित्रतापूर्ण है। अनेक क्षेत्रीय एवं वैश्विक परिवर्तन के बावजूद, भारत-रूस संबंधों का आज भी कोई विकल्प नहीं है। दोनों देशों में गहरा विश्वास विद्यमान है एवं हितों में टकराव अनुपस्थित है। भारत-रूस एक-दूसरे के विश्वसनीय सहयोगी हैं। रूस में भारतीय अध्ययन की एक मजबूत परम्परा रही है। जवाहरलाल नेहरू सांस्कृतिक केन्द्र, मास्को प्रमुख रूसी संस्थानों के साथ घनिष्ठ सहयोग बनाए रखता है। प्रमुख विश्वविद्यालयों और स्कूलों सहित लगभग 20 रूसी संस्थान नियमित रूप से लगभग 1500 रूसी छात्रों को हिंदी पढ़ाते हैं। हिंदी के अलावा रूसी संस्थानों में तमिल, मराठी, गुजराती, बंगाली, उर्दू, संस्कृत और पाली जैसी भाषाएं पढ़ाई जाती हैं। भारतीय नृत्य, संगीत, योग और आयुर्वेद में रूसी लोगों की गहरी रुचि है। जेएनसीसी हर महीने लगभग 500 छात्रों के लिए योग, नृत्य, संगीत और हिंदी की कक्षाएं आयोजित करता है।

स्वतंत्रता दिवस की 75वीं वर्षगांठ को चिह्नित करने के लिए कई कार्यक्रम आयोजित किए गए हैं। आजादी का अमृत महोत्सव जिसमें 15 अगस्त, 2021 को मॉस्को में प्रतिष्ठित इवोल्यूसन टॉवर को भारतीय तिरंगे के रंगों में रोशन करना और मॉस्को में अन्य प्रतिष्ठित इमारतें शामिल हैं। राष्ट्रीय युवा दिवस और स्वामी विवेकानन्द की जयंती (12 जनवरी, 2022) के अवसर पर श्रीमती मीनाक्षी लेखी का वीडियो संदेश चलाया गया, और राजदूत ने वीसी के माध्यम से पूरे रूस के विश्वविद्यालयों के 100 से अधिक भारतीय छात्रों को संबोधित किया और जे.एन.सी.सी. ने विशेष रूप से तैयार सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। 28 जून, 2022 को आजादी का अमृत महोत्सव भारत-रूस के राजनयिक संबंधों की 75वीं वर्षगांठ के हिस्से के रूप में, जवाहरलाल नेहरू सांस्कृतिक केन्द्र, भारतीय दूतावास, मास्को ने डीपी धर हॉल में एक पुस्तक विमोचन समारोह का आयोजन किया।

31 अक्टूबर को दूतावास में सरदार वल्लभभाई पटेल की जयंती के उपलक्ष्य में राष्ट्रीय एकता दिवस मनाया गया। समारोह में एक लघु फिल्म की स्क्रीनिंग और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और देश के एकीकरण में सरदार पटेल के योगदान को प्रदर्शित करने वाली फोटो-प्रदर्शनी का प्रदर्शन शामिल था। इन बातों से स्पष्ट होता है कि भारत रूस के मध्य लम्बे समय से प्रगाढ़ सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं।[1] वर्तमान रूस का अस्तित्व पूर्व सोवियत संघ के विघटन के पश्चात आता है। शीत युद्ध की औपचारिक समाप्ति और मिखाइल गोर्बाचोव की ग्लासनोस्त एवं पेरेस्त्रोइका की नवनीतियों के तात्कालिक परिणामस्वरूप सोवियत संघ विघटित हो गया। औपचारिक उत्तराधिकारी रूस बनकर सामने आया। सोवियत संघ के इतिहास, परम्पराओं और विश्व राजनीति में परिणामों का दायित्व शीत युद्ध के पश्चात रूस पर है। भारत रूस एवं

पूर्व सोवियत संघ सम्बन्धों का प्रारम्भ स्वाधीनता से पूर्व ही हो गया था। 1917 में बोल्शेबिक क्रांति होती है और 1919 में ही महेन्द्र प्रताप सोवियत संघ की यात्रा करते हैं।

''1919ई. में महेन्द्र प्रताप के नेतृत्व में भारतीयों के पहले प्रतिनिधिमण्डल ने लेनिन के साथ मास्को में मुलाकात की। महेन्द्र प्रताप ने एक पुस्तक 'प्रेम-धर्म' लिखी थी जिसे स्वयं लेनिन ने पढ़ा था। लेनिन के साथ भारतीय क्रांतिकारियों के इस प्रतिनिधिमण्डल की मुलाकात के दो परिणाम निकले। पहला, यह कि विदेशों में रह रहे भारतीय क्रांतिकारियों का निर्णायक हिस्सा रूस की विजयी समाजवादी क्रांति और सोवियत संघ को स्वधीनता संघर्ष में अपना प्रेरणास्रोत समझने लगा और दूसरा यह कि भारतीय क्रांतिकारियों और नौजवान मुहाजिरों के एक हिस्से ने अक्टूबर, 1920 ई. में भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना की।''[1] नेहरू जी ने भी 1927 में सोवियत संघ की यात्रा की थी। सोवियत संघ की समाजवादी व्यवस्था से प्रभावित होकर ही भारत में योजना आयोग, बड़े उद्योगों, बांधों, कारखानों का निर्माण किया। पंचवर्षीय योजनाओं पर एवं जनवादी अधिवेशन में समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य भी सोवियत संघ की प्रेरणा का परिणाम रहा। भारत में स्वाधीनता के पश्चात गुटनिरपेक्ष नीति का पालन किया, किसी ब्लाक का हिस्सा बनना स्वीकार न किया। सोवियत संघ ने किसी तरह का दबाव भारत पर न दिया कि वह उसके गुट में सम्मिलित हो जाए। अमेरिका का पाकिस्तान को समर्थन, हथियारों की सप्लाई और सबसे बढ़कर निक्सन प्रशासन द्वारा चीन के साथ सम्बन्धों में नवीन आयाम देना भारत को अखरता रहा। सोवियत संघ ने ऐसा कुछ नहीं किया जिससे भारत के सुरक्षा हित प्रभावित होते हों। इससे परस्पर विश्वास की मात्रा में वृद्धि हुई। समय की कसौटी पर यह सम्बन्ध जब भी कसे गये, सदैव खरे उतरे। कश्मीर मुद्दे पर सोवियत संघ अकेला देश था जिसके वीटो प्रयोग ने सुरक्षा परिषद में पाकिस्तान की इच्छानुसार अमेरिका एवं उसके सहयोगी राष्ट्रों द्वारा लाये गये प्रस्तावों को पास न होने दिया।

भारत सोवियत संघ वर्तमान रूस सम्बन्ध बहुआयामी एवं गहन हैं। यह अंतरिक्ष ऊर्जा, शिक्षा, सुरक्षा जैसे अनगिनत क्षेत्रों तक फैले हैं। कैसी भी परिस्थितियाँ रही हों, रूस भारत सम्बन्धों में कभी गर्मजोशी का अभाव न देखा। शीतयुद्धोत्तर काल में भी जब भारत ने अमेरिका से सम्बन्ध रणनीतिक भागीदारी के स्तर तक विकसित किये तो कभी भी कोई आपत्ति न की। 1971 की भारत रूस मैत्री संधि-भारत पाकिस्तान के मध्य 1971 के युद्ध एवं अमेरिका द्वारा सातवें बेड़े को भेजे जाने से लेकर वर्तमान में यूक्रेन संकट तक परस्पर भरोसे, विश्वास एवं एक-दूसरे का सहयोग करने की भूमिका ही दृष्टिगोचर होती है।

भारत 1947 में स्वतंत्रता प्राप्त करता है। भारत एक लोकतांत्रिक देश के रूप में स्वतंत्र होता है। ब्रिटेन की संस्थाओं से प्रेरणा लेकर संसदात्मक व्यवस्था को अपनाता है। भारत का लोकतंत्र उदारवादी लोकतंत्र के रूप में स्थापित होता है। सोवियत संघ का लोकतंत्र जनवादी लोकतंत्र था। एक उदारवादी लोकतंत्र के रूप में भारत का विकास एवं ब्रिटेन की राजनीतिक संस्थाओं से अभिप्रेरणा भारत को स्वाभाविक रूप से ऐंग्लो सैक्शन देशों का मित्र बना सकती थी। भारत ने प्रारम्भ में झुकाव भी अमेरिकन नीति गठबंधन की ओर था। भारत की अपनी विकास अपेक्षाएं थीं। एक सदियों से पराधीन राष्ट्र अपने पैरों पर खड़ा होना चाहता था। उसको पूंजी, तकनीक एवं कुशल श्रम की आवश्यकता थी। भारत ने प्रारम्भ में अमेरिका की ओर सहयोग अपेक्षा में दृष्टि डाली। परन्तु भारत को वहां अमेरिका की राजनीति व वैश्विक कूटनीति अधिक प्राप्त हुई, सहायता नहीं मिली। वहीं दूसरी ओर भारत से अलग होकर स्वतंत्र हुआ पाकिस्तान हर स्तर पर रीढ़विहीन होकर अमेरिकन नीति गठबंधन के सामने नतमस्तक था। भारत का एक गौरवशाली इतिहास रहा है। भारत यद्यपि गरीबी एवं अन्य समस्याओं से ग्रस्थ था[2], परन्तु स्वयं को बड़े कैनवास पर देखने की अभिलाषा कहीं भी समाप्त नहीं हुई थी। एक स्वतंत्र विदेश नीति की अपेक्षा भारत को खुद से थी। भारत किसी भी स्तर पर बड़ी-बड़ी शक्तियों से शीत युद्ध का भागीदार नहीं होना चाहता था। भारत को यह अहसास था कि किसी के पीछे चलकर बड़ा नहीं हुआ जा सकता। पाकिस्तान से युद्ध एवं चीन के आक्रमणों ने भारत की अपनी सुरक्षा चिंताओं के प्रति सचेत किया। इन्हीं सब अपेक्षाओं से प्रेरित होकर जब नेहरू जी ने अमेरिका की यात्रा की तो लौटकर संसद में नेहरू जी ने कहा कि अमेरिका ने उन्हें बहुत सम्मान दिया। लेकिन बदले में वह कुछ चाहते थे, वह कुछ मैं उन्हें नहीं दे सकता। भारत ने जब गुटनिरपेक्षता की नीति अपनायी तो जॉन फास्टर डलसे ने उसे अनैतिक कहा। नेहरू ने याद किया, ''रसियन ने कुछ समय तक हम पर दबाव दिया लेकिन जल्द ही हमारी स्वतंत्रता से समायोजित हो गये। अमेरिका के मिस्टर डलसे और उनकी सैनिक गठबंधन के सिद्धान्त के कारण स्थितियां अधिक कठिन थीं। जब हमनें जुड़ने से मना किया तो उन्होंने पाकिस्तान को प्राप्त कर लिया, एक विकास जिसने इस महाद्वीप में तनाव एवं

समस्याएं पैदा कीं।''[3]

सोवियत संघ भारत की स्थिति व समस्याओं एवं आवश्यकताओं को समझा। विशेषकर 1953 में स्टालिन की मृत्यु के पश्चात्। भारत की गुटनिरपेक्ष विदेश नीति भारत की सामरिक एवं सुरक्षा आवश्यकताओं तथा विकास जरूरतों के प्रति सोवियत समझ में दिनों-दिन वृद्धि होती गयी। इससे भारत-सोवियत संघ सम्बन्धों में गहनता से वृद्धि हुई। पश्चिमी देशों एवं नाटो को जब भारत एवं पाकिस्तान में से एक को चुनना हुआ तो उन्होंने सदैव पाकिस्तान का साथ दिया। भारत-पाकिस्तान के मध्य कश्मीर के ज्वलंत मुद्दे पर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में पूर्व सोवियत संघ ने ही भारत का समर्थन किया। अनेकों बार यह स्थिति आयी कि सुरक्षा परिषद ने कश्मीर के मुद्दे पर पूर्व सोवियत संघ के वीटो के कारण ही अमेरिकी नीति प्रस्ताव गिरा। इसने भारतीय जनमानस में भी पूर्व सोवियत संघ के प्रति मैत्रीभाव में वृद्धि की, अमेरिका नीति गठबन्धन के प्रति रोश का भाव पैदा किया। ''नेहरू का भारत सबसे पहले संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर मुड़ा। अपने आर्थिक ढांचे के निर्माण में सहयोग के लिए, एक स्वतंत्र भारत में, लेकिन नीचे गिरा दिया गया और निराश हो गया। वह सोवियत संघ की ओर घूमा। द्विपक्षीय मित्रता की भव्य इमारत के निर्माण के सहयोग की अपेक्षा में दुखी भारत गहरे रंग की लालिमा की उम्मीद से प्रसारित हुआ जब इससे अति अधिक सहायता आसान शर्तों पर प्राप्त की जो कि पुनर्भुगतानित हो सकती थीं, सामानों के रूप वर्षों में।''[4]

भारत सोवियत संघ सम्बन्ध 1971 की मैत्री संधि से लेकर शीत-युद्ध के अन्त से पहले तक अत्यन्त घनिष्ठ रहे। शीत-युद्ध के पश्चात् सोवियत संघ के रूस बन जाने एवं बदली विश्व स्थितियों में पुनः परिभाषित भी हुए। विशेष रूप से ब्लादिमीर पुतिन के राष्ट्राध्यक्ष बन जाने बाद से। भारत रूस सहयोग सैनिक तकनीक सहकार के क्षेत्र में सामान्य क्रेता-विक्रेता रिश्तों से विकसित होकर संयुक्त अनुसंधान एवं विकास, संयुक्त उत्पादन एवं विपणन, आधुनिक प्रतिरक्षा तकनीक एवं व्यवस्थाओं तक गये हैं।''[6] इसी का फल है कि भारत ब्रह्मोस जैसी सुपरसोनिक मिसाइलों का विकास इसी संयुक्त अनुसंधान एवं विकास कार्यक्रम का फल है। इसके विक्रय से दोनों देशों को आर्थिक लाभ भी प्राप्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त पांचवी पीढ़ी के उन्नत लड़ाकू विमानों का विकास, टी-90 विमान का तकनीक हस्तांतरण द्वारा भारत ने उत्पादन बहुआयामी परिवहन विकास का विकास टी-90 हैं का उत्पादन जैसे संयुक्त उपक्रम प्रतिरक्षा क्षेत्र में चल रहे हैं। एस-900 जैसी अति आधुनिक मिसाइल रक्षा-प्रणाली का भारत द्वारा अमेरिकी विरोध एवं काटसा प्रावधानों के तहत प्रतिबंधों की धमकी को भारत द्वारा दरकिनार करने से भारत रूस पर विश्वास एवं रूस द्वारा भारत को एक प्रतिरक्षा आवश्यकताओं के प्रति समझना दर्शाता है। रूस ने भी (एस-400) एस-400 की आपूर्ति उस समय प्रारम्भ की जब भारत का चीन के साथ गालवान घाटी में विवाद चरम तीव्रता पर था। ''कुडनकुलम नाभिकीय ऊर्जा परियोजना इस क्षेत्र में जारी सहयोग का अच्छा उदाहरण है।''[7] इस नाभिकीय संयत्र में कुल चार यूनिट है जिसमें से 1 यूनिट चालू हो गयी है। यूनिट-2 अपने अंतिम निर्माण चरण में है। यूनिट-3 एवं 4 भविष्य में पूर्ण होने की सहमति प्राप्त परियोजनाएं हैं। दोनों देशों के द्वारा संयुक्त रूप से विकसित उपग्रह 'यूथसेट' को अप्रैल 2011 में भारत ने अपने पी.एस.एल.वी. राकेट द्वारा लांच किया है। भारत के चन्द्रयान-2 एवं मानव अंतरिक्ष उड़ान परियोजना में भी रूस का सहकार है।

इक्कीसवीं सदी आर्थिक सदी है और बगैर आर्थिक आधार प्राप्त किये किसी भी अन्य प्रकार के सम्बन्ध दीर्घजीवी नहीं हो सकते। रूस एवं भारत दोनों को इस बात की समझ है। ''भारत रूस अन्तर-सरकारी व्यापार, आर्थिक, वैज्ञानिक, तकनीकी एवं सांस्कृतिक सहयोग आयोग जिसके संयुक्त अध्यक्ष भारत के विदेशी मंत्री एवं रूस के कुछ पधानमंत्री मुख्य संस्थागत तंत्र हैं जो कि आर्थिक, सम्बन्धों का पर्यवेक्षण करता है।''[8] विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में भी सहयोग हेतु संस्थागत ढांचा का विकास कर लिया गया है। भारत रूस विज्ञान एवं तकनीकी केन्द्र दिल्ली एवं मास्को में स्थापित किए जा चुके हैं जो कि संयुक्त या स्वतंत्र रूप से दोनों देशों द्वारा विकसित तकनीकों एवं खोजों के स्थानान्तरण का केन्द्र है। भारत रूस के सम्बन्धों का सांस्कृतिक आधार अत्यन्त गहन है। सांस्कृतिक रूप से संस्थागत ढाँचे का जैसा विकास रूस में भारत का है वैसा किसी अन्य राज्य का देखने को नहीं मिलता। भारतीय सिनेमा के रूस में प्रदर्शनों से लेकर अन्य बहुविध आयाम दृष्टिगोचर होते हैं। इस क्षेत्र में जवाहर लाल नेहरू सांस्कृतिक केन्द्र मास्को, दर्शन संस्थान, महात्मा गांधी पीठ, प्राच्य अध्ययन संस्थान मास्को, अंतराष्ट्रीय सम्बन्ध विद्यालय, सेन्ट पीटर्सबर्ग यूनिवर्सिटी, कजाक राज्य विश्वविद्यालय, सुदूर पूर्व राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, ब्लादीबोस्तक जैसी संस्थायें अनवरत कार्य कर रही हैं। वर्ष 2008 में रूस का वर्ष भारत ने मनाया उसी प्रकार 2009 में भारत का वर्ष रूस ने मनाया। इसी तरह के अनेकानेक आयोजन दोनों के देश

सांस्कृतिक सम्बन्धों को प्रगाढ़ करने के लिए करते रहे हैं। यह क्रम अनवरत जारी है। दोनों देशों के रिश्तों को मजबूत करने के लिए भारतीय मूल के लोगों का भी महती योगदान है।

'हिन्दुस्तानी समाज' नामक संस्थान 1957 से ही इस दिशा में कार्य कर रहा है। लगभग 15000 भारतीय मूल के लोग मास्को में रहते हैं। 3000 से अधिक रजिस्टर्ड भारतीय कम्पनियां रूस में कार्यरत हैं। 4500 से अधिक छात्र मेडिकल एवं अन्य कोर्सों की पढ़ाई रूस में कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त भी इस्कान, वस्त्र व्यापार संगठन, भारतीय सांस्कृतिक समाज, गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी, बाह्यदेशा विहार एसोसिएशन, ब्रह्मकुमारी, रामकृष्ण सोसायटी, वेदांत केन्द्र जैसी संस्थायें भी भारतीयों की रूस में कार्यरत हैं। लोगों से लोगों के समापक से संगठन भारत रूस सम्बन्धों को गहराई देते हैं, उसमें स्थिरता लाते हैं। दोनों लोकतांत्रिक देश हैं। लोकतांत्रिक देश में जन समर्थन व सुदृढ़ रिश्तों के बना रहता है। भारत रूस संबंधों में बहुत अधिक संभावना है। व्यापार के क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। ''आयतन की दृष्टि से वर्तमान आंकड़े हमारे संबंधों की मजबूती या अर्थव्यवस्था की संभावना जो कि बहुत अधिक है, को व्यक्त नहीं करते। इस बात को महसूस करते हुए हमारे नेतृत्व ने 2025 तक वस्तु एवं सेवाओं के कुल व्यापार का लक्ष्य 30 बिलियन अमेरिकी डालर निर्धारित किया है।''[9] रूस उन देशों में प्रथम रहा है जो कि भारत की संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में सदस्यता के समर्थक देश हैं। रूस पूर्ण अधिकार प्राप्त सुरक्षा परिषद के सदस्य के रूप में भारत का समर्थन देने की घोषणा 2017 में ही कर चुका है एवं कई अवसरों पर इस बात को दोहराया भी है। अन्य अंतरराष्ट्रीय मुद्दों एवं समस्याओं पर दोनों देश साझे हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सीरिया से लेकर अफगानिस्तान संयुक्त राष्ट्र में दोनों देश साथ-साथ रहे। संयुक्त राष्ट्र संघ आसियान, जी-20, शंघाई सहयोग संगठन, ब्रिक्स जैसे मंचो पर दोनों सहकार रखते हैं। भारत ने रूस यूक्रेन विवाद में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के मतदान से अनुपस्थित रहकर एक तरह से रूस का समर्थन ही किया एवं वार्ता से विवाद समाधान पर बल दिया। भारत ने बिना दबाव में आए रूस से अपने व्यापारिक रिश्तों को निलंबित नहीं किया। पश्चिमी देशों एवं अमेरिकी प्रतिबंधों की परवाह नहीं की। अंत में भारत ने रूस के मिशन के उप प्रमुख के शब्दों में, जो उन्होंने रूस भारत संबंधों की 75वीं सालगिरह पर दिया, यही निष्कर्षित होता है कि ''भारत रूस संबंध ऐतिहासिक रूप से गहरे, ईमानदार, बिना किसी निहित एजेंडा के हैं। वे समय की कसौटी पर खरे हैं, बहुपक्षीय हैं और बाहरी नकारात्मक प्रभावों से प्रतिरोधित हैं। हमारे कोई दोहरे मानक नहीं हैं। हमारे संबंधों में बड़े मूल्य निहित हैं और वह विशिष्ट हैं।''[10]

निष्कर्षतः हम देखते हैं कि भारत रूस के मध्य सांस्कृतिक एवं आपसी सम्बन्ध दशकों पूर्व से रहें हैं जो कि वर्तमान में भी प्रगाढ़ हैं तथा भविष्य में भी दोनों देश एक दूसरे के पूरक के रूप में बने रहेंगे।

संदर्भ सूची

1. http://indianembassy-moscow.gov.in
2. पाण्डे, एस. के., आधुनिक भारत, प्रयाग एकेडमी, प्रयागराज
3. Dutt., V.P., India's Foreign Policy Service Independence, National Book Trust, 2007, p. 18
4. World Focus, Volume XXVIII, Nov-Dec. 2007. p. 747
5. Ibid, p. 477
6. https://meagov.in/portal/foreignrelation/russia_Dec.2012. PDF
7. Ibid
8. Ibid
9. Indianembassy-_moscow.gov.in
10. Times of India, June 12, 2022

डा. पुष्कर पाण्डेय

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग,

डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर

भारत और नेपाल : एक साझी सांस्कृतिक विरासत

–प्रो. डी. आर. यादव
–अनुराग यादव

भारत और नेपाल सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक संबंधों के मजबूत धागों से बंधे हुए हैं। नेपाल भगवान बुद्ध के जन्म स्थली की पवित्र भूमि रहा है। नेपाल, भारत के उत्तर में हिमालय की तलहटी में बसा राज्य है। यह देश भारत से सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं भाषायी रूप से अत्यधिक नजदीक है और दोनों देशों के मध्य खुली सीमाएं हैं। नेपाल की जनसंख्या लगभग 2 करोड़ 90 लाख तथा क्षेत्रफल 1 लाख 47 हजार वर्ग किलोमीटर है। इस देश की उत्तरी सीमा तिब्बत, पूर्वी सीमा सिक्किम, दक्षिणी सीमा बिहार एवं उत्तर प्रदेश द्वारा निर्धारित की जाती है। भारत और नेपाल के बीच 1,850 किलोमीटर की खुली सीमा है जहां पर लोगों और सामान की मुक्त आवाजाही होती है। नेपाल में भारतीय रुपए को वैधानिक मान्यता प्राप्त है। नेपाल का 7 प्रतिशत से अधिक सार्वभौम व्यापार भारत में केंद्रित है तथा देश का लगभग आधा प्रत्यक्ष विदेशी निवेश भारत से होता है। एक देश की घटनाएं दूसरे देश को प्रभावित करती हैं। भारतीय विदेश नीति के सामरिक व सुरक्षा हित नेपाल से सीधे जुड़े हुए हैं। दोनों ही देशों ने अपने-अपने राष्ट्रीय हितों के देशों की समानता तथा संपर्कों के आधार पर मित्रता तथा सहयोग करने की आवश्यकता को सदैव स्वीकार किया है। भारत नेपाल की संप्रभुता तथा स्वतंत्रता का पूर्ण रूप से सम्मान करता है, नेपाल भी भारत के साथ अपने सामाजिक एवं पारस्परिक संबंधों की महत्ता को पहचानता है। समुद्र से दूर एक भूखंड होने के नाते नेपाल को यह पता है कि उत्तर की सीमा अर्थात, नेपाल-चीन सीमा के रास्ते विश्व व्यापार करना संभव नहीं है परंतु बहुत कठिन अवश्य है। भारत द्वारा प्रदत्त व्यापार तथा पारगमन की सुविधाओं पर नेपाल का विश्व व्यापार तथा आर्थिक सहयोग काफी सीमा तक निर्भर करता है तथा भारत की सुरक्षा के साथ ही नेपाल की सुरक्षा से जुड़ी हुई है। विशेषकर, चीन की तिब्बत नीति को देखते हुए नेपाल भी उत्तर में चीन के खतरे को महसूस करता है।[1]

भारतीय विदेश नीति के दक्षिण एशिया में मुख्यता दो चुनौतियां, चीन और पाकिस्तान के साथ संबंधों को लेकर है और जैसे ही चीन और भारत के मध्य संबंध खराब हुए (वर्ष 1962) तो स्वाभाविक रूप से भारत की उत्तरी सीमा की रक्षा

करना अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया जिससे पाकिस्तानी सैनिकों को भारत के विरुद्ध कार्यवाही करने में ज्यादा आसानी दिखने लगी। इसी परिप्रेक्ष्य में पाकिस्तान ने वर्ष 1965 में भारत पर आक्रमण भी किया। भू-राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से दोनों देशों के मध्य संबंध अत्यंत मित्रतापूर्ण एवं परस्पर पूरक हैं लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में दोनों देशों के मध्य परस्पर अविश्वास एवं संदेह देखे जा सकते हैं।

नेपाल में वर्ष 1995 के पश्चात माओवाद का प्रभाव देखा गया जो सम्प्रति पूरे नेपाल में विद्यमान है। परिणामस्वरुप नेपाल में एक ओर राजा तो दूसरी ओर लोकतांत्रिक शक्तियां और तीसरी और माओवादी संघर्ष के मध्य संतुलन बैठाने की समस्या उत्पन्न हुई। इसी बढ़ती माओवादी हिंसा के दौरान राजा वीरेंद्र की हत्या हुई जो कि खुद उनके पुत्र द्वारा की गई। परिणामस्वरूप, नेपाल में अत्यधिक अस्थिरता का वातावरण पैदा हुआ। वर्ष 2000 में राजा ज्ञानेंद्र ने शासन संभाला परंतु स्थिरता समाप्त नहीं हुई। परिणामस्वरूप, वर्ष 2002 में नेपाल की संसद को भंग कर दिया गया और वर्ष 2005 में नेपाल में आपातकाल की घोषणा कर दी गई।[2] भारत और अंतरराष्ट्रीय दबाव के कारण नेपाल में आपातकाल अप्रैल 2006 में समाप्त कर दिया गया। एक अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना के अंतर्गत माओवादियों ने नेपाल में मुख्य राजनीतिक धारा में सम्मिलित होने का निर्णय लिया जिससे विष्णु के अवतार के रूप में माने जा रहे राजा एवं राजशाही का नेपाल में अंत हो गया।

माओवादियों तथा 7 दलों के गठबंधन के मध्य समझौते के बाद एक नवीन नेपाल का उदय हुआ। पहले नेपाल राजतंत्र व्यवस्था पर आधारित था, बाद में नेपाल में संवैधानिक राजतंत्र का उदय हुआ। वर्ष 2006 के बाद नेपाल लोकतांत्रिक, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, संप्रभु एवं गणतंत्र राज्य बन गया। इस नवीन नेपाल के निर्माण के लिए माओवादियों तथा अन्य दलों के बीच समझौता हुआ। पहली बार माओवादियों ने नेपाल की राजनीतिक व्यवस्था में भागीदारी का निर्णय किया। नेपाली राजनीतिक दलों ने माओवादियों की मांगों के अनुसार यह घोषणा की कि संविधान सभा चुनाव के बाद राजतंत्र को समाप्त कर दिया जायेगा। परिणामस्वरूप, 28 मई, 2008 को नेपाल में राजतंत्र का अंत कर दिया गया तथा नेपाल एक लोकतंत्रीय गणतंत्र बन गया।

नेपाल में पहाड़ी और तराई क्षेत्रों के मध्य क्षेत्र को ही मधेशी क्षेत्र कहा गया जो नेपाल के पहाड़ी और मैदानी भागों के बीच का भाग है। इस मधेशी क्षेत्र में नेपाल के 22 जिले सम्मिलित हैं जिनकी सीमा भारत की सीमा के साथ मिलती है। मधेशिया में भारतीय मूल के मधेशी और नेपाली मधेशी भी हैं। नेपाल की जनसंख्या के लगभग 40 प्रतिशत से अधिक हिस्सा इस भाग में निवास करता है। नेपाल के कृषि उत्पादन का 65 प्रतिशत हिस्सा नेपाल के कुल राजस्व का 76 प्रतिशत भाग इसी क्षेत्र से प्राप्त होता है। मधेशी मैथिली, भोजपुरी एवं हिंदी भाषा बोलते हैं इसलिए इनके सांस्कृतिक और वैवाहिक संबंध भारतीयों से हैं। नेपाल की आंतरिक समस्या सीधे भारत-नेपाल संबंधों को प्रभावित करती है क्योंकि नेपाली सरकार का तर्क है कि मधेशी आंदोलन भारत द्वारा समर्थित है जबकि भारत का कहना है कि नेपाल की इस समस्या से भारत प्रभावित हो रहा है क्योंकि भारत नेपाल के बीच मुक्त सीमा है जिसका फायदा उठाकर भारत विरोधी ताकतें भारत में अस्थिरता उत्पन्न करने का प्रयास करती हैं।[3]

भारत की स्वतंत्रता के बाद से ही भारत द्वारा नेपाल के आर्थिक विकास में पूर्ण सहायता प्रदान की गई तथा नेपाल की अधिकांश आधारभूत संरचनाओं का निर्माण भारत के सहयोग द्वारा किया गया और नेपाल के सैनिकों को भी भारत द्वारा प्रशिक्षण दिया गया। नेपाल की वस्तुओं को भारत में शुल्क मुक्त रूप में आयातित करने की सुविधा प्रदान की गई। भारत ने नेपाल की वस्तुओं के आयात के लिए भारतीय भू-भाग से होकर पारगमन की सुविधा भी प्रदान की क्योंकि नेपाल की वस्तुओं का आयात कोलकाता पत्तन द्वारा होता है। भारत नेपाल के मध्य व्यापार का आधार वर्ष 1996 में संपन्न व्यापार संधि है जिसे वर्ष 2009 में संशोधित किया गया। इस संधि में वरीयता, व्यापार प्रक्रियाओं का सरलीकरण, सीमा शुल्क तकनीकी के बारे में प्रावधान तथा इसमें व्यापार संबंधित समस्याओं हेतु संयुक्त कमेटी के गठन का भी प्रावधान है। भारत ने नेपाल के साथ महाकाली परियोजना के समझौते पर भी हस्ताक्षर किया जिसके अंतर्गत भारत में महाकाली नदी पर बांध बनाकर बिजली उत्पादन के लिए पैसे का निवेश किया गया। वर्तमान समय में नेपाल आर्थिक संकट से जूझ रहा है क्योंकि माओवादी संघर्ष और राजनीतिक अस्थिरता के कारण नेपाल की आर्थिक स्थिति अत्यधिक बदतर हो गई है। भारत एवं नेपाल के बीच मित्रतापूर्ण संबंधों का आधार वर्ष 1950 की संधि में विद्यमान है, जो दोनों देशों के बीच विशिष्ट संबंधों का उदाहरण है। इस संधि के अनुसार भारत एवं नेपाल के बीच लोगों के मुक्त आवागमन की सुविधा प्रदान की गई तथा नेपाल एवं भारत सुरक्षा के मुद्दे पर एक-दूसरे से सहयोग करेंगे। नेपाल

दुनिया के किसी भी देश से हथियार खरीदने से पहले भारत से परामर्श करेगा और दोनों देशों के नागरिकों को दोनों देशों भारत नेपाल में कार्य करने की अनुमति होगी। विदेश नीति के मुद्दे पर भी वे एक-दूसरे का सहयोग करेंगे।[4]

वर्तमान समय में 50 लाख नेपाली भारत में काम कर रहे हैं तथा छह लाख भारतीय नेपाल में रह रहे हैं। भारत सरकार के द्वारा भारतीय सेना से अवकाश प्राप्त एक लाख से ज्यादा गोरखा सैनिकों को पेंशन प्रदान किया जा रहा है। भारतीय सेना में गोरखा रेजीमेंट के माध्यम से नेपालियों को बेहतर रोजगार प्राप्त है। भारत की कई सेवाओं में नेपालियों को भी सेवा का अधिकार है। भारत और नेपाल के मध्य 1,850 किलोमीटर लंबी सीमा है। अतः सामान्यतः भारत और नेपाल के बीच मध्य सीमा विवाद नहीं है, केवल काला पानी क्षेत्र को अपवाद मान लिया जाए।[5] इस क्षेत्र के विवाद को शीघ्रतया हल करने की कोशिश की जा रही है और यह काला पानी का क्षेत्र भू-सामरिक रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि भारत, चीन और नेपाल तीनों की सीमा यहां मिलती है और लगभग 372 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र विवादास्पद है।[6] भारत नेपाल विवाद का मूल कारण राजनीतिक है क्योंकि नेपाली मार्क्सवादी नेता केपी शर्मा ओली ने भारत विरोधी विचारों को प्रभावी रूप से आगे बढ़ाया। भारत-चीन के बीच उत्पन्न होने वाले डोकलाम विवाद पर नेपाल ने तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया तथा काला पानी विवाद को भारत के विरुद्ध उठाने से मना कर दिया। इसी क्षेत्र से कैलाश मानसरोवर की यात्रा भी की जाती है। सीमा विवाद से जुड़ा एक अन्य पहलू सीमा के नियंत्रण से भी है क्योंकि भारत और नेपाल के बीच मुक्त सीमा है जहां सम्प्रति पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित आतंकवादी तत्वों की गतिविधियां बढ़ रही हैं। पाकिस्तान नेपाल और बांग्लादेश दोनों की भूमि को भारत के विरुद्ध छद्म युद्ध के लिए प्रयुक्त कर रहा है। भारत विश्व का चौथा सबसे बड़ा तेल आयातक देश है और 'मेक इन इंडिया' के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए भारत को विशाल ऊर्जा संसाधनों की आवश्यकता है, जबकि नेपाल जल विद्युत क्षमता से संपन्न देश है। भारत एवं नेपाल के बीच जल संसाधन क्षेत्र में सहयोग की अधिक संभावनाएं हैं। नेपाल के पास 83,000 मेगावाट विद्युत ऊर्जा क्षमता विद्यमान है तथा इस क्षेत्र में दोनों देशों के मध्य सहयोग के अनेक आधार हैं। नेपाल में महाकाली, करनाली, कासी और गंडक जैसी बड़ी नदियां हैं जिनकी जलविद्युत की क्षमता लगभग 40-43 हजार मेगावाट की है। वर्तमान समय में नेपाल केवल 600 मेगावॉट जल विद्युत का ही उत्पादन कर रहा है। इसलिए भारत और नेपाल के बीच जल विद्युत के क्षेत्र में सहयोग की असीम संभावनाएं हैं। वर्तमान समय में नेपाल भारत से बिजली का आयात कर रहा है।

महाकाली समझौता वर्ष 1996 में हुआ लेकिन वर्तमान समय में भी यह क्रियान्वित नहीं हो पा रहा है। नेपाल के द्वारा विशेषकर माओवादी इस समझौते को नेपाल के हितों के प्रतिकूल मान रहे हैं। नेपाल की मांग है कि बांध से बनने वाली बिजली का विभाजन भारत और नेपाल के बीच आधा-आधा होना चाहिए। नेपाल का यह भी तर्क है कि बिजली की कीमत नेपाल का बिजली बोर्ड तय करेगा। वर्ष 2014 में प्रधानमंत्री मोदी की पहली नेपाल यात्रा के दौरान जल विद्युत क्षेत्र में सहयोग को क्रियान्वित करने का समझौता किया गया था। वर्ष 2018 में प्रधानमंत्री मोदी की नेपाल यात्रा के दौरान अरुण-3 परियोजना की आधारशिला रखी गई। यह 300 मेगावाट क्षमता वाली जल विद्युत परियोजना है जिसका निर्माण सतलुज जल विद्युत निगम के द्वारा किया जायेगा जिससे यह प्रतीत होता है कि भारत नेपाल के आर्थिक हित एक-दूसरे के पूरक हैं।

चीन के द्वारा नेपाल तक रेल लाइन बिछाने के प्रस्ताव से चीन और नेपाल के बीच भौगोलिक दूरी को निकट बनाने में सहायता मिलेगी। नेपाल में तिब्बती शरणार्थी बड़ी मात्रा में रहते हैं और चीन इन शरणार्थियों पर नियंत्रण के लिए नेपाल के साथ मित्रतापूर्ण संबंध बनाए रखना चाहता है। नेपाल की सीमा तिब्बत से मिलती है और तिब्बत चीन के लिए लगातार सुरक्षा चुनौतियों को बढ़ाता है। नेपाल के साथ व्यापार बढ़ाना चीनी सरकार की बड़ी प्राथमिकता है। नेपाल के साथ बेहतर संबंधों के द्वारा चीन भारत पर भी दबाव बनाना चाहता है। चीन के द्वारा नेपाल को भारी आर्थिक सहायता दी जा रही है तथा नेपाल के आधारभूत संरचना के विकास में भी चीन का बड़ा योगदान है। नेपाल के समर्थन के कारण चीन को दक्षेस में पर्यवेक्षक राज्य का दर्जा दिया गया और नेपाल चीन के साथ संबंधों को बेहतर करके भारत पर अपनी निर्भरता कम करना चाहता है। पाकिस्तान के लिए नेपाल का वही महत्व है, जो भारत के लिए अफगानिस्तान का है। पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित आतंकवादी गतिविधियां नेपाल की भूमि से संचालित की जाती हैं। नेपाल के तराई क्षेत्रों में बनने वाले मदरसों के द्वारा पाकिस्तान भारत विरोधी गतिविधियों को बढ़ावा देता है। नेपाल में परंपरागत रूप से भारत विरोधी गतिविधियां चल रही है तथा पाकिस्तान इसे और बढ़ावा देता है।

भारत नेपाल के संबंध राष्ट्रीय हितों पर आधारित हैं।

नेपाल एक भूमि आबद्ध देश है जिसकी 1,850 किलोमीटर लंबी सीमा भारत के साथ साझी है। इसलिए भौगोलिक रूप में नेपाल के लिए भारत का अन्य विकल्प नहीं हो सकता तथा नेपाल का 60 प्रतिशत व्यापार भारत के साथ होता है। नेपाल के जल संसाधन का प्रयोग भारत की ऊर्जा सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण है। नेपाल में 83,000 मेगावॉट जल विद्युत उत्पादन की क्षमता है तथा नेपाल की आवश्यकता की मूलभूत वस्तुओं का निर्यात भी भारत से होता है। नेपाल के चीन की सीमा पर स्थित होने से इसका भारतीय सुरक्षा के लिए अत्यधिक महत्व है। इसलिए भारत, नेपाल में प्रत्येक दल के साथ संबंध बेहतर बनाने के लिए प्रयत्नशील है तथा भारत द्वारा नेपाल के विकास में भी योगदान करना चाहिए। वर्तमान समय में भारत नेपाल की आधारभूत संरचना स्वास्थ्य और ग्रामीण विकास में सहायता प्रदान कर रहा है। वर्तमान समय में भारत को नेपाल में संविधान निर्माण में सहायता प्रदान करनी चाहिए तथा यह सतर्कता भी बरती जाए कि भारत-नेपाल की घरेलू राजनीति में सम्मिलित न हो। नेपाल में माओवादी और गैर-माओवादियों के बीच ध्रुवीकरण बन चुका है तथा पड़ोसी देश अपनी आंतरिक समस्याओं के लिए भारत को दोषी मानते हैं। उदाहरण के लिए जब नेपाल में मधेशी मोर्चा का विभाजन हुआ तब माओवादियों ने इसके पीछे भारत का हाथ बताया। एक विशाल देश होने के कारण भारत के हित अधिक हैं। इसलिए पड़ोसी देशों के प्रतिकूल व्यवहार के बावजूद भारत पड़ोसी देशों को एकतरफा छूट प्रदान करता है। यद्यपि यह भी उल्लेखनीय है कि आतंकवाद और सुरक्षा के मुद्दे पर भारत किसी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं है।

भारत-नेपाल संबंध मूलतः सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं भाषायी दृष्टि से मित्रतापूर्ण रहे हैं, लेकिन कभी-कभी मतभेदों के शिकार भी रहे हैं। मुख्य तौर पर चीन को लेकर दोनों देशों के संबंधों में टकराव आया है लेकिन दोनों देशों की ओर से संयम बरतने से स्थिति में सुधार हो गया। नेपाल के लिए इसका भू-आबद्ध राज्य होना तथा अपनी आवश्यकताओं हेतु भारत पर निर्भर होना सबसे बड़ी मजबूरी है। दूसरी ओर भारत के लिए नेपाल सामरिक महत्व का ऐसा क्षेत्र है जो चीन और उसके बीच में मध्य राज्य की भूमिका निभा सकता है। अतः भारत नेपाल से कभी भी अमैत्रीपूर्ण संबंध नहीं रखना चाहेगा। भारत नेपाल की प्रभुसत्ता तथा अखंडता का सम्मान करता है तथा नेपाल की स्थिति तथा शक्तिशाली स्थिति भारत के राष्ट्रीय हित में है।

संदर्भ सूची

1. भारतीय विदेश नीति : भूमंडलीकरण के दौर में, राजेश मिश्रा, प्रकाशक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, संस्करण, 2019, पृ. 85
2. वही, पृ. 87
3. स्वतंत्र भारत की विदेश नीति, वी. पी. दत्त, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, 2007, छठा संस्करण, 2015, पृ. 114
4. भारत की विदेश नीति : चुनौती और रणनीति, राजीव सीकरी, प्रकाशक, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, भारत, संस्करण, 2017, पृ. 68
5. Paudyal, Gyanendra. (2013), "Border dispute between Nepal and India", Researcher, July-December, Available Online at: https://www.nepjol.info/ index.php/RESEARCHER/article/download/9884/8061, last accessed on February, 08, 2021.
6. Zehra, Ishaal, (January 04] 2020), "India and Nepal's Slow-Motion Border Dispurte", The Diplomat, Available online at :https://thediplomat.com/2020/01/ india-and-nepals-slow-motion-border-dispute/,last accessed on February, 06, 2021.

प्रो. डी. आर. यादव
अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग,
गायत्री विद्यापीठ (पी. जी.) कॉलेज, रिसिया,
बहराइच, उ.प्र.

अनुराग यादव
शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग,
डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय,
अयोध्या, फैजाबाद

भूगोल में नारीवादी चिंतन के वैदिक आयाम

–डा. रत्नेश शुक्ल
–रोहणी तिवारी

किसी सांस्कृतिक भू-दृश्य में समानता निश्चित रूप से मानव की उन सामाजिक क्रियाओं का प्रतिफल है जिन्हें सामूहिक स्मृति के अनुसार अर्थात् परम्पराओं के अनुसरण हेतु मानव संचालित करता है। सांस्कृतिक भू-दृश्य, संस्कृति, परम्परा एवं समाज जैसे त्रिकूटों का प्रतिफल है। प्रत्येक संस्कृति के मूलाधार ऐसे सामाजिक स्पेस के ढांचे का निर्माण करते हैं जिसके अन्तर्गत परम्पराओं के अनुसरण करने वाले मानव द्वारा सांस्कृतिक भू-दृश्य का विकास होता है। भारतीय संस्कृति के मूलाधार वेद भी एक ऐसे सामाजिक स्पेस की आधारशिला रखते हैं जहाँ लैंगिक समानता हो। वर्तमान परिदृश्य वेदों द्वारा निर्देशित स्वरूप से भिन्न है जिसका निश्चित रूप से एकमात्र कारण मानवीय हस्तक्षेप द्वारा वैदिक संस्कृति एवं परम्पराओं का रूपान्तरण है। यदि वेदों के आलोक में लैंगिक समानता हेतु चिन्तन किया जाए तो निश्चित रूप से एक समानतायुक्त समाज का निर्माण होगा। भूगोल में नारीवाद, समाज में उत्पन्न इस लैंगिक असमानता का विभिन्न दृष्टिकोण से वर्णन करता है। प्रस्तुत शोध पत्र वेदों के आलोक में नारीवादी भूगोल के विविध आयामों की विवेचना करता है जिसके अन्तर्गत वेदों के आलोक में, नारी का पृथ्वी या प्रकृति की भाँति संरक्षण, लैंगिक समानता की संकल्पना तथा नारियों द्वारा कामवासना प्रकटीकरण एवं सामाजिक मूल्यों के निर्वहन नीति जैसे संवेदनशील विषय पर अध्ययन प्रस्तुत करता है।

भूगोल मे नारीवादी चिन्तन के भौगोलिक आयाम के अन्तर्गत राबर्ट (1981) के नारीवादी शोध के साथ-साथ रोज (1993) का नारीवाद और भूगोल विशेषरूप से उल्लेखनीय है। बाउलबाई एवं सहयोगियों (1989) का अध्ययन नारीवादी भूगोल के अन्तर्गत प्रकृति की भाँति स्त्री के भोग्या स्वरूप के साथ-साथ, स्त्रियों की काम भावना, आत्मनिष्ठा तथा सामाजिक सम्बन्धों, जाति वर्ग एवं लैंगिक भेद के विविध आयामों से सम्बन्धित है। हैन्सन एवं प्राट (1995) ने भी अपने अध्ययनों में नारी उत्पीड़न एवं लैंगिक भेदभाव की मानव के सामाजिक व्यवहार के अन्तर्गत विवेचना प्रस्तुत की है। वैदिक पक्ष के अध्ययन हेतु उपाध्याय, बलदेव (1967) द्वारा वैदिक साहित्य एवं संस्कृति सम्बन्धी अध्ययन का विशेष स्थान है। घई, पूनम (2015) ने मानव और प्रकृति पर सम्बन्धित वैदिक चिन्तन को आधुनिक सन्दर्भ में प्रस्तुत किया

है। रानी, उमा (2015) ने वेद विहित पर्यावरण संरक्षणभिध ाायी विवेचना प्रस्तुत की है। शुक्ल (2020) ने वेदों में वर्णित मानव भूगोल सम्बन्धी विषयवस्तु के अन्तर्गत वेदों में वर्णित नारी दशा सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत किया है। शुक्ल एवं तिवारी (2021) ने वैदिक भूगोल के आलोक में संसाधन संरक्षण की संकल्पना की विवेचना के अन्तर्गत विभिन्न संसाधनों एवं मानव के मध्य भावात्मक अन्तर्सम्बन्ध का विश्लेषण किया है। तिवारी (2021) ने वेदों में वर्णित विद्या अलंकृता नारी के ऋषिकात्व की विवेचना की है।

भूगोल जगत सेम्पल (1911, पृ.1) के इस कथन को कदापि विस्मृत नहीं कर सकता कि ''मानव भूतल की उपज हैं।'' इस कथन से परिलक्षित होने वाले मानव प्रकृति के अन्तर्सम्बन्धों को भौगोलिक जगत ने वातावरण निश्चयवाद के रूप में स्वीकारा गया परन्तु उल्लेखनीय है कि सेम्पल महोदय (1911, पृ. 1) ने मानव प्रकृति के अन्तर्सम्बन्धों को एक भावात्मक आधार प्रदान करते हुए कहा कि वह (मानव) केवल पृथ्वी का बालक और उसकी धूल का कण ही नहीं अपितु पृथ्वी ने माँ के समान पालन-पोषण किया है, उसको खिलाया पिलाया है। यह भावात्मक आधार ही संरक्षण को प्रेरित करता है। वेदों के माध्यम से प्राचीन भारतीय भौगोलिक ज्ञान ऋग्वेद के प्रथम मण्डल, 164 वें सूक्त की 33 वीं ऋचा में पृथ्वी से माता का सम्बन्ध स्थापित किया गया है अर्थात् जिस प्रकार माता का संरक्षण प्रत्येक पुत्र का कर्तव्य है ठीक उसी प्रकार पृथ्वी का संरक्षण उससे पोषित होने वाले मानव के लिए स्वाभाविक है। माता रूपी नारी को प्रकृति और पृथ्वी संरक्षण हेतु प्रयुक्त कर वेदों ने स्पष्ट रूप से नारियों के संरक्षण का गूढ़ ज्ञान भी प्रदान किया है। ऋग्वेद की उल्लेखित ऋचा द्रष्टव्य है–द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्/उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।। (ऋग्वेद, 1/164/33) अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में ''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'' कहकर पृथ्वी को माता और स्वयं को पुत्र बता कर, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से दोनों के ही संरक्षण पर विशेष रूप से आदेशित किया है। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड, प्रथम सूक्त की बारहवीं ऋचा द्रटव्य है–*यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः/तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रे अहं पृथिव्याः पर्जन्यः पिता स उ नःपिपर्तु// (अथर्ववेद, 12/1/12)*

वेदों में लैंगिक समानता को स्थापित करते हुए नारी को उषा काल के सदृश कुल को प्रकाशित करने वाली प्रकाशवती और आनन्ददायिनी बतलाया गया है। नारी की पारिवारिक महत्ता एवं उच्चता को प्रकट करने वाली ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के 14 वें सूक्त की तीसरी ऋचा विशेष रूप से उल्लेखनीय है–*आवहन्त्यरुणीर्ज्योतिषागान्महीं चित्रा रश्मिभिष्चेकिताना/प्रबोधयन्ती सुविताय देव्युषा ईयते सुयुजा रथेन//(ऋग्वेद, 4/14/3)* वेदों में नारी की दशा का विश्लेषण करते हुए शुक्ल (2020, पृ. 16) ने बतलाया कि वेदों में नारी को उषा के समान प्रकाशवती, वीरांगना, वीर प्रसवा, विद्या अलंकृता, स्नेहमयी माँ और अन्नपूर्णा जैसे विशिष्ट रूपों में महिमा मण्डित किया गया है। देवगुरु बृहस्पति की पुत्री एवं भावयव्य की पत्नी रोमशा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल 126 वें सूक्त की सप्तम ऋचा की स्रष्टा हैं जो कि स्पष्ट रूप से कहती हैं कि जिस प्रकार पृथिवी के राज्यधारण में अविका रक्षक होती हैं ठीक उसी प्रकार मेरा रोम रोम प्रशंसित गुणों से युक्त है अर्थात् किसी भाँति स्त्री के अस्तित्व को पुरुष के अस्तित्व से हीन मत मानों; सम्बन्धित ऋचा इस प्रकार है–*उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः/ सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका ।।*

(ऋग्वेद, 1/126/7) वेदों में विद्या अलंकृता नारियों के ऋषिकात्व के विवरण द्वारा नारियों को प्राप्त शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक समानता का अधिकार पुष्ट होता है। तिवारी (2021, पृ. 2615) के अनुसार वैदिक काल की नारी न तो अशिक्षित थी, न ही वैचारिक रूप से हीन और न ही शारीरिक रूप से शोषित। विद्या से अलंकृत यह वैदिक नारी ऋग्वेद के 422 मंत्र की स्रष्टा है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में विभिन्न ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है जिनमें वाक् या वागम्भृणी, शश्वती, सिकता निवावरी, शिखंडिनी-कष्यपी, यमी, अदिति, सरमा, इन्द्राणी, श्रद्धा, सार्पराज्ञी, देवजामि, दक्षिणा, शची, सूर्या, लोपामुद्रा, अगत्स्यस्वसा, रोमाशा, घोषा, जुहू, इंद्रसनुषा, जुहू, अपाला, विश्ववारा, उर्वशी, रात्री, गौरवीति, कक्षीवती आदि प्रमुख हैं। बृहद्देवता में ऋग्वेद कालीन ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के नाम का सुस्पष्ट उल्लेख किया गया है। बृहद्देवता के अनुसार–*घोषा गोधा विश्ववारा अपालोपनिषन्निषत्/ ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादितिः//इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी/लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती// श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा/*

रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः।। (बृहद्देवता, 2.82 से 84)

वेद ने पुत्र-पुत्री में आर्थिक समानता स्थापित करते हुए, आदेशित किया है कि पुत्री भी पुत्रों की ही भाँति अपने पिता की सम्पत्ति में समान रूप से उत्तराधिकारी होती हैं (ऋग्वेद, 4/14/3)। अथर्ववेद में पत्नी को पति की सम्पत्ति अर्जित करने हेतु मार्गदर्शन करने को आदेशित

किया है (अथर्ववेद, 7/46/3)। अथर्ववेद पुनः स्त्री को आदेशित करता हुए कहता है कि तुम बुद्धि द्वारा धन प्रदान करो। (अथर्ववेद, 7/48/2)। यजुर्वेद स्त्री-पुरुष में राजनीतिक समानता स्थापित करते हुए निर्देश देता है कि स्त्री और पुरुष दोनों को शासक के रूप में चयनित होने का समान अधिकार प्राप्त है (यजुर्वेद, 20/9)। यजुर्वेद में ही यह निर्देशित किया गया है कि शासकों की स्त्रियों अन्यों को राजनीति की शिक्षा दी (यजुर्वेद, 10/26)। अथर्ववेद में स्त्रियों को सभा और समिति में भागीदारी कर विचार प्रकट करने का निर्देश देकर स्त्रियों की वैचारिक स्वतंत्रता को भी सुस्पष्ट किया गया है (अथर्ववेद, 7/38/4 एवं 12/3/52)। यजुर्वेद के 13 वें अध्याय के 26 वीं ऋचा में नारी को अनन्त सामर्थ्य वाली अर्थात् सहस्रवीर्यासि कहकर सम्बोधित किया है। नारी सेना का विचार हो या सेना में नारी के औचित्य का प्रश्न हो, इन भेदभाव पूर्ण सामाजिक अवधारणाओं का खण्डन इन्द्राणी रूपी नारी सुस्पष्ट रूप से करती है जिसमें वह अपने शत्रु को ललकार कर कहती है कि हे घातक शत्रु! तू मुझे अबला समझ कर आक्रान्त कर रहा है, स्मरण रख में अबला नहीं हूं, वीरांगना हूं, मृत्यु के भय से मुक्त, प्राणों को सहर्ष न्यौछावर करने वाले वीर साहसी सैनिकों की मित्र हूं, मैं उस वीर इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी हूं जिसका ऐश्वर्य संसार में सर्वविदित रूप से सर्वश्रेष्ठ है। सम्बन्धित ऋचा उल्लेखनीय है–अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते/उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। (ऋग्वेद, 10/86/9) वेदों ने यम और यमी के प्रसंग माध्यम से नारियों द्वारा कामवासना प्रकटीकरण की स्वतंत्रता एवं सामाजिक मूल्यों के संरक्षण को प्रकट किया है। एक तरफ वेद यमी के माध्यम से नारियों द्वारा कामवासना प्रकटीकरण की स्वतंत्रता को प्रकट करते हैं परन्तु समाजिक मूल्यों के संरक्षण हेतु यम के माध्यम से उचित और अनुचित में भेद भी स्थापित किया है। तिवारी (2021, पृ. 2618) के अनुसार उच्छश्रृंखल काम भावना को नियन्त्रित करने की आवश्यकता के सार्थक संदेश एवं सृष्टि प्रवर्तन हेतु वैदिक ऋषिका यमी प्रतिकूल योजनाबद्ध व्यवहार करके यम का आह्वाहन करती है ताकि यम उचित-अनुचित में भेद स्थापित कर पुरुष आचरण की श्रेष्ठता को सिद्ध कर सामाजिक मूल्यों का निर्वहन सुनिश्चित कर सकें; सम्बन्धित ऋचा इस प्रकार है–न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति/महस्पुत्रसो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उलवया परि ख्यन्// (ऋग्वेद, 10/10/2)

स्पष्ट है कि नारीवादी भूगोल के वैदिक आयाम नारी संरक्षण, लैंगिक असमानता एवं नारी स्वतन्त्रता के विविध पक्षों का विवेचन करता हैं। सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि वेद नियन्त्रण के स्थान पर संरक्षण, स्वछन्दता के स्थान पर स्वतन्त्रता को पूर्ण-रूपेण व्याख्यित करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Bowlby, S and others (1989). The Geography of Gender, in Peet, R. and Thirft, N. (eds): New Models in Geography, Vol.2, Unwin Hyman, London, pp 157-175.
- Hanson, S. & Pratt, G. (1995). Gender, Work and Space. Routledge, London,
- Roberts, H. (1981). Doing Feminist Research, Routledge and Kegan Paul, London,
- Rose, G. (1993). Feminism and Geography, Polity Press, Cambridge.
- Semple, E.C.(1911). Influences of Geographic Environment, Henry Holt and Company, New York.
- उपाध्याय, बलदेव (1967) वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, शारदा मन्दिर, वाराणसी
- कुमार, शशिप्रभा (2005) वैदिक संस्कृति के विविध आयाम, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली
- घई, पूनम (2015) मानव और प्रकृति पर संबंधित वैदिक चिंतन–आधुनिक संदर्भ, वेद विद्या, अंक 25, पृ. 139-50
- तिवारी, रोहणी (2021) वेदों में वर्णित विद्या अलंकृता नारी के ऋषिकात्व की विवेचना, दृष्टिकोण, वर्ष 13 अंक 2 पृ. 2615-619
- रानी, उमा (2015). वेद विहित पर्यावरण संरक्षणभिधायी विवेचना, वेद विद्या, अंक 26, पृ. 142-51
- शुक्ल, रत्नेश (2020) वेदों में वर्णित मानव भूगोल सम्बन्धी विषयवस्तु की विवेचना, शोध सरिता, संस्करण 7 अंक 26 (II) पृ. 14-17
- शुक्ल, रत्नेश एवं तिवारी, रोहणी (2021). वैदिक भूगोल के आलोक में संसाधन संरक्षण की संकल्पना, दृष्टिकोण, वर्ष 13 अंक 1, पृ. 147-151

डा. रत्नेश शुक्ल
असिस्टेंट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर भूगोल विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, बिहार

रोहणी तिवारी
अनुसंधानकर्त्री, संस्कृत, लाजपत राय कॉलेज, साहिबाबाद (गाजियाबाद), उत्तर प्रदेश

गिरिराज किशोर के कहानी संग्रह 'यह देह किसकी है' में कथ्य का आर्थिक संदर्भ

—डा. अंजू बाला

सामाजिक प्राणी होने के नाते प्रयेक मनुष्य की अपनी मूलभूत आश्यकताएं हैं जो कहीं न कहीं अर्थ से जुड़ी हुई हैं। अर्थ के आधार पर समाज का मूल्यांकन ही आर्थिक संदर्भ में उल्लेखनीय है। अर्थव्यवस्था को यदि सामाजिक जीवन का प्राण तत्त्व कहा जाए तो अनुचित न होगा, क्योंकि संसार की सभी व्यवस्थाएं अर्थतन्त्र द्वारा संस्थापित हो कर व्यवस्थित होती हैं। समस्त सामाजिक विषमताओं का मूल कारण अर्थ ही है। आर्थिक आधार पर हमारे समाज उच्च, मध्यम और निम्न वर्गों का विशेषतः उल्लेख होता है। उच्च वर्ग में ऐसे व्यक्तियों को लिया जा सकता है जिनके हाथ में धनोपार्जन के सभी साधन एकत्रित हों। पूँजीपति वर्ग भी इसी वर्ग का दूसरा नाम है। यह वर्ग अन्य वर्गों पर अपना अधिकार जमाकर उनका अधिक से अधिक शोषण करता है। मध्यमवर्ग में सीमित धन वाले नौकरी पेशे के लोग प्रमुख हैं, जिससे उनकी मलभूत आवश्यकताएं पूरी हो सकें। अत्यधिक गरीब और मजदूर व्यक्ति निम्न वर्ग से जुड़े होते हैं। यह वर्ग दिन-रात मेहनत-मजदूरी करता है लेकिन फिर भी दो जून की रोटी उसे नसीब नहीं होती। इस वर्ग का पूँजीपति वर्ग द्वारा अधिक से अधिक शोषण किया जाता है। सुखबीर सिंह ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''पहला वर्ग वह है, जिसके पास पूँजी है और इसी के बल पर वह बुद्धि का श्रम क्रय करता है तथा उत्पादन के लाभ का एक बड़ा हिस्सा बिना करे-धरे खा जाता है। दूसरा वर्ग मध्यम वर्ग या श्रमिक कहलाता है जो अपनी बुद्धि और शारीरिक श्रम के जरिए ही अपनी जीविका कमाता है। तीसरा वर्ग निम्न वर्ग है, जिसके पास केवल श्रम है किन्तु धीरे-धीरे वह श्रम के महत्त्व को समझाता है।''[1] अर्थ समाज की सबसे बड़ी आवश्यकता है किसी भी समाज या राष्ट्र का नाम उसकी आर्थिक स्थिति के आधार पर किया जाता है। विकसित-विकाशसील व अर्द्धविकसित देश आर्थिक आधार पर विभक्त हैं। समाज में भी आर्थिक आधार पर वर्गीय चित्रण किया जाता है। आर्थिक प्रणाली का विकास ही सामाजिक संगठन तथा चेतना को नयी गति देता है। किसी भी देश के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की आधारशिला वहाँ की आर्थिक व्यवस्था होती है। अर्थ का व्यक्ति और समाज के जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्थिक परिस्थितियाँ मनुष्य तथा समाज के मन तथा मनोविज्ञान की

अवधारणा को स्थायी रूप से प्रभावित किया करती है। यह हमारी सभ्यता और संस्कृति तथा उन्नति एवं समृद्धि की आधाशिला है।

'रिश्ते' कहानी में गिरीश मेहरा का गरीब लोगों को हेय दृष्टि से देखना दर्शाया गया है। ''गिरीश मेहरा जब छोटा था तो उसके यहाँ घोड़ा-गाड़ी रहती थी। मैं फक्कड़ था। मुझे घोड़ा-वोड़ा से फर्क नहीं पड़ता। वैसे अगर गिरीश मेहरा गाड़ी में जाता था तो यह नहीं हो सकता था कि मैं उसके साथ न हूं। वह सड़क पर चलते लोगों को ऐसे देखता था कि देखा? उतना समझदार तो तब मैं भी नहीं था पर कभी-कभी टोक जरूर देता था। तुम चारों तरफ ऐसे क्यों लौंका करते हो? वह मुझे सिर्फ देखता भर था। तब उसे बहस करना नहीं आता था।''[2] अतः, इससे पता चलता है कि अमीर व्यक्ति जब गाड़ी में होता है तो पैदल चलने वालों को वह ऐसी दृष्टि से देखता है कि मानों वे सारे उसके गुलाम हो। 'रंजन के जूते' कहानी में लेखक ने एक गरीब परिवार के बच्चे रमेश को दर्शाया है जिसके पास स्कूल जाने के लिए फटे-पुराने जूते होते हैं। ''नए जूते लेने की उसके परिवार की हैसियत नहीं है। जूते पुराने थे और सामने से फटे थे। पंजा लपलपाती जीभ की तरह नजर आता था। इस बात को उसने कई बार बाबू के सामने उठाया। बाबू चुप हो गए या उठ कर चले गये। ज्यादा हुआ ले कर गये और सिलवा लाये। मुँह फिर खुल जाता था। वह जान गया था कि उनका मौका नहीं। वैसे तो बिना जूते भी काम चला लेता लेकिन स्कूल ड्रेस के साथ काला जूता पहनना जरूरी था। जूता वह स्कूल ही पहनकर जाता था। स्कूल वाले इस बात को खासतौर से देखते थे। बच्चे के पाँव में काले रंग का एक जोड़ी जूता है या नहीं ? फटा है या चितकबरा ? यह उनका सरोकार नहीं था। क्लास में पहुंच कर वह जूते को डेस्क के नीचे उतार दिया था और बिना जूते उड़ा फिरता था।''[3] अतः कह सकते हैं कि हमारे देश में ऐसे कई परिवार हैं जो अपने बच्चों की आवश्यकताएं पूरी नहीं कर सकते।

रंजन ने धीरे से अपनी मम्मी से कहा, ''मम्मी, रमेश के जूते फट गये। इस तरह के जूते पहन कर उसका स्कूल आना मुझे अच्छा नहीं लगता। अपने बाप से क्यों नहीं कहता? वे गरीब हैं। जूता खरीदने के लिए उनके पास पैसे नहीं। तो न पढ़ाये।''[4] इस संदर्भ से पता चलता है कि अमीर व्यक्ति यही सोचता है कि अगर उसके पास पैसा है तो उसके बच्चे पढ़ सकते हैं। अगर कोई गरीब है तो उसे पढ़ने का कोई अधिकार नहीं। 'जमीन का टुकड़ा' कहानी में रामखिलावन के माध्यम से ऐसे बाप को दर्शाया गया है जो अपनी बेटी की शादी करना चाहता है पर उसके पास इतने पैसे नहीं है कि वह अपनी बेटी की शादी में खर्चा कर सके। अंत में उसे अपनी जमीन का टुकड़ा तक बेचना पड़ता है। ''अब वह बड़ी हो गयी थी। भले ही उसका बापू जमीन के साथ एक दिल हो गया था। पर उसके वजन को संभालना खलने लगा था।...सवाल उठा, खर्चा कहां से आये? लोग चुप्प। जाओ, माँगो अपनी जमीन से। हमारी तो इन्सानों की दुनिया है। जमीनों की दुनिया में जाओ लेकिन जमीन तो जो थी वह थी ही। एकदम चुप्प। अन्त में जमीन को देह में सिले कवच-कुण्डलों की भांति काटकर बाजार में जा खड़ा हुआ।''[5] आगे लिखा है, ''साहब ने बिना जमीन देखे ही दाम धर लिया कि इतना। रामखिलावन यह समझकर आया था कि उसका बास कहेगा जितना तुम कहो उतना। एक बात उसकी समझ में आ गयी थी कि छोटे लोगों की सेवा बड़े लोगों की रखैल है। रोटी-कपड़ा दो और फींचो। उनकी किताबों में देने का हिसाब तो टंकता जाता है, लेने का पन्ना कोरा पड़ा रहता है।''[6] यहाँ पर मालिक का नौकर की जमीन की रकम अपनी मर्जी से तय करना दिखाया गया है।

'स्वप्नदंश' कहानी में रामानुज की गरीब दशा को दर्शाया गया है। रामानुज को गन्दगी और घर छोटा होने की तो शर्म थी ही, सबसे बड़ी चिन्ता मकान मालिक की थी। एक तो वह हर महीने किराया नहीं दे पाता था, दूसरे मकान मालिक को ज्यादा किराया देने वाले लोग मिल रहे थे। रामानुज के लेखक होने का मकान मालिक को इतना भी फायदा नहीं था जितना चूंगी में काम करने वाले चपरासी का होता है। इसलिए मकान मालिक का उसकी तरफ से काफी मोहभंग हो गया था। बस कभी-कभी उसके बच्चे रामानुज से कोई मैगजीन या अखबार माँगकर ले आते थे। रामानुज देने से बचता था। मकान मालिक उसके अखबार और मैगजीन यह मानकर डकार जाता था कि भागते भूत की लंगोटी ही सही और रद्दी में बेच देता था।''[7] इस संदर्भ से पता चलता है कि रामानुज एक लेखक है और लेखक होने के बावजूद उसकी आर्थिक हालत इतनी कमजोर है कि वह अपने मकान का किराया तक नहीं दे सकता। हमेशा अपने मकान मालिक से बचता रहता था कि कहीं वह उससे किराया न मांग ले।

'निवष्तमान' कहानी में पिता अपनी बेटी की शादी उसकी पसंद के लड़के से करने को तैयार नहीं होता क्योंकि वह गरीब था। ''हो सकता है आज मेरे पास अमीरी का तमगा न हो और आपकी तरह जाति के गुमान से भी महरूम हूं। पर मेरे पास इल्म का चिराग है वह मुझे

आसमान में ले जा सकता है। समुद्र की गहराइयों में उतार सकता है। गरज कि उसकी मदद से मैं कहीं भी जा सकता हूं। कुछ भी कर सकता हूं।''[8] लड़का गरीब होने के बावजूद खुद्दार है। यह इस तथ्य से पता चलता है। 'सर्वेण्ट क्वाटरिये' कहानी में बहादुर नाम के एक नौकर और उसके परिवार को दिखाया गया है। उन्हें अपनी गरीबी के कारण अपना क्वाटर बदलना पड़ता है। ताकि, उसके मालिक को उसके बच्चों से कोई कठिनाई न हो। बहादुर और उसकी पत्नी ने उन्हें समझाया भी कि तुम्हारा गुजारा इसी घर से है। इस तरह के सूत्र वाक्य बच्चों की समझ में कभी नहीं आते। वे सीधी बात समझते हैं। माँ ने तो झुंझलाकर यहाँ तक कह दिया, ''अपने ही माँ-बाप, माँ-बाप होते हैं। दूसरों को माँ-बाप बनाने से काम नहीं चलता। पर बच्चे तो बच्चे! अन्त में उन्हें खुलासा तौर पर कहना पड़ा कि साहब और मेम साहब तुम्हारे मम्मी-पापा नहीं, अनय भैया और दोनों दीदियों के पापा-मम्मी हैं।''[9] अतः इस तथ्य से पता चलता है कि नौकर बहादुर के बच्चे अपने घर में कम और मालिक के घर में ज्यादा समय व्यतीत करते थे जो मालिक को पसंद नहीं था तो बहादुर ने धीरे-धीरे बच्चों को समझाया कि वह उनका घर नहीं है।

'हिंसा' कहानी में दिखाया गया है कि अगर व्यक्ति अच्छा खाना खाता है तो उसका परिवार व उसके बच्चे अधपेट रह जाते हैं। कहने का भाव यह है कि परिवार को भर पेट भोजन नहीं मिलता। वह अपने ऊपर अपनी तनख्वाह का एक बहुत बड़ा हिस्सा खर्च करने लगा था। उसका खाना व्यक्तिगत और ज्यादा कीमती हो गया था। बादाम, दूध, घी और मार मुलक्की कसरत के बिना मिनट-भर नहीं रहता था। घरवाले समझाते भी थे तो वह तुनक जाता था। उसकी घरवाली कई बार उसे आड़े हाथों लेती थी। लेकिन वह उसे समझा ले जाता था, ''जिस अपमान से मैं गुजर चुका हूं न मैं स्वयं गुजरना चाहता हूं और न तुम्हें गुजरने देना चाहता हूं। हालाँकि, उसकी बीबी की कुछ ऐसे समझ में यह बिलकुल नहीं आ रहा था कि बच्चों को अधपेट रख कर और अपना शरीर पाल कर वह उस अपमान से कैसे निकल पायेगा?''[10] अतः, हमारे समाज में गरीब परिवार भी हैं जो अच्छा खाना नहीं खा सकते। अगर वे ऐसा करते हैं तो उनके बच्चे भूखे रह जाते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि गिरीराज किशोर ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से आर्थिक शोषण की समस्या का चित्रण बड़े ही सहज एवं स्टीक ढंग से किया है। आज हर बड़ा व्यक्ति अपने से छोटे व्यक्ति को दबाने का प्रयत्न करता है। दूसरे व्यक्ति को प्रताड़ित करना वह अपना अधिकार समझता है। समाज में फैली इस भयंकर बुराई का लेखक ने यथार्थ चित्रण अपने कथा साहित्य में प्रस्तुत किया है ।

सन्दर्भ

1. सुखबीर सिंह, हिन्दी कविता की समकालीन चेतना, जयश्री प्रकाशन दिल्ली, 1984, पृ. 146
2. गिरिराज किशोर, यह देह किसकी है, भारतीय ज्ञानपीठ, 1992, दिल्ली, पृ. 13
3. वही, पृ. 47
4. वही, पृ. 48
5. वही, पृ. 75
6. वही, पृ. 76
7. वही, पृ. 81
8. वही, पृ. 125
9. वही, पृ. 131
10. वही, पृ. 132

डा. अंजू बाला
गाँव व डाकघर– तरक्वाड़ी
तहसील– भोरंज,
जिला–हमीरपुर, हिमाचल पदेश
पिन-176045

समकालीन हिन्दी गजल में गाँव

—अक्षय सभरवाल

भारत की आत्मा गांवों में बसती है। सूचना-प्रोद्यौगिकी और मुक्त बाजार व्यवस्था को अपनाने से भारत के ग्रामीण परिवेश पर इसका जो प्रभाव पड़ा है। गजलकारों ने उसे प्राथमिकता और गंभीरता के साथ अभिव्यक्त किया है। ग्रामीण परिवेश पर पड़े इसके सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभाव तथा गांवों की नई एवं पहले से बरकरार समस्याओं और चुनौतियों पर उनकी विशेष दृष्टि रही है। भारतीय संस्कृति का जितना गहरा जुड़ाव ग्रामीण जीवन से है, उतना शहरी जीवन से नहीं। गाँव को हम वो स्थान कह सकते है जहाँ भारतीय संस्कृति की जड़े मौजूद हैं। लेकिन वास्तविकता यही है कि हमारी सरकारें तमाम दावों-वादों के बावजूद, गाँवों को आज के मानवीय जीवन को ध्यान में रखते हुए, वह बुनियादी सुविधाएं रोजगार आदि, आज के समय की माँग अनुसार उसकी पूर्ति करने में असफल रही हैं। इसलिए वास्तविकता से दूर लिपाई-पुताई करने वाले खोखले आँकडों का सहारा लेने वाली मशीनरी पर शायर का रोष यूँ प्रकट होता है– *''तुम्हारी फाइलों में गाँव का मौसम गुलाबी है/मगर ये आँकड़े झूठे हैं ये दावा किताबी है''*[1]

जो किसान सबकी भूख मिटाता है। वह स्वंय ही अभावों का शिकार बन, भूख का ग्रास बन जाता है। यह गाँव की उस लोक लुभावन तस्वीर से भिन्न तस्वीर है जो अकसर हमारे ड्राईंग रूम के कमरे में टंगी पेंटिंग होती है। यह तस्वीर है जिसे हिन्दी गजल ने यथार्थ के रंगों से साहित्य के कैनवास पर बनाया है। यह कोई हवाई बात नहीं है बल्कि महाराष्ट्र, विदर्भ समेत देश के अन्य हिस्सों से आने वाले किसान आत्महत्या और ग्रामीण भूखमरी से जुड़ी बात है– *''गांव-घर का नजारा तो अच्छा लगा/सबको जी भर निहारा तो अच्छा लगा/गर्म रोटी के ऊपर नमक-तेल था/ माँ ने हँस कर दुलारा तो अच्छा लगा/''*[2] ... .अगली गजल का मिसरा है– *''कुछ घरों में भले पिज्जा-बर्गरों का दौर हो/गाँव-गलियों में अभी भी रोटियों का प्रश्न हैं/''*[3]

गाँव में आज भी धर्म और आस्था की जड़े शहरों से अधिक गहरी हैं। वहाँ अभी शिक्षा और जागरूकता का प्रसार वैसा नहीं हो पाया है, जैसा होना चाहिए था। इसी के कारण अंधविश्वास और थोथी-खोखली मानसिकता आज भी अपनी जड़े जमाये हुए हैं। हिन्दी गजलकार की पैनी दृष्टि इस तरह की समस्याओं पर बनी हुई है और गजल जैसी सशक्त अभिव्यक्ति की विधा जो आम बोल-चाल की भाषा में बात करती है। इन समस्याओं को वार्तालाप शैली के सशक्त अंदाज में हमारे सामने रख रही है, इस दृष्टि से मूलचन्द सोनकर जी का यह मतला और एक शेर ध्यान देने योग्य है– *''आज भी*

रूतबे में ठाकुर का कुआँ है दोस्तो/आज भी मुझसे ये बादल बदगुमाँ है दोस्तो/आज भी बुधिया प्रसव की वेदना से मर रही/डाक्टर हैं, नर्स हैं, पैसा कहाँ है दोस्तो/''[4] भारतीय ग्रामीण जीवन और लोकमन दोनों का आपस में गहरा जुड़ाव है। यह लोकमन प्रचलित मौखिक कथाओं, लोकगीतों में वर्णन होने वाले किस्सों, श्राप-वरदान, क्षेत्र-विशेष के सभ्याचार में गहरी आस्था रखता है। हम इस लोकमन को युंग के सामूहिक अवचेतन मन से भी जोड़कर देख सकते हैं। ग़ज़ल के शेर में अर्थ की अनुगूँज की गहरी सम्भावना होती है। इस कारण एक शेर के एक से अधिक अर्थ ध्वनित भी होते हैं। लोकमन और ग्रामीण जीवन के सम्बन्ध को किस सलीके से ग़ज़लकार ज्ञान प्रकाशन विवेक ने कहा है– *''गाँव वालो की मत पूछ तू बन्दगी/एक बूढ़ा शजर देवता हो गया/''*[5]

भारतीय ग्रामीण जीवन में आज भी महाजन की सूदखोरी के जाल में फंसे आम लोगों की समस्या एक प्रमुख समस्या है। इसका प्रमुख कारण है, गाँव की बड़ी जनसंख्या का अशिक्षित होना। जिनके लिए बैंक से कर्ज़ लेने की तुलना में महाजन से कर्ज़ लेना सरल है। यहीं वह ब्याज और चक्रवृद्धि ब्याज के ऐसे चकरदण्ड में फस जाता है, जिससे अपने आपको छुड़ा पाना उनके लिए भूस की रस्सी बटने जैसा कठिन कार्य होता है। प्रेमचंद ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' में इस समस्या को उठाया था। किन्तु अफ़सोस यह समस्या आज भी ग्रामीण जीवन में बनी हुई है और गाँव की भोली-भाली जनता का रक्त किसी जोंक की भाँति चूस रही है। हिन्दी ग़ज़ल में भी यह समस्या प्रमुखता से उठाई जाती रही है, जो न केवल ग्रामीण जीवन की समस्याएं अपितु गहरे में उनकी बुनावट तक को भी हमारे सामने लाती है– *''कैसे बताएँ हम तुम्हें क्या-क्या है रामफल/आँसू के एक गाँव का मुखिया है रामफल/मारा है जिसको रोज़ महाजन के ब्याज ने/बेबस से एक गरीब का रूपिया है रामफल/''*[6] आज मानव का सम्पर्क उसकी अपनी लोक संस्कृति एवं परिवेश से निरंतर टूटता ही चला जा रहा है। जिन कामों को कभी वह पूरी लग्न और तल्लीनता से करता था। आज वह उन्हें एक मशीन के पूर्जे की भांति अंजाम दे रहा है। इसके असर से गाँव में भी औद्योगीकरण और भूमण्डलीकरण की तेज गति के कारण सिमटती कृषि भूमि एवं गाँवों से शहरों की ओर बढ़ते पलायन के रूप में हम देख ही सकते हैं। इसे आज का ग़ज़लकार यूं कह रहा है– *''यूं खुद की लाश अपने कांधे पे उठाए हैं/ऐ शहर के बाशिंदों हम गांव से आए हैं/.....उड़ी पुरखों की पगड़ी हवा में खानदानी भी/था खाली पेट पहले ही गई खेती किसानी भी/''*[7] इस शेर को पढ़ते ही 'गोदान' उपन्यास से होरी की वह बात याद आती है जब वह कहता है, 'किसान की ज़मीन गई तो वह मजदूर हो गया मजदूर के पास थोड़ी जमीन आ गई तो वह किसान बन गया।' प्रेमचंद ने इस संवाद के माध्यम से मजदूर और किसानों की कमरतोड़ मेहनत के बाद भी संघर्ष की लगातार बनी रहने वाली स्थिति की ओर इशारा किया है। वह कितनी भी मेहनत करे किन्तु उनके फाको के दिनों का सूरज कभी अस्त ही नहीं होता।

भूमण्डलीकरण के कारण तेज होते औद्योगिकरण और उससे गति पाते केंद्रीकृत शहरी विकास ने भारतीय गाँवों को आज कई प्रकार से प्रभावित किया है। इससे कृषि भूमि का संकुचन, प्राकृतिक संसाधनों का अत्याधिक दोहन, जंगल और जीवों का नाश, पलायन, प्रदूषण आदि पहले से व्याप्त समस्याओं को और विस्तार दे दिया है। इससे न केवल पारिस्थितिकी तंत्र असंतुलित हुआ। बल्कि प्रकृति जिसका मुनष्य के साथ गहरा रागात्मक संबंध था। वह भी छिन्न-भिन्न हो गया है। इसने मानव की व्याकुलता, घुटन, कुंठा आदि को बढाने का कार्य किया है। हमें अपना विकास प्रकृति का शोषण करके नहीं, बल्कि प्रकृति को साथ लेकर सतत सम्पोषणीय विकास करना चाहिए, जो प्रकृति को साथ लेकर ही हो सकता है। गांधी जी कहा करते थे, 'प्रकृति के पास मनुष्य की ज़रूरत पूरे करने के तो संसाधन है किन्तु लालच पूरा करने के नहीं। इस लालच का ग्रामीण परिवेश पर निसंदेह प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है– *''सावन की पुरवाइया गायब/पोखर, ताल, तलइया गायब/कट गए, सारे पेड़ गाँव के/कोयल और गौरइया गायब/''*[8]

गाँवों से एक बड़ी आबादी तेजी से शहरों की ओर पलायन कर रही है और सरकारों ने गाँधी जी के ग्रामीण विकास को योजनाओं में बहुत जगह दी, किन्तु वास्तविकता की जमीन पर नहीं। अन्यथा यह पलायन इतनी तेजी से न होता, न ही प्रतिवर्ष इसके आँकड़ों में इतना उछाल आता। गांवों के उजड़ने के पीछे बड़ी भूमिका केंद्रीकृत विकास की नीति की रही है। इसके बहुत से दुष्परिणाम शहरों पर भी पड़े हैं। इसने गांवों के बहुत से घरों को खण्डहर में बदल दिया है, जिसे ग़ज़लकार अत्यंत भावुकता के साथ यूँ कहता है– *''आइये, गाँव की कुछ खबर ले चलें/आँख भर अपना घर खण्डहर ले चलें/''*[9] ऐसा भी नहीं है हिन्दी गजलकरों ने ग्रामीण परिवेश को दिखाते हुए सब कुछ नकारात्मक ही दिखाया है या समस्याओं को ही चित्रित करते हुए सब कुछ लुप्त या समाप्त होते हुए ही दिखाया है

या उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि गाँव में कुछ भी गाँव जैसा बचा ही नहीं है। ऐसा नहीं है, उन्होंने उन सभ्याचारों को भी अपनी ग़ज़ल की कहन में स्थान दिया है जो गांव और शहर के बड़े विभेद को हमारे सामने स्पष्ट रूप से रखतें है। इस बात की पुष्टी के लिए यह शेर ध्यान देने योग्य है– *''आज भी गांव में कुछ कच्चे मकानों वाले/घर में हम-साए के फाका नहीं होने देते''*[10] यह भारतीय गांवों के सभ्याचार का प्रमुख अंग है। गांव में अकसर कच्चे मकानों में रहने वाले लोग अपने संसाधनों एवं सुख-दुख को आपस में बाँटते हैं। यह शहरों और पक्के बने घरों में अधिकांशतः देखने को नहीं मिलेगा। समकालीन हिन्दी गजलकार गांव में रह रहे दलितों के साथ अपनी पूरी संवेदना के साथ खड़े नजर आते हैं। वह उन पर तरह-तरह से होने वाले अत्याचारों का सख़्ती से विरोध कर अपनी पूरी संवेदना उनके साथ व्यक्त करते हैं। वह आज के युग में भी उन सामंती मानसिकता से परिचालित शक्तियों को चिह्नित करते हैं जो ग्रामीण दलितों के गले, किसी फन्दे जैसे पड़ी हुई है, हिन्दी गजलकार उनकी मुक्ति और बराबरी के अधिकार के लिए अपनी गजल के माध्यम से अपने समर्थन की आवाज़ उठा रहे हैं। जिससे न केवल दलित, गांव, कस्बा क्षेत्र, राज्य बल्कि सबसे ऊपर अपना देश प्रगति कर सके। तथाकथित राष्ट्रवादी इस बात की गंभीरता को उतना नहीं समझते जितना गजलकारों ने इसे समझकर अपना समर्थन दिया है। यह शेर इस बात का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है– *''सिर झुकाए अब भी देख राय साहब को/सिर उठाए तो लाठियाँ गुंडे चलाएं गाँव में/''*[11]

देश की ग्रामीण जनता जिसमें अधिकांश कृषि पर ही आश्रित है, भूमण्डलीकरण के कारण अपने साथ होने वाले इस अन्याय के खिलाफ एकजुट हो आवाज उठाने लगी है। वह राजनीतिक जागरूकता भी अपने बंधु-बांधवों में लाने का प्रयास करने लगी है जिससे उनके अधिकारों और उचित मांगों को वोट बैंक की राजनीति की भेंट चढने से बचाया जा सके। गजलकार को जरूर दिखती है तभी वह यह लिखता है– *''ले मशाले चल पड़े हैं लोग मेरे गांव के/अब अंधेरा जीत लेंगे लोग मेरे गाँव के/बिन लड़े कुछ भी नहीं मिलता यहाँ यह जानकर/अब लड़ाई लड़ रहे हैं लोग मेरे गांव के/''*[12] अंततः, हम कह सकते हैं कि आज की हिन्दी गजल अपने ग्रामीण परिवेश एवं उससे जुड़ी समस्याओं एवं चुनौतियों से उदासीन नहीं है। वह बेबाकी के साथ उन पर बात भी कर रही है। बल्कि कारणों-निवारणों को भी गजलकार हमारे सामने लाने का महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। जिससे भविष्य की एक सुंदर तस्वीर हम बना सके। ग्रामीण परिवेश को प्रमुखता के साथ गजलकार अपनी गजलों में स्थान दे रहे हैं जिसमें, किसान, मजदूर, दलित, स्त्री, प्रकृत्ति वहाँ का सभ्याचार और संस्कृति सभी कुछ मौजूद है।

संदर्भ

1. समय से मुठभेड़, अदम गोंडवी, वाणी प्रकाशन, प्रथम सं. 2010, पृ. 59
2. गर्म रोटी के ऊपर नमक-तेल था, वशिष्ठ अनूप, अनन्य प्रकाशन वाराणसी, प्रथम सं. 2021, पृ.12
3. वही, पृ. 103
4. अब रास्ता इधर से ही है, मूलचन्द सोनकर, विप्लवी प्रकाशन, प्रथम सं. 2013, पृ. 27
5. गुफ्तगू अवाम से है, ज्ञानप्रकाश विवेक, वाणी प्रकाशन, प्रथम सं. 2008, पृ. 74
6. हिन्दी गजल के नवरत्न, मधुखराटे, विद्या प्रकाशन, 2014, पृ. 138
7. समय से मुठभेड़, अदम गोंडवी, वाणी प्रकाशन, प्रथम सं. 2010, पृ. 80
8. संवदिया, सं. विनय मिश्र, 'जनवरी-मार्च', अररिया, लिटिल बर्ड पब्लिकेशन, पृ. सं. 80
9. http://kavitakosh.org/kk/
10. समकालीन हिन्दी और उर्दू गजल का अन्तः साक्ष्य, डॉ रेवन्त दानु, बोधी प्रकाशन, प्रथम सं., 2019, पृ. 79
11. हिन्दी गजल का आत्संघर्ष, सुशील कुमार, प्रलेक प्रकाशन, 2021, पृ. 46
12. समकालीन हिन्दी और उर्दू गजल का अन्तः साक्ष्य, डॉ रेवन्त दानु, बोधी प्रकाशन, प्रथम सं. 2019, पृ. 123
13. वही, पृ. 86

अक्षय सभरवाल
शोधार्थी (पीएच.डी, हिन्दी)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो. 9654963616

आधुनिक हिंदी कविता में राष्ट्रीय भावना

—आलोक रंजन पांडेय

राष्ट्र और भावना दोनों स्वतंत्र शब्द हैं जिसके मेल से एक महान शक्ति उद्‌भित होकर राष्ट्रीयता ,राष्ट्रीय भावना अथवा राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप धारण करती है। यही भावना साहित्य में स्वर और सुर बनकर फूट पड़ती है और अनंतर प्रवाहित होती रहती है। इससे जनमानस में सामूहिक चेतना का निर्माण होता है। ''देश भक्ति का उद्वेलन कभी समर्पण तो कभी आंदोलन का रूप धारण कर लेता है, जिससे व्यक्ति के स्वत्व से लेकर राष्ट्र तथा देश की स्वतंत्रता और समानता की सुरक्षा के लिए सर्वस्व समर्पण तक के भाव समाविष्ट होते हैं''[1] राष्ट्र सर्वथा आधुनिक संकल्पना नहीं है। इसका संबध बहुत प्राचीन है। यह हमारी सांस्कृतिक धरोहर एवं संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी साहित्य में लिखते हैं, ''प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है'' ।[2] अतः हिंदी साहित्य के प्रत्येक कालखंड में अपने युगबोध के सापेक्ष कवियों ने अपनी कविता में राष्ट्रीयता के स्वर अवश्य दिए है क्योंकि राष्ट्रवाद के विभिन्न रूप होते है। क्रांतिकारी राष्ट्रवाद, सुधारवादी राष्ट्रवाद, जन राष्ट्रवाद, पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद आदि राष्ट्रवाद के विचारधारात्मक रूप हैं। इन्हें हम हिंदी साहित्य के आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकालीन साहित्य में पाते हैं, किंतु राष्ट्रीय चेतना एक प्रवृत्ति के रूप में अपनी पूरी उपस्थिति के साथ हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में ही प्रतिष्ठित होती है।

आधुनिक काल में हिंदी साहित्य की एक प्रमुख विशेषता राष्ट्रीयता रही है। हिंदी साहित्य का आधुनिक काल पराधीनता तथा स्वतंत्रता का युग है, इसलिए इस कालखंड की कविता में राष्ट्रीयता का तत्त्व अधिक है। इसकी शुरुआत भारतेंदु युग से होती है। भारतेन्दु तथा भारतेंदु मंडल के कवियों के बाद यह उत्तरोत्तर पुष्पित और पल्लवित होती चली गई जिसके संवाहको में मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी तथा रामधारी सिंह दिनकर तथा आधुनिक समकालीन काल में त्रिलोचन, जगदीश सुधाकर, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, सरला भटनागर, देवराज, ऋतुराज, कुमार अम्बुज, रघुवीर शरण 'मित्र' आदि का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। राष्ट्रीय काव्यधारा का उदय आधुनिक काल में भारतेन्दु युग से होता है जिसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द स्वयं राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने की बात करते हैं। वे निजभाषा

को प्रधान घोषित करते हैं, क्योंकि निज भाषा से ही मानव में चेतना का समावेश होता है और चेतना के जाग्रत होने पर वह राष्ट्रीय भावों से ओतप्रोत हो जाता है। राष्ट्र निर्माण में निज भाषा के महत्व को दर्शाते हुए भारतेन्दु जी कहते हैं– *''निजभाषा उन्नति अहे, सब उन्नति को मूल, बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल''।*[3]

राष्ट्रीय कवि के रूप में विख्यात मैथलीशरण गुप्त जी अपनी राष्ट्रीय रचनाओं से भारतीय पटल पर अप्रतिम छाप छोड़ते हैं। भारत-भारती लोगों के हृदय में इस तरह समावेषित हो जाती है कि लोग रामायण, गीता के समान भारत-भारती के एक एक पद का वाचन करते हैं। इसमें अतीत काल के इतिहास को पढ़ने हेतु नई पीढ़ी को प्रेरित किया गया है। वर्तमान को साधते हुए भविष्य का संधानकर मार्ग प्रसस्त किया गया है। आर्यभूमि की प्रशंसा में कवि कहता है– *''भूलोक का गौरव/ प्रकृति का पुण्यलीला स्थल कहाँ/ फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगा जल जहाँ/ सम्पूर्ण देशों से अधिक / किस देश का उत्कर्ष है, उसका कि जो ऋषि भूमि है/ वह कौन भारतवर्ष है।*[4]

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी राष्ट्रीय काव्य धारा के मुख्य कवि हैं। बहुमुखी प्रतिभा के धनी त्रिपाठी जी गांधीवादी दर्शन के अग्रदूत तथा भारतीय परम्पराओं के पोषक कवि हैं। उनकी प्रमुख रचनाओं में 'पथिक' श्रेष्ठ रचना है। पथिक के सामने उत्पन्न होने वाली समस्याएँ उनकी स्वयं की हैं जो उन्होनें पथिक के माध्यम से स्वयं की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। रामनरेश त्रिपाठी जी कहते हैं– *''अपना शासन आप करो / तुम यही शान्ति है, सुख है पराधीनता से बढ़ जग में / नहीं दूसरा दुख है''*[5]

छायावादी काव्यधारा में प्रसाद जी का नाम प्रमुख है। वैसे तो हम लोग छायावाद को स्वच्छंदतावाद से जोड़कर उसकी इतिश्री कर देते हैं, जबकि छायावादी कवियों ने राष्ट्रीय चेतन से युक्त रचनाएं लिखी हैं। इसमें राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति तीन तरह से हुई है। 1. भारत के स्वर्णिम अतीत का गौरवगान, 2. भारत की दयनीय दशा का उल्लेख और 3. भारत के उज्ज्वल भविष्य की युग दृष्टि आदि। छायावादी कवि राष्ट्रीय गीत सरल और सहज ढंग से सभी के सामने रखते हैं। प्रसाद जी 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से' रचना के माध्यम से देश के लोगों का आह्वान करते हुए राष्ट्रीय चेतना की बात करते हैं तथा स्वतन्त्र राष्ट्र को देखना चाहते हैं। प्रसाद जी कहते हैं– *''हिमाद्रि तुंग श्रृंग से/ प्रबुद्ध शुद्ध भारती स्वयं प्रभा समुज्जवला / स्वतन्त्रता पुकारती अमर्त्य वीर पुत्र हो/ दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो, प्रशस्त पुण्य पंथ है/ बढ़े चलो, बढ़े चलो''*[6]

प्रसाद जी भारत भूमि के गौरव को बढ़ाने के लिए कामायनी जैसा महाकाव्य प्रदान करते हैं जिसमें राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत होकर मातृभूमि की वन्दना करते हैं। *''अरूण यह मधुमय देश हमारा/ जहाँ पहुंच अंजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।*[7] सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ओज के कवि हैं। उनकी राम की शक्ति पूजा, भारती वन्दना, बादलराग इत्यादि राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व की रचनाएँ हैं जिसमें निराला जी राष्ट्रहित के लिए मानवतावादी समाज की स्थापना को प्रमुख मानते हैं तथा भारतीय गौरव का बखान करते हुए भविष्य का निर्माण करने हेतु प्रेरित करते हैं– *''भारति, जय विजय करे / कनक-शस्य-कमल धरे/ लंका पदस्थ शतदल/ गर्जितोर्मि सागर-जल धोता शुचि चरण-युगल / स्तव कर बहु अर्थ भरे''।*[8] प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त जी भारत देश की हरी-भरी धरती, गंगा-यमुना की संस्कृति को उद्धत कर देश प्रेम को दर्शाते हैं। भारत भूमि परविविध धर्मो, जातियों, भाषाओं के लोग एक साथ निवास करते हैं तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को बरकरार रखते हैं। इस संदर्भ में पंत जी अपनी कविता 'भारतमाता' में कहते हैं– *''भारतमाता / ग्रामवासिनी खेतों में फैला है श्यामल / धूलभरा मैला सा अचंल। गंगा यमुना में आँसू-जल/ मिट्टी की प्रतिमा / उदासिनी। दैत्य जड़ित, अपलक नतचितवन/ अंधेरों में चिर नीरव रोदनं युग-युग के तम से विषणमन/ वह अपने घर में प्रवासिनी''*[9]

इसके बाद बालकृष्ण शर्मा नवीन जी ने अंग्रेजी शासन सत्ता को विध्वंस करने वाली तान को छेड़ दिया जिससे युवाओं में उत्साह एवं उमंग का संचार हुआ, क्योंकि किसी भी सत्ता को स्थापित करने के लिए पूर्व की सत्ता को विध्वसं करना जरूरी होता है। इस संदर्भ में नवीन जी कहते हैं– *''कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ / जिससे उथल पुथल मच जाए, एक हिलोर इधर से आये/ एक हिलोर उधर से आए।''*[10] डा. रामकुमार वर्मा ने अपनी रचनाओं के माध्यम से क्षत्रिय के पराक्रम के साथ क्षत्राणी के परित्याग को दर्शाया है। जब कोई क्षत्रिय राष्ट्र के लिए युद्ध के मैदान में जाता है, तो क्षत्राणी बेहिचक रणभूमि पर भेजती है। रामकुमार वर्मा जी राजपूतों के राष्ट्रप्रेम और बलिदान का स्मरण दिलाते हुए 'चित्तौड़ की चिता' नामक कविता में कहते हैं– *''कभी थे राजपूत अति न्यून / किन्तु था प्रिय स्वदेश अभिमान, नारियों ने भी ली असि तान / चढ़ाये रण में आत्म प्रसून''*[11] राष्ट्र द्रष्टा, युग निर्माता, राष्ट्रीय भावना का संचार करने वाले कवियों में प्रमुख नाम माखनलाल चतुर्वेदी जी का आता है। इन्होंने देशहित के लिए सम्पूर्ण जीवन अर्पण कर दिया था। माखनलाल चतुर्वेदी जी की

'पुष्प की अभिलाषा' रचना सर्वाधिक चर्चित है। पुष्प कहता है– *''चाह नहीं मैं सुरबाला के/ गहनों मे गूँथा जाऊँ/चाह नही प्रेमी माला में, बिंध प्यारी को ललचाऊँ/ मुझे तोड़ लेना वनमाली/ उस पथ पर देना तुम फेंक/ मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक''*[12]

कवियित्री सुभद्रा कुमारी चौहान ने राष्ट्र को जगाने के लिए पुराख्यानों तथा श्रेष्ठ देशभक्तों के जीवन संघर्ष के साथ नये कलेवर में अपनी रचनाओं को प्रस्तुत किया। सुभद्राकुमारी चौहान अपनी कविता 'विजयादश्मी' में कहती हैं– *''दो विजये! वह आत्मिक बल दो वह हुंकार मचाने दो/अपनी निर्बल आवाजों से दुनिया को दहलाने दो/असहयोग सर तान खड़ा है/ भारत का श्रीमान् सखी/ भारत लक्ष्मी लौटाने को रच दें/ लंका काण्ड सखी/*[13] वीर हमेशा स्वधर्म और स्वदेश के लिए जीते हैं। उनका बलिदान राष्ट्रीय संस्कृति के लिए महाभिमान का एक अमूल्य अंग होता है। वीरों का रक्त समस्त राष्ट्र की शिराओं में स्वाभिमान का संचार करता है और उनका जीवन संपूर्ण जाति को जीने की ऊर्जा देता है। इस ऊर्जा में राष्ट्र का गौरवशाली इतिहास अपने पूरे तेज के साथ जीवित हो उठता है। कवि श्याम नारायण पाण्डेय अपनी कविता परशुराम में पूरी सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा के लिए बार-बार वीरों की ओर देखते हुए उनसे उठने का आह्वान करते हैं– *वीरों! स्वधर्म के लिए उठो/ निर्भय स्वदेश के लिए उठो/ आतंकित है रे कर्मभूमि/ संस्कृति स्वदेश के लिए उठो/*[14]

राष्ट्रीयता के नए मूल्यों में एक मूल्य वह है जो भारत राष्ट्र की काल-दृष्टि को स्पष्ट करता है। अज्ञेय के सामने आधुनिक भारत की विवश और विपन्न जनता के चित्र आते हैं, तो कवि का मन विषादयुक्त हो जाता है। वह अपनी पूरी चेतना से घोषणा करता है कि पुते हुए गालों और दर्पण से चुराई हुई मुस्कान वाली दृष्टि उसके प्यारे भारत की दृष्टि नहीं हो सकती। उसके भारत की दृष्टि तो कितने ही काल-सागरों के पार तैर आने वाली दृष्टि है। इस दृष्टि में श्रम की महत्ता है, जलद की सरसता है, मैले चाँद की मोहकता है और कोमल पुष्प का सौंदर्य है– *''उसने/ झुकी कमर सीधी की/ माथे से पसीने पोंछा/ डालिया हाथ में छोड़ी/ और उड़ी धुल के बादल के/ बीच में से झलमलाते/ जाड़ों की अमावस में से/ मैले चाँद-चेहरे सकुचाते/ में टंकी थकी पलकें/ उठाई/ और कितने काल-सागरों के पार तैर आईं/ मेरे देश की आँखें''*[15] परंपरागत राष्ट्रीयता के नए मूल्यों की अगली कड़ी के रूप में दूसरे स्वतंत्र राष्ट्रों के प्रति सम्मान और प्रेरणा का भाव उल्लेखनीय है। बांग्लादेश भारत के सहयोग से अस्तित्व में आया, यदि भारत चाहता तो उसे अपने अधिकार में ले सकता था। किंतु मानवीय स्वतंत्रता का पक्षधर होने के नाते उसने ऐसा नहीं किया बल्कि प्रत्येक प्रकार से सहायता करके उसे स्वाभिमानी राष्ट्र-इकाई के रूप में खड़ा किया। कवि ने अपनी राष्ट्रीयता की सीमाओं को विकसित करते हुए बंगला देश का स्वागत किया तथा कभी किसी के आगे झुकने की कामना की। कवि केदरनाथ अग्रवाल ने अपनी कविता कहे केदार खरी खरी में स्पष्ट कहा कि हे बंगला देश तू अब स्वयं अपना नियंता और उद्धारक होगा, कभी किसी के आगे घुटने नहीं टेकेगा और सदैव मुक्त राष्ट्र बनकर चमकेगा। *''अब है मुझको पूरी आशा/ तू अपना उद्धार करेगा/ बैरी का संहार करेगा/ नहीं किसी के हाथ बिकेगा/ मुक्त राष्ट्र होकर चमकेगा/ दिन का सूरज/ और रात का चाँद बनेगा/ नई जवानी फतह करेगा''*[16]

समकालीन हिंदी कविता में उपर्युक्त उद्देश्य के अंतर्गत व्यापक मात्रा में काव्य रचना कर्म संपन्न हुआ है, क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों के दबाव के परिणामस्वरूप इस युग में व्यापक स्तर मूल्यहीनता आई है। सवतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह गया। इसी से राष्ट्र में अनेक अव्यवस्थाओं ने जन्म लिया।[17] राष्ट्रीय चेतना संपन्न कविताओं में इस ओर व्यापक संकेत किए गए हैं। अनेक रचनाओं में राष्ट्रीय संकट की ओर संकेत करते हुए कहा गया है–

''लगता है/ हिंद के आसमान में/ सूरज पर भी लगे होंगे/ आपातकालीन स्थिति वाले आर्डिनेंस/ लगता है/ हिंदी के आसमान में/ अब सूरज सहमकर उगेगा/''[18] यहाँ सूरज इस देश की जनता की जिजीविषा का प्रतीक बनकर आया है जो सत्तरोत्तर काल की कविता के चिंतन के मूल बिंदुओं में से एक है। सत्तारोत्तर कविता में राष्ट्रीय संकट का संकेत करते हुए आर्थिक संकट को विशेष रूप से उभारा गया है। संपूर्ण सवतंत्रता-संग्राम के पीछे जहाँ राजनैतिक दासता से छुटकारे का भाव था, वहीं आर्थिक समृद्धि और आर्थिक साधनों के समान-वितरण के लक्ष्य की प्राप्ति का उद्देश्य भी था। स्वतंत्रता के बाद यह आशा की गई थी कि सामान्य जनता के आर्थिक विकास को ध्यान में रखा जायेगा। इस प्रकार की अनेक घोषणाएं भी की गई थीं। साथ ही सर्वोदय और अंत्योदय जैसे आर्थिक चरित्रों वाले आंदोलनों की गूँज भी बीच-बीच में सुनाई पड़ती रही, किंतु देश की भूख का आकार लगातार बढ़ता गया। कविता ने इस स्थिति को यथार्थ-भोग के आधार पर चित्रित किया है। उसमें साफ-साफ कहा गया है कि अगर आदमी खाने को मुहताज है, तो स्वतंत्रता का क्या अर्थ

है– *''जिसके मारे सब दुखी थे, सबके मन पर भार था/ आज उस परतंत्रता से भी निकाल आ ही गया/ हम स्वतंत्र कहाँ अगर खाने को भी मुहताज हैं/ एक जठरानल में समझो सबका काल आ ही गया''*[19]

राष्ट्र की संकट पूर्ण स्थिति का विश्लेषण करके आठवें-नौवें दशक की कविता ने देश के प्रत्येक नागरिक के मन में राष्ट्र-निर्माण की भावना जगाने का प्रयास किया है। यह कविता भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और उसके सचेत होने की शर्त भी। वर्तमान का विश्लेषण करके कविता ने सारे देश के नागरिकों को वास्तविकता से परिचित कराया है ताकि उसे ही आधार मानकर भविष्य के राष्ट्र का स्वरूप तय किया जा सके।

कवि ने माना है कि यह समय विश्रृंखलता से भरा हुआ है और राष्ट्र सेवियों का दायित्व उन्हें ललकार रहा है। इतना ही नहीं दूर क्षितिज से करुणार्द्र भाव से 'कोई' है जो पुकार-पुकार कर बुला रहा है। यह 'कोई' राष्ट्र ही है, जिसे कवि देवेन्द्र ने देखा है और जिसकी भावना को रचना में अभिव्यक्ति दी है– *''विश्रृंखलता से भरा समय आया, भाई/ पग-पग पर है दायित्व तुम्हें ललकार रहा/ दीनता और कारण्य भाव स्वर में भरकर/ है दूर क्षितिज से तुम्हें कोई पुकार रहा/*[20] कवि ने राष्ट्र-निर्माण को यथार्थ आधार देने के लिए उन शक्तियों की ओर से सावधान रहने को कहा है जो देश की वर्तमान अव्यवस्था के लिए उत्तरदायी हैं। देश की इस अव्यवस्था के लिए अवसरवाद, स्वार्थ परायणता और संकीर्णता जिम्मेदार हैं। इन्हीं के कारण यह देश वर्गों में बंट गया है तथा अस्थिरता के कगार पर पहुँच गया है।[21] देश के भविष्य के लिए इनसे लड़ना पहली आवश्यकता है। यदि इन्हें समाप्त नहीं किया जाएगा, तो हमेशा संकट ही बना रहेगा। इसी कारण कवि ऋतुराज ने अबेकस कविता से इस पूरी प्रवृत्ति को ही समाप्त करने की बात कही है– *''लोगों! भविष्य में जीने वाले लोगों!!/ सोच लो/ अगर उसकी ताकत अभी भी कामयाब हो जाती है/ तो आगे भी ऐसा ही होता रहेगा/ बहते हुए बाजार की अंधेरी किसी गली में/ घसीटकर/ क्या हम इस बदमाश को खत्म/ नहीं कर सकते हैं?/*[22] इस प्रकार राष्ट्र-निर्माण के तीन महत्वपूर्ण पक्ष समीक्ष्य काल की कविता में विद्यमान है (1) निर्माण के मार्ग में आने वाली विरोधी शक्तियों का निषेध, (2) निर्माण की संकल्पना, नए राष्ट्र के आधार तत्व तथा राष्ट्र के निर्माण में विभिन्न वर्गों की भागीदारी तथा (3) नव-निर्माण का सुरक्षा का संकल्प। तीनों ही पक्षों को व्यक्त करने वाली कविताएँ विपुल मात्र में उपलब्ध हैं।

संदर्भ सूची

1. महाले, डा. सुभाष, माखनलाल चतुर्वेदी और वि. दा. सावरकर की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना, (1997), चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, पृ. 25
2. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, (2008), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ. 21
3. निजभाषा कविता, भारतेंदु हरिश्चंद्र
4. कविता का आधुनिक परिप्रेक्ष्य, मत्स्येन्द्र शुक्ल, आचार्य प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986, पृ. 50
5. गगनांचल पत्रिका, सितम्बर-अक्टूबर, 2016, भारतीय सांस्कृतिक संबंध, नई दिल्ली, पृ. 15
6. प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी की श्रेष्ठ रचनाएँ, वाचस्पति पाठक, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 51
7. गगनांचल पत्रिका, पृ. 15
8. प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी की श्रेष्ठ रचनाएँ, वाचस्पति पाठक, पृ. 99
9. वही, पृ. 172
10. कविता का आधुनिक परिप्रेक्ष्य, मत्स्येन्द्र शुक्ल, पृ. 64
11. गगनांचल पत्रिका, पृ. 15
12. माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य में राष्ट्रीय चेतना, सुनील कुमार परीट
13. विजयादशमी कविता, सुभद्राकुमारी चौहान
14. श्याम नारायण पांडेय, परशुराम, पृ. 118
15. अज्ञेय, नदी की बांक पर छाया, पृ. 12
16. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी-खरी, पृ. 182
17. वही, पृ. 189
18. नागार्जुन, खिचड़ी विप्लव देखा हमने, पृ. 27
19. त्रिलोचन, गुलाब और बुलबुल, पृ. 98
20. देवेंद्र कुमार 'देव', सुकवि विनोद, फरवरी-मार्च, 1983, पृ. 11
21. मधुलिमये, नवभारत टाइम्स, 11 जुलाई, 1986, पृ. 4.
22. ऋतुराज, अबेकस, पृ. 44
23. डा. शेर जंग गर्ग, सर्वप्रिय, अगस्त, 1985, पृ. 15

डा. आलोक रंजन पांडेय
एसोसिएट प्रोफेसर
रामानुजन महाविद्यालय
(दिल्ली विश्विद्यालय)

स्वाधीनता के यज्ञ में बाल आहुति : वानर सेना

—डा. इन्दू कुमारी

साहित्य किसी भी समाज का संवेदनात्मक दस्तावेज है। समाज की धड़कनों को साहित्य के विभिन्न रूपों में जिस प्रकार देखा जा सकता है, वैसा शायद ही ज्ञान के दूसरे रूप में अभिव्यक्त होता है। ''साहित्य सामाजिक यथार्थ के यांत्रिक प्रतिबिंबन तक ही सीमित नहीं है, यह इससे आगे की चीज है। मनुष्य की कलात्मक गतिविधियों के अंग के रूप में यह अपने आप में प्रकृति के साथ मनुष्य के संघर्ष के फलस्वरूप उसके अंदर उपजा आत्मबोध भी है। अगर आप चाहें तो इसे मनुष्य की रचनाशीलता, उसके होने की ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक प्रतीक कह सकते हैं। यह मनुष्य के कलात्मक श्रम का ऐसा अंतिम परिणाम भी है जो उसके अंदर आनंद का संचार भी करता है।''[1] अमरकांत स्वातंत्र्योत्तर भारत के महत्वपूर्ण रचनाकार हैं। अमरकांत का समय मोटे तौर पर नयी कहानी आंदोलन का समय है। परन्तु नयी कहानी के घोषित दायरे में (खासकर राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर) शहरी मध्यवर्ग है, वहीं अमरकांत कस्बाई इलाके को अपनी कहानियों का क्षेत्र बनाते हैं। कस्बाई क्षेत्र के मध्यवर्ग, निम्न मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के पात्रों को अपनी कहानियों के पात्र बनाते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं—''प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने का अर्थ है कि प्रेमचन्द के बाद के भारत के यथार्थ का चित्रण। स्वातंत्र्योत्तर भारत का यथार्थ अमरकांत की कहानियों में चित्रित होता है, वह यथार्थ जो प्रेमचन्द के बाद का है। 'डिप्टी कलक्टरी' में एक ओर स्वाधीन भारत की नवयुवक पीढ़ी की आशा है, तो दूसरी ओर स्वाधीन भारत में बढ़ रहे भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद की आशंका है, अपनी पहुंच के बाहर के अहसास से उत्पन्न अंधविश्वास है। 'हत्यारे' में इस नयी पीढ़ी का ऐसा भयानक रूप सामने आता है, जिसकी ओर उस समय यानी कहानी के रचनाकाल में शायद ही किसी समाजशास्त्री का भी ध्यान गया हो।''[2] आगे वे कहते हैं—''अमरकांत की 'जिंदगी और जोंक' के रजुआ का संबंध 'कफन' के धीसू-माधो से है। जिन्दगी अपने दुख और सुख दोनों में रंगीली और महाठगनी है। दुःखी से दुःखी आदमी भी अपनी जिन्दगी में हंस-बोल लेता है। जिस आदमी की जिंदगी शोषण, अभाव और अपमान से भरी हुई है, उसे जब जिन्दगी थोड़ा भी अवकाश देती है, तो वह शोषकों से कहीं अधिक उल्लसित होकर जिन्दगी का मजा उठाता है। 'जिन्दगी और जोंक' का रजुआ मौका पाते ही घर में काम करने वाली नौकरानी से ''सलाम हो भौजी समाचार है न और पागलराम को उंगली पकड़कर एकांत में ले जाने का सुख प्राप्त करता है। वह ढींचू-ढींचू हंसकर अपना उल्लास

प्रकट करता है। इसी बात को ध्यान में रखकर अमरकांत के प्रशंसक कहते हैं कि उन्होंने प्रेमचन्द की परंपरा को आगे बढ़ाया है।''[3]

अमरकांत में जहाँ अपनी कहानियों के माध्यम से भारतीय समाज के सच को बहुत ही संवेदनात्मक तरीके से चित्रित किया है, वहीं उन्होंने बच्चों के लिए भी काफी मात्रा में लेखन किया है। अमरकांत ने बच्चों को केन्द्र में रखकर कई रचनाएं लिखीं, जिनमें प्रमुख हैं– नेऊर भाई, वानर सेना, खूंटा में दाल है, सुग्गी चाची का गाँव, दो हिम्मती बच्चे इत्यादि। 'वानर सेना' अमरकांत का बाल उपन्यास है। सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन को केन्द्र में रखकर इस उपन्यास की रचना की गई है। इस आंदोलन को केन्द्र में रखकर एक भारी-भरखम उपन्यास भी अमरकांत ने लिखा है जिसका शीर्षक है–'इन्हीं हथियारों से'। इसमें अमरकांत 1942 के आंदोलन में उत्तर प्रदेश के कस्बाई जिला बलिया की भूमिका पर विस्तार से चर्चा करते हैं। यद्यपि 1942 ई. का विद्रोह सफल नहीं हुआ, क्योंकि बिना नेतृत्व वाली असंगठित और निहत्थी जनता साम्राज्यवादी सरकार की बड़ी शक्ति से जीत नहीं सकती थी। लेकिन जहाँ तक भारत छोड़ो आंदोलन में बलिया के लोगों की भागीदारी का सवाल है, उन लोगों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। जिस दिन बंबई में कांग्रेस के नेताओं को गिरफ्तार किया गया, उसी दिन यह खबर बलिया के लोगों के बीच फैल गई। दूसरे दिन बलिया के सारे विद्यालय बंद रहे और विद्यार्थी राष्ट्रभक्ति के नारे लगाते रहे। 11 अगस्त को आम जनता तथा छात्रों द्वारा एक जुलूस निकाला गया और उस दौरान हुई बैठक के तहत लोगों को आह्वानित किया गया कि वे लोग ब्रितानी सरकार द्वारा दी गई चुनौती को स्वीकार करें। धीरे-धीरे स्वतंत्रता सेनानियों ने महत्वपूर्ण संस्थानों को अपने कब्जे में ले लिया। लेकिन पुलिस द्वारा की गई प्रतिशोधात्मक कार्रवाई ने लोगों को हिंसा का मार्ग अपनाने पर मजबूर कर दिया। बलिया गजेटियर के अनुसार, ''लोगों के हिंसात्मक रुख ने जिला-प्रशासन को भी भयभीत कर दिया जो कि पंचायती व्यवस्था को पूरे जिले में लागू करना चाहते थे।''[4] 20 अगस्त तक लोगों ने पूरे शहर को अपने हाथों में ले लिया। बलिया के प्रसिद्ध नेता चितू पाण्डेय को इसका प्रधान बनाया गया। लेकिन बलिया की आजादी ज्यादा दिन तक टिक नहीं सकी। लगभग 10 दिन के बाद ब्रिटिश का शासन फिर स्थापित हो गया।

'वानर सेना' में बड़ी ही रोचक ढंग से सन् 1942 की क्रांति की छाया मिलती है। इतिहास के भारी भरकम तथ्यों और शब्दावलियों से दूर बच्चों की भाषा में ही इस उपन्यास की शुरुआत अमरकांत करते हैं–''क्या तुम आज वानर सेना का किस्सा सुनोगे? रामायण की कथा तो तुम जानते ही हो। जब राम ने लंका पर चढ़ाई की थी तो उनके साथ एक वानर सेना भी थी। इस युद्ध में वानर सेना ने राम की कितनी मदद की थी?''[5]

कहा जाता है कि बालक और बन्दर एक समान होते हैं। हमारे देश में अन्याय के खिलाफ और भी लड़ाइयाँ हुई हैं। महाभारत की लड़ाई भी ऐसी ही लड़ाई थी। हजारों वर्ष बाद ऐसी ही एक और लड़ाई लड़ी गई। इसको कहते हैं आजादी की लड़ाई। और जानते हो, इस लड़ाई में बच्चे भी शामिल हुए थे। आजादी की लड़ाई एक अनोखी लड़ाई थी। इसके सेनापति थे महात्मा गाँधी। इस लड़ाई में लाखों लोग शहीद हुए। लाखों जेल में ठूँस दिये गये। कई जगहों पर छोटे-छोटे बच्चे भी इस लड़ाई में शामिल हुए। आजादी की लड़ाई में काम करने वाले बच्चों के दल को वानर सेना कहा जाता था।''[5] भूमिका में इस उपन्यास की पृष्ठभूमि बताते हुए लिखते हैं–''सन् 1942 के आंदोलन में भारत के कई स्थानों में अंग्रेज सरकार खत्म हो गई। उत्तर-प्रदेश का बलिया जिला दस दिनों तक आजाद रहा। अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध इस लड़ाई में बलिया के बच्चों ने भी आगे बढ़कर भाग लिया। अनेक बच्चे जेल गए, डंडे खाये और कइयों ने हँसते-हँसते देश के लिए जान दे दी।''[6] यह उपन्यास परम्परागत कथा शैली में प्रस्तुत किया गया है। बीच-बीच में बच्चों के लिए नैतिक शिक्षा भी है। इतिहास और नैतिक बोध के सम्मिश्रण से इस उपन्यास को रचा गया है। जैसे अमरकांत लिखते हैं, ''हाँ गुलामी बड़ी खराब चीज है। भारत के लोग इसको बरदाश्त नहीं कर सकते थे। सन् 1857 के गदर की कहानी तुमने पढ़ी होगी। यह सिपाहियों और अन्य बहादुर भारतीयों का विद्रोह था। अंग्रेज सरकार ने इस विद्रोह को कुचल दिया। कुछ वर्षों बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बनी।''[7] बतकही के अंदाज में ही अमरकांत बलिया के उस आंदोलन को याद करते हैं–''और जानते हो, सन् 42 के आंदोलन में बलिया में भी अंग्रेज सरकार कुछ दिनों के लिए खत्म हो गई थी। उस समय बलिया कांग्रेस के अध्यक्ष थे चितू पाडेय। पंडित नेहरू ने चितू पांडेय को बलिया का शेर कहा था।''[8]

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र केदार है। केदार का परिचय देते हुए उपन्यासकार लिखते हैं– ''केदार पतला, गोरा और फुर्तीला था। वह नये दर्जे में गया था। पढने-लिखने में वह बुरा नहीं था। .... केदार की उम्र लगभग तेरह वर्ष की होगी।''[9] केदार का बड़ा भाई इलाहाबाद में इंटरमीडियेट की पढ़ाई करता था। केदार ने बड़े भाई की पुस्तकों से एक

पुस्तक चोरी थी। वह पुस्तक भी गाँधी जी की आत्मकथा। जब घर के सारे लोग सो जाते तो वह लालटेन की रोशनी में उस पुस्तक को पढ़ता। गाँधी जी एक साधारण बालक थे। पर सच्चाई के रास्ते पर चलकर वह इतने ऊँचे उठे। जो सच्चाई पर चलता है वह अन्याय का मुकाबला करता है। गाँधी जी ने इंगलैंड और दक्षिण अफ्रीका में अन्याय का विरोध किया। अब वे भारत की आजादी के लिए आंदोलन कर रहे थे। गाँधी जी की इस जीवनी का केदार पर गहरा असर पड़ा। वह सोचने लगा–''वह क्यों गाँधी की तरह नहीं बन सकता? वह देश की आजादी के आंदोलन में भाग नहीं ले सकता?''[10] वह यह सोच कर डर गया कि उसने भाई को बिना बताए, चोरी-चुपके किताब उठाई। वह गाँधी जी की कहानी से इतना प्रभावित हुआ कि चोरी की बात भाई से बताई। वह यह सोचता रहा कि अगर वह यह बात नहीं बताएगा तो आजादी की लड़ाई में कैसे शामिल होगा। गाँधी जी के जीवन दर्शन सत्य और अहिंसा को इतने बाल-सुलभ ढंग से अमरकांत ने प्रस्तुत किया है कि वह बच्चों को सहज ग्राह्य हो जाएगा।

केदार अपने दोस्तों की एक मंडली बनाता है। सभी दोस्त देश के लिए कुछ करना चाहते हैं। पर क्या करें? यह बात समझ में नहीं आती। इस बीच सभी बच्चे मिलकर एक पुस्तकालय खोलते हैं। क्रांतिकारियों के बारे में जानकारी होने पर इन बच्चों को यह बात समझ में आ गई थी कि ज्ञान ही मुक्ति की कुंजी है। इस बीच भारत छोड़ो आंदोलन छिड़ गया। इन बच्चों की टोली ने पर्चा लगाने का काम अपने जिम्मे लिया। इस घटना का बहुत ही रोचक तथा बालकोचित वर्णन अमरकांत ने इस उपन्यास में किया है। एक बच्चा जिसका नाम डलरू था वह स्टेशन पर पर्चा लगाने गया परन्तु डर के मारे वह पर्चा बीच में ही फाड़ दिया और फिर स्टेशन का चक्कर लगाकर वापस आ गया। केदार रात में स्कूल में पर्चा लगाने गया। रास्ते में घने पेड़ थे।। वह अपनी माँ और दादी से भूत की कहानी सुन चुका था। उसे लगा कि पेड़ पर भूत है। वह भागने लगा। ''लेकिन कुछ दूर भागने पर केदार का मन उसको धिक्कारने लगा, गाँधी जी तो किसी से डरते नहीं थे। उसके बड़े भाई ने एक बार कहा था कि भूत-वूत कुछ नहीं होता। अगर उसके भाई नहीं डरते तो वह क्यों डरता है? इस तरह वह डरता है तो वह देश की सेवा क्या करेगा?''[11] वह रुक गया और आगे बढ़ा। इस प्रकार केदार का डर खत्म हुआ और वह रात के अंधेरे में स्कूल में पर्चा लगाने से सफल हुआ।

इन बच्चों की उम्र कम होने के कारण अंग्रेजी सरकार को इन पर संदेह नहीं होता और ये बच्चे क्रांतिकारियों की मदद किया करते थे। क्रांतिकारी चरित्र नंदलाल इस वानर सेना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहता है- ''वानर सेना बनाकर तुम लोगों ने अच्छा किया। तुम लोग विद्यार्थी हो। तुमको खूब पढ़ना चाहिए। हाँ, देश की आजादी में तुमको मदद करनी चाहिए। तुमको जुलूस में शामिल होने की जरूरत नहीं। हम तुमसे कुछ कम काम लेंगे। तुम पर सरकार संदेह नहीं करेगी। कभी कोई पर्चा कहीं पहुँचा दिया। कहीं कोई सन्देश पहुँचा दिया। कभी कहीं से पैसा ला दिया। समझ गये न? तुम कभी-कभी मिलना।"12

बलिया में दस दिनों की आजादी के बाद अंग्रेजी सरकार फिर से बहाल हो गई थी। शहर के सभी नेता गिरफ्तार कर लिए गए। वानर सेना के कई सदस्य भी गिरफ्तार हुए। सूरज नाम का वानर सैनिक की पुलिस पिटाई से मौत हो गई। उपन्यास के अंत मे वानर सेना के महत्त्व को ऐतिहासिक बताते हुए अमरकांत, लिखते हैं- ''वानर सेना के लोग कभी पीछे नहीं रहते। जब समाज पर संकट आता है, देश की आजादी को खतरा पैदा होता है, किसी पर अन्याय होता है, तो बच्चे वानर सेना बना लेते हैं और अपने देश का मस्तक ऊँचा रखने की कोशिश करते हैं।''[13]

इस प्रकार अमरकांत ने अपने बाल-साहित्य से कई रोचक तथ्यों और उद्देश्यों को खेल-खेल में अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

संदर्भ

1. न्युगी वा थ्योंगो, भारतीय लेखक (पत्रिका) सं. भीमसेन त्यागी, नोएडा, उ. प्र. जुलाई-सितम्बर, 2006, अंक-4, पृ. 15
2. विश्वनाथ त्रिपाठी, वही, पृ. 40, *3.* वही, पृ. 40,
4. बलिया जिला गजेटियर, पृ. 36
5. अमरकांत, वानर सेना, प्र. कृतिकार, इलाहाबाद सं. 1992, पृ. 05, *6.* वही, भूमिका, पृ. 3, *7.* वही, पृ. 7
8. वही, पृ. 09, *9.* वही, पृ. 09
10. वही, पृ. 11, *11.* वही, पृ. 19
12. वही, पृ. 28, *13.* वही, पृ. 38

डॉ. इन्दू कुमारी
एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, माता सुंदरी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110002
फोन - 9873405194

मुंशी प्रेमचन्द की कहानियों में सामाजिक अवधारणा

—डा. नीलम देवी

हिन्दी साहित्य में अनेक साहित्यिक विधाओं का समावेश है यथा—गद्य विधा, कहानी विधा, उपन्यास विधा, निबन्ध विधा, संस्मरण विधा, आत्मकथा विधा तथा काव्य विधा आदि। उपरोक्त समस्त विधाओं में कहानी विधा सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सर्व रुचिकर है। कहानी विधा के माध्यम से मनुष्य अत्यल्प समय में ही मनोरंजन एवं आनन्द की अनुभूति कर लेता है। ब्रह्माण्ड के समस्त प्राणियों में मनुष्य ही एक ऐसा विकसित और समझदार प्राणी है जो सर्व गुण सम्पन्न प्राणी माना गया है। कहानी शब्द साहित्य, कला एवं स्वरूप की दृष्टि से अत्यधिक विस्तृत शब्द है, इसे परिभाषा के बंधन में बाँधना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। कहानी एक ऐसी रचना है जिसका कार्य मानव जीवन के अंगों अथवा मनोभावों को जाग्रत करना होता है। कहानी शब्द के अर्थ को समझने के लिए कुछ शब्दकोषों में इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है :

नालंदा विशाल शब्द सागर में कहानी का अर्थ इस प्रकार व्यक्त हुआ है—''कहानी (संज्ञा, स्त्रीलिंग) (हि.) - कथा, किस्सा, आख्यायिका, मिथ्या वचन, झूठी या मनगढंत बात, जोड़ना, रचना तथा बनाना आदि।''[1] अशोक मानक विशाल हिन्दी शब्दकोष में कहानी शब्द का अर्थ इस प्रकार है—कहानी (स्त्रीलिंग) मन से गढ़ा हुआ या किसी वास्तविक घटना के आधार पर प्रस्तुत किया हुआ विवरण, कथा, किस्सा, आख्यायिका, झूठी या मनगढंत बात आदि।''[2] बृहत् हिन्दी शब्दकोष में कहानी शब्द का अर्थ इस प्रकार वर्णित हुआ है—कहानी (स्त्रीलिंग) कथा, वृत्तांत, आख्यायिका, उपन्यास के ढंग की छोटी रचना जो प्रायः एक ही घटना या परिस्थिति को लेकर लिखी गयी हो, मन से गढ़ी अथवा उपजायी हुई बात।''[3]

कहानी शब्द का शाब्दिक अर्थ है कहना। किसी विशेष घटना को रोचक ढंग से वर्णन करने की क्रिया को कहानी कहते हैं। इसी आधार पर यदि कहानी का नामकरण कथा दिया जाये तो इसमें अतिशयोक्ति की बात नहीं सिद्ध होती है। ऐसा इसलिए है कि कथा शब्द का पर्यायवाची कहानी है। कहानी और कथन के अर्थ में अन्तर है। कथा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है परन्तु कहानी का क्षेत्र सीमित होता है। कथा में समस्त प्रकार की लम्बी कहानियों एवं उपन्यासों का समावेश होता है, परन्तु कहानी में लघु कथाओं को ही समावेशित किया जाता है। कहानी में किसी कथानक या घटना का होना अनिवार्य नहीं है। मुंशी प्रेमचन्द को हिन्दी कथा सम्राट की पदवी प्रदान की गयी है। प्रेमचन्द जी एक ऐसे

कथाकार हैं जिन्होंने अपने कथा साहित्य को युग चेतना की गहराई से अभिव्यक्त ही नहीं किया वरन् प्रभावित भी किया है। हिन्दी साहित्य जगत में मुंशी प्रेमचन्द जी को कहानी साहित्य का जनक कहा जाता है। इनकी लोकप्रियता का कारण रचना प्रक्रिया न होकर अभिव्यक्ति की व्यापकता है। प्रेमचन्द ने अपने कहानी संग्रह 'सोजे वतन' में विदेशी सत्ता के विरुद्ध ही नहीं बल्कि समाज के तथाकथित ठेकेदारों और सामन्तों के विरुद्ध भी जमकर अपनी लेखनी के माध्यम से लोहा लिया है। मुंशी प्रेमचन्द जी का व्यक्तित्व स्वामी दयानन्द सरस्वती, टालस्टाय, गोर्की, मार्क्स एवं मिसेज एनीबेसेन्ट के विचारों से प्रभावित रहा है। आपका कहानी साहित्य तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों का यथार्थतः चित्र उपस्थित करता है। सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था के खिलाफ जनमत को प्रभावित करने वाले कथाकारों में मुंशी प्रेमचन्द का स्थान है।

भारतीय समाज के यथार्थ का सफल चित्रण अपने साहित्य में मुंशी प्रेमचन्द ने प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सुधारवादी पुनर्जागरण कालीन आन्दोलनों को आत्मसात् करते हुए समाज का उचित मार्गदर्शन भी प्रस्तुत किया है। मुंशी प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में भारतीय समाज की बहुकोणीय समीक्षा की है जिनमें सामाजिक विद्रूप का समावेश है उन बिन्दुओं की गहनता से जाँच-पड़ताल करके उनको विधिवत् चित्रित किया है। उन्होंने यदि प्राचीन कुप्रथाओं का विरोध किया है तो वहीं नवीनता के गुण-दोषों का परीक्षण करके ही स्वीकृति प्रदान की है। नारी शिक्षा के प्रति वे जागरूक एवं पक्षधर हैं, परन्तु नारी शिक्षा की पद्धति अर्थात् पाश्चात्य शिक्षा के धुर विरोधी हैं क्योंकि यह पद्धति भारतीय संस्कृति के अनुरूप नहीं है। नौकरी पेशा महिलाओं के प्रति उनकी दृष्टि उदार नहीं है। नौकरी पेशा महिलाओं के प्रति उनकी दृष्टि उदार नहीं है। उनका मत है कि सामन्ती व्यवस्था हमारे देश की प्रगति के हित में नहीं है। वे औद्योगीकरण जाल के प्रति भी सतर्क हैं क्योंकि इससे भारत ' शिक्षा प्रधान देश' की संज्ञा खो देगा। इसके अतिरिक्त ग्रामीण संस्कृति और नगरीय संस्कृति में हो रहे आमूल-चूल परिवर्तन में उनकी दृष्टि नीर-क्षीर के समान है। वे इस परिवर्तन के धुर विरोधी हैं। उनकी दृष्टि समान विचारों और समानता पर आधारित है, भेदभाव की नीति पर नहीं। इन्हीं व्यापक विशेषताओं के कारण प्रेमचन्द का समस्त लेखन आज भी प्रासंगिक एवं लोकप्रिय है। उनका साहित्य चेतना का प्रमाण है। प्रेमचन्द जी के कथा साहित्य में, विशेषतः कहानी साहित्य में कृषक, मजदूर एवं नारी वर्ग की समस्याओं का सूक्ष्म अंकन हुआ है।

'मुंशी प्रेमचन्द के कथा साहित्य में सामाजिक अवधारणा' का तात्पर्य यह है कि कथा साहित्य का सामाजिक विश्लेषण। नालंदा विशाल शब्द सागर में अवधारणा शब्द का अर्थ इस प्रकार है–निरूपण, विचारपूर्वक निर्धारण (विश्लेषण) अथवा निश्चय आदि।''[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक अवधारणा का तात्पर्य उस विद्वान के साहित्य में समाज की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति का आलोचनात्मक विश्लेषण आदि। आलोचना की समस्त पद्धतियाँ अपने व्यावहारिक रूप में पाठक और विश्व से किसी न किसी प्रकार अवश्य सम्बन्धित हैं। इसमें कृति का अध्ययन कृतिकार, पाठक समुदाय और विश्व के सापेक्ष किया जाता है। आलोचना या विश्लेषण करने की चार पद्धतियाँ हैं। यथा–अनुकरण मूलक पद्धति, बुनियादी उपयोगिता पद्धति, अभिव्यंजनापरक पद्धति तथा वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त पद्धति। इनके अतिरिक्त एक आलोचना या विश्लेषण पद्धति ऐसी भी है जो कृति का अध्ययन और उसका मूल्यांकन, कृति के बाह्य प्रसंगों से सम्बन्ध न रखकर, कृति को उनसे विलग करके करती है। इसमें कृति का कृति के अंगों के आपसी आन्तरिक सम्बन्धों तक सीमित करके विवेचन होता है।''[5] इसे वस्तुनिष्ठ आलोचना का सिद्धान्त कहा जाता है। यह उतना ही प्राचीन है जितना कोई अन्य सिद्धान्त। ''वस्तुनिष्ठ आलोचना की विशेषता यह है कि इसमें गुण-दोष विवेचन पूर्व निर्धारित परम्परागत प्रतिमानों के आधार पर नहीं होता है।''[6] विशेष बात यह है कि इसी सिद्धान्त या पद्धति पर वर्तमान आलोचना आधृत है। इस पद्धति के माध्यम से साहित्य के रूपवादी दृष्टिकोण की स्थापना मानी जाती है।

प्रेमचन्द जी ने अपने कथा साहित्य विशेषकर कहानी साहित्य में सामाजिक अवधारणा के अन्तर्गत समग्र दृष्टि से सामाजिक विश्लेषण को प्रस्तुत किया है। वे नारी और पुरुष वर्ग को मात्र एक ही वर्ग में स्थान देते हैं। हालाँकि, उनका साहित्य कृषकों, मजदूरों और नारियों, सामंतों, पूँजीपतियों, सरकारी नौकरशाहों एवं विदेशी शासक वर्गों का पूर्णतया विश्लेषण प्रस्तुत करता है परन्तु उनकी दृष्टि दीन-दुखियों, लाचार मजदूरों, विश्व के कृषक मजदूरों की ओर अधिक दृष्टिपात करती है।

प्रेमचन्द जी की कहानियों का कालखण्ड सन् 1907 ई. से लेकर सन् 1936 ई. के मध्य का है। एक प्रकार से उन्होंने परतंत्र भारत की दशा का वर्णन तीक्ष्ण एवं पैनी दृष्टि से प्रस्तुत किया है। उनका पूर्व का नाम धनपतराय तथा नवाबराय था यह नामोल्लेख उनकी उर्दू भाषा में

सृजित कहानियों के आधार पर प्रमाणित होता है। हिन्दी भाषा में रचित साहित्य में उन्होंने अपना नाम प्रेमचन्द निर्धारित किया है। ''उर्दू भाषा में सर्वप्रथम सृजित कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' यह कहानी 'जमाना' में सन् 1907 ई. में प्रकाशित हुई थी। उपरोक्त कहानी 'सोजे वतन' कहानी संग्रह में समावेशित है। इस रचना को अंग्रेजी सरकार ने प्रतिबन्धित कर दिया था। उर्दू में प्रकाशित कहानी संग्रह इस प्रकार हैं–प्रेम पचीसी, खाक परवाना, प्रेम बत्तीसी, प्रेम चालीसा, फिरदौसे खयाल, दूध की कीमत, वारदात, परवाज खयाल, खाके खयाल, नजात तथा आखिरी तोहफा आदि।''[7]

हिन्दी भाषा में प्रेमचन्द जी ने सन् 1917 ई. में 'सप्त सरोज' शीर्षक से प्रथम कहानी संग्रह की रचना की थी। प्रेमचंद जी के कहानी संग्रह इस प्रकार हैं। यथा– ''नवनिधि, प्रेमपूर्णिमा, प्रेम पचीसी, प्रेम दादमी, प्रेम निधि, प्रेम चतुर्थी, प्रेम प्रसून, प्रेम प्रतिमा, प्रेरणा समाधि, प्रेम पंचमी, कफन, गल्फ गुच्छ, ग्राम्य जीवन की कहानियाँ, नवजीवन, नारी जीवन की कहानियाँ, पाँच फूल, मृतक भोज, प्रेम पीयूष, प्रेम कुंज, सप्त सुमन, प्रेम सरोवर, प्रेम गंग, कुत्ते की कहानियाँ, जंगल की कहानी, ठाकुर का कुआँ, समर यात्रा तथा अन्य कहानियाँ तथा मान सरोवर (आठ भाग) आदि। प्रेमचन्द की कहानियाँ माधुरी, हंस, सरस्वती, प्रभा, प्रेमा, माया, जागरण, स्वदेश, मर्यादा, आरती तथा विशल भारत आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं।''[8]

साहित्य क्षेत्र की दिशा में प्रेमचन्द जी का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने इस कार्य को निःस्वार्थ भाव से प्रतिपादित किया है। इस प्रतिदान में उन्हें किसी प्रकार की कामना नहीं थी। ''जनता को उठाने वाला जब स्वयं मिट जाता है तभी वह सम्मान पाता है।''[9] प्रेमचन्द परम्परागत सामन्तवादी शोषण के विरुद्ध थे। प्रेमचन्द के साहित्य में इस शोषण का यथार्थ चित्रण दृष्टिगोचर होता है। सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत सदैव नारी को भोग्य की वस्तु माना गया है, परन्तु प्रेमचन्द जी की दृष्टि में नारी भोग्या नहीं है। इसी संदर्भ में हंसराज रहबर का लेख इस प्रकार है–''प्रेमचन्द नारी के अधिकारों के बारे में सदा सजग रहे हैं। राजपूतों की सामंती व्यवस्था में नारी को कोई अधिकार नहीं प्राप्त था। प्रेमचन्द जी को यह बात अखरती है और वह कहते हैं कि बेटी बिना सींगों की गाय है। माता-पिता उसकी रक्षा करते हैं और किसी के भी पल्ले बाँध देते हैं।''[10] इस प्रकार नारी के दर्द को व्यक्त करने का अपने साहित्य के माध्यम से उन्होंने सफल प्रयास किया है। मुंशी प्रेमचन्द जी के समस्त रचना साहित्य में उनका रचना-विषयक दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है। वे समाज की समस्त समस्याओं को अपने साहित्य में स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं। प्रेमचन्द जी की कहानियों का फलक अत्यन्त व्यापक है जो जीवन और जगत के समस्त पक्षों को अपने में समाहित करता है। उनमें आम आदमी के प्रति हमदर्दी है। वे क्रमशः यथार्थ की ओर अग्रसर होते हैं कहानी कफन तक आते-आते उनके पात्र नग्न यथार्थ के कठोर धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। कल्पना प्रसूत आदर्श की दुनिया बिखर जाती है, उनका स्वप्नलोक नष्ट हो जाता है। वे उस समाज का दर्शन करवाते हैं जिसमें रात-दिन मेहनत करने वालों की स्थिति घीसू-माधव से भी बदतर है। इसके अतिरिक्त उस समाज का भी दिग्दर्शन स्पष्ट करते हैं जिसमें जीवित प्राणियों के प्रति नहीं, वटिक मुर्दों के प्रति सम्मान है।

प्रेमचन्द जी ने दहेज-प्रथा, नारी-शिक्षा, वैवाहिक कुप्रथा, राष्ट्रीय जागरण में नारी की भूमिका, बंधुवा मजदूरी, शराब-बन्दी, जातिवाद, हरिजन शोषण, मृतक-भोजन, मिल मालिक, मजदूर सम्बन्ध तथा स्वदेशी और विदेशी आदि विषयों को सूक्ष्मता एवं गम्भीरता के साथ व्यक्त करने का साहसपूर्ण कार्य अपने साहित्य में किया है।

संदर्भ

1. नालंदा विशाल शब्द सागर, सं. श्री नवलजी, पृ. 220
2. अशोक मानक विशाल हिन्दी शब्दकोश, सं. शिवप्रसाद शास्त्री, पृ. 130
3. बृहत् हिन्दी कोश, सं. कालिका प्रसाद, पृ. 233
4. नालंदा विशाल शब्द सागर, सं. श्री नवलजी, पृ. 96
5. The Mirror and The Lamp- H.M. Ambross, P. 26
6. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, 1973, पृ. 30-9
7. प्रेमचन्द के कथा साहित्य में नारी समस्याएं, डा. सौ. मेहरदत्त, पृ. 10
8. वही, पृ. 10-11
9. प्रेमचन्द घर में, श्रीमती शिवरानी देवी, पृ. 204
10. प्रेमचन्द : जीवन और व्यक्तित्व, श्री हंसराज रहबर, पृ. 204

निर्मल वर्मा के निबंधों में उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श

—डा. राजकुमार राजन

निर्मल वर्मा का साहित्य उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श का दस्तावेज है। उनके निबंधों में भारतीय संस्कृति का उल्लेख भारतीय सभ्यता का इतिहास है। वह इतिहास भारत का स्वर्ण युग है। यद्यपि सामान्य बोलचाल में जिसे हम इतिहास कहते हैं, वही इतिहास निर्मल वर्मा के यहाँ नहीं है बल्कि इतिहास के जगह वे स्मृति और मिथकों को रखते हैं। उनके चिन्तन में इतिहास की भूमिका प्रतिपक्ष की है। निर्मल वर्मा के चिन्तन में इतिहास प्रतिपक्ष की है। निर्मल वर्मा के चिन्तन में इतिहास समय की गति में मौजूद रहा है, जहाँ कोई भी घटना अतीत न होकर अपने आप को दोहराती रहती है। यही कारण है कि भारतीय सभ्यता बोध में मिथकों/स्मृतियों का आविष्कार और संचालन होता रहा है। ''भारतीय दृष्टि में इतिहास का कथ्य पहले से ही लिखा जा चुका है, जहाँ कोई घटना नई और हर घटना नहीं है और हर घटना में मनुष्य अपने को दुहराता है।''[1] स्मृति निर्मल के प्रिय प्रत्यय हैं, उनका साहित्य स्मृतियाँ की प्रामाणिकता है। उनका चिन्तन स्मृतियों में जीता है। स्मृति उनके लिए जीवन की एक जिजीविषा है। दूसरी तरह वे इतिहास बोध को बीसवीं शताब्दी के विध्वंसक यथार्थ का कारक घोषित करते हैं। इतिहास-बोध ने जिस आर्थिक मनुष्य की परिकल्पना की है, वह मनुष्य यांत्रिक मनुष्य है और यह यांत्रिकता पूँजीवादी देशों के लिए अंतरिक्ष, प्रकृति, पृथ्वी संकट का सबसे बड़ा कारण है। हम यह मानते हैं कि इतिहास का मानवीय विकास में बड़ा योगदान है। इतिहास वर्तमान से दिशा-निर्देशित करता है, और भविष्य की चुनौतियों का समाधन भी। लेकिन निर्मल वर्मा के लिए वह उपयोगी नही हैं। ''इतिहास उन प्रहारों का तो उल्लेख करता है, जो मनुष्य पर होते हैं, उन घावों का नहीं जो वे उसकी आत्मा पर छोड़ जाते हैं।''[2]

निर्मल वर्मा के चिन्तन में इतिहास और स्मृतियों की टकराहट उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श की देन है। उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श एडवर्ड सईद की पुस्तक 'ओरियन्टलिज्म' की प्रस्तावना है। उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श पूर्व को अंधविश्वासी, अतार्किक, अमानवीय, बर्बर और अशिक्षित घोषित कर कैसे पश्चिमी चिन्तकों ने अपनी सांस्कृतिक वर्चस्व स्थापित करने का प्रयास किया, इसका उल्लेख करता है। यह विमर्श यह मानता है कि पूर्व के देशों में आजादी के इतने वर्षों बाद भी नव-औपनिवेशिक वर्चस्व से आज भी जूझ रहे हैं। ''निर्मल वर्मा एक उत्तर-औपनिवेशिक लेखक और चिन्तक हैं। आवश्यक नहीं है कि के लेखन को स्वीकार ही करें, लेकिन इतिहास का अपना तकाजा है।''[3]

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श का एक प्रमुख स्तम्भ है। सांस्कृतिक राष्ट्रवादी के समर्थक रचनाकारों में निर्मल का नाम उल्लेखनीय है। इसलिए निर्मल पर बार-बार दक्षिणपंथी/बाबाओं का आरोप भी लगते रहते हैं। दरअसल निर्मल वर्मा का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चिन्तन समग्रता, सामंजस्य और सम्पूर्णता की साधना है। उपनिवेशवादी दौर में भारतीय संस्कृति में कितना आघात पहुँचाया यूरोपीय ने निर्मल के चिंतन का यह प्रारम्भिक बिन्दु है। यही कारण है कि उनके साहित्य को उत्तर-औपनिवेशिक कहा जाता है। ''उनका साहित्य और चिंतन उत्तर-औपनिवेशिक समाज में कुछ बहुत मौलिक प्रश्न और चिंताएँ उठाता है, एक व्यक्ति-लेखक की गहरी बौद्धिक और आध्यात्मिक विकलता व्यक्त करता है और भारतीय परंपरा और पश्चिम की चुनौतियों के द्वंद्व की नई समझ देता है।''[4] सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर फासीवाद और धर्म पर अत्यधिक बल देने से साम्प्रदायिकता का उन्माद एक-दूसरे समस्या को जन्म देती है। यह उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श की कुछ सीमाएँ हैं। लेकिन निर्मल वर्मा के चिंतन में संस्कृति की जो गहराई है, वह उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श का अतिरेक है। संस्कृति से जुड़ा धर्म की जो व्याख्या निर्मल की चिंतन में है, वह दूसरे चिंतकों के लिए एक चुनौती है।

धार्मिकता मनुष्य के अपने भीतर के आत्मशून्यता को भरने का एक ठोस उपक्रम है, अपने अधूरेपन के एहसास को समूचे सृष्टि के साथ सामंजस्य भी है। निर्मल के लिए धर्म मनुष्य का बाहरी आवरण नहीं है बल्कि आंतरिक अभ्यातंरण है, आंतरिकता कभी गलत दिशा नहीं दिखाता इसलिए निर्मल वर्मा हर धर्म की व्यवस्था को पवित्रता में देखते हैं। वे कहते हैं, धार्मिक संकीर्णता ही साम्प्रदायिकता का कारण है, व्यक्ति एक-दूसरे धर्म को नहीं जानते हैं, इसलिए धार्मिक उन्माद फैलता है, यदि सभी एक-दूसरे धर्मों को सही ढंग से जानने लगेंगे तो धार्मिक उन्माद फैल ही नहीं सकता है। ''एक मंदिर या गुरुद्वारा सिर्फ पूजा के स्थान नहीं है, वे चार सीमाओं के बीच पवित्र समय से रूपायित करते हैं...एक ऐसा स्थान - जहाँ पहुँचते ही हमारा बिखरा हुआ, विश्रृंखलित, औसत जीवन एक असाधारण सत्य पर बिंध जाता है...मेरी भटकती हुई आत्मा इसी गिरजे, गुरुद्वारे, राजघाट के भीतर ही स्थिरता ग्रहण कर पाती है।''[5] अंततः निर्मल वर्मा जिस भारत को पाना चाहते हैं, धर्म उसका अभिन्न अंग है।

निर्मल वर्मा भारतीय संस्कृति पर गहन विचार प्रस्तुत किया है, साथ ही पश्चिमी संस्कृति का भी। यह विचार उनकी पुस्तक 'भारत और यूरोप : प्रतिभूति के क्षेत्र' में उद्धृत है। वे मानते हैं कि पश्चिमी संस्कृति जहाँ बुद्धिवाद, अतिश्य विकासवाद, यांत्रिकता, प्रकृति का विनाश से गुजर रही है, उसके विकल्प के रूप में वे भारतीय संस्कृति को प्रस्तुत करते हैं। भारतीय संस्कृति का 'प्रकृति का साहचर्य' पश्चिमी संस्कृति का विकल्प हो सकता है। वे यही नहीं रूकते अपितु प्रकृति को जीवन के पर्याय के रूप में देखते हैं। यह उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श की परिणति है। निर्मल वर्मा का सम्पूर्ण चिंतन यूरोप को समस्याग्रस्त कर भारतीय संस्कृति को उसके जगह प्रस्तुत करते हैं। उनका चिंतन यूरोप के संकट की पहचान करता है, उसके संकटों से विश्व से बचाना चाहती है ''निर्मल वर्मा यूरोप को समस्याग्रस्त कर भारत को बचाना चाहते हैं लेकिन क्या वह भारत बच सकता है?...दो सौ साल का औपनिवेशीकरण रक्त में बैठ गया है, आप अपने लक्षित आलोचना के विषय को अपने से बाहर नहीं रख पाते और अपनी ही आलोचना करते हुए एक आत्महत्या की स्थिति की ओर दौड़ सकते हैं और पीड़ित हो सकते हैं। अपने भीतर घुसे यूरोप को खत्म करना यही निर्मल का ऑपरेशन यूरोप है।''[6] निर्मल वर्मा स्वातंत्र्योत्तर भारत को विशुद्ध भारतीय संस्कृति को शुद्धिकरण करना चाहते हैं लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न है क्या भारतीय संस्कृति औपनिवेशिक संस्कृति से आजाद हो सकती है। यह असंभव-सा दिखता है, आज यहाँ मॉल-कल्चर, उपभोक्तावादी संस्कृति, बाजार इस हद तक भारतीय प्रकृति में अपनी जगह बना चुकी है क्या ऐसे में जीवन के हिस्से से अलग करना ठीक वैसा ही नहीं होगा, जैसे किसी कपड़े के दाग से हटाने के प्रयास में कपड़े का क्षत-विक्षत हो जाना। सैद्धांतिक रूप में यह सोच व वैचारिकी आरक्षित तो लगता है लेकिन व्यावहारिता में यह असंभव सा दिखता है।

निर्मल वर्मा समूचे भारत को समस्याग्रस्त करने के कारकों में उपनिवेशवादी ढाँचे को मानते हैं, वह चाहे गरीबी, ऊँच-नीच का भेदभाव या कोई अन्य समस्याएँ। लेकिन यह आरोप लगाकर वे भूल जाते हैं कि भारत उपनिवेशवादी शक्तियाँ के आने के पहले क्या पूरी तरह से कलुषित था। ''हमारी संस्कृति में पश्चिम का हस्तक्षेप इतिहास का हस्तक्षेप था, जिसके परिणामस्वरूप एक भारतीय के भीतर एक अजीब उन्मूलन बोध और जीवनी की व्यथा पैदा हुई।''[7] निर्मल वर्मा यहाँ तक ही नहीं रूकते हैं वे रहते हैं कि आज भारतीय संस्कृति जिन संकटों से गुजर रही है, वह संकट प्राकृतिक परिवेश का विनाश,

साम्प्रदायिकता का भीषण उन्माद, विकास और विस्थापन की समस्या, भाषा की समस्या इन सबके मूल कारणों में उपनिवेशवादी शक्तियों के हस्तक्षेप को ही मानते हैं।

भारतीय सभ्यता बोध में औद्योगिक क्रांति असम्भव थी। यह औद्योगिक क्रांति पर्यावरण संकट का सबसे बड़ा कारण है। दूसरी तरफ विकास की मॉडल जो पश्चिमी संस्कृति से लिया गया, उस पर निर्मल वर्मा बड़ा प्रश्न चिह्न उठाते हैं। वे मानते हैं कि विकास की अंधी दौड़ में बहुत कुछ ऐसा छूट गया जो कभी भारत की समस्याएँ नहीं थी, लेकिन हमने पश्चिम के अंधा-अनूकलता में अपनी मूल सभ्यता ही खो दी है। वे अपने चिन्तन में भारत की खोज करते हैं और प्रागैतिहासिक काल बोल को स्थापित करना चाहते हैं। वे अपने निबंधों में गाँधी के 'हिन्द स्वराज' का जिक्र करते हुए, भारतीय समस्याओं का समाधान गाँधी के चिन्तन में ढूंढ़ते हैं। वे गाँधी से आलोक ग्रहण करते हैं। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति पर विचार करते हुए वे अक्सर महात्मा बुद्ध, व्यास, बाल्मीकि, कालिदास, विवेकानंद, अरविन्द, अज्ञेय और रेणु को याद करते हैं। निर्मल वर्मा भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जो समस्याओं का समाधान गाँधी में ढूँढ़ते है क्या वह समाधान सच्चाई में हो सकता है, यदि उनके चिंतन में यह समाधान है तो इस पर गहन विचार-विमर्श की जरूरत है, यह विचार उत्तर-औपनिवेशिक युग का यथार्थ हो सकता है। यह अनुसंधान का विषय है।

उत्तर-औपनिवेशिक युग में साहित्य-कला की प्रासंगिकता पर बार-बार प्रश्न उठाया जाता है। निर्मल के चिन्तन में साहित्य एवं कलाओं पर गहन विचार-विमर्श हुआ है। वे यह स्वीकार करते हैं, साहित्य और कलाएँ मनुष्य से उसके 'आत्म' से परिचित कराती हैं। मनुष्य के आध्यात्मिक बोध को साहित्य ही जिंदा रख सकता है। यांत्रिकीकरण के इस युग में जहाँ मनुष्य अपनी संवेदनाओं से विलगित हो गया है, जीवन के यथार्थ से कट चुका है, वह जीवन के रस से स्वादहीन हो चुका है। वहाँ साहित्य एवं कलाएँ प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करती है और जीवन की वास्तकिता से अवगत कराती है।

निर्मल वर्मा का चिंतन उपनिवेशपूर्व भारत से 'सम्पूर्णता' में देखता है। जिस भारत में इतिहास का हस्तक्षेप नहीं था बल्कि उसके जगह मिथक/स्मृतियाँ थीं। क्या निर्मल से यह नहीं पूछा जाना चाहिए था, उपनिवेशपूर्व भारत में क्या ऐतिहासिक समस्याएँ नहीं थीं? सामंतवादी व्यवस्था में भारतीय सभ्यता में स्त्रियों, दलितों और शूद्रों की जो समस्याऐं थीं क्या वह अमानवीय नहीं थी। यहाँ आकर निर्मल का चिंतन मौन हो जाता है।

उत्तर-औपनिवेशिक युग में भाषा की पहचान एक अनिवार्य पहलू है। निर्मल यह मानते हैं कि भाषा सिर्फ संवाद का ही माध्यम नहीं है बल्कि भाषाओं के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अपनी परम्पराओं का एक अनिवार्य सीढ़ी है। भाषा आत्मउत्खनन का एक सशक्त माध्यम है, औपनिवेशक भाषा ने भारतीय संस्कृति को विकृत किया है। किसी भी राष्ट्र के निर्माण में उसकी अपनी भाषा की अनिवार्यता उस राष्ट्र की राष्ट्रीयता की पहचान होती है। इस तरह निर्मल वर्मा औपनिवेशिक भाषा के प्रतिरोध में खड़े हैं।

अन्ततः निर्मल वर्मा अपने चिंतन में जिस 'सम्पूर्ण भारत' को पाना चाहते हैं, धर्म उसका एक अभिन्न हिस्सा है। लेकिन धर्म के नाम पर होने वाले उन्माद से कैसे बचा जा सकता है, यहाँ निर्मल का चिंतन मौन है। निर्मल वर्मा के निबंधों में उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श का चिंतन मौजूद है, जो गहन चिंतन की राहें देख रही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. इतिहास, स्मृति और आकांक्षा, पृ. 18
2. वही, पृ. 12.
3. पल-प्रतिपल, जुलाई-सितम्बर, 2001, पृ. 136
4. निर्मल वर्मा, सं. अशोक वाजपेयी, पृ. 5
5. शताब्दी के ढलते वर्षों में, निर्मल वर्मा, पृ. 5
6. मधुमती, सुधीश पचौरी, सितम्बर, 2000, पृ. 32
7. शताब्दी के ढलते वर्षों में, निर्मल वर्मा, पृ. 145

राजकुमार राजन
एसोसिएट प्रोफेसर
शहीद भगत सिंह कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

कबीर के काव्य का लोकधर्म और दलित चेतना

–डॉ. रमा शंकर सिंह

संत काव्य परम्परा के प्रतिनिधि कवि कबीर के काव्य का लोकधर्म जीवन के व्यावहारिक दशाओं से उपजा है। इनका अनुभव समाज अथवा इतिहास में से गुजरते हुए संवेदनशील मनुष्य का अनुभव है। वे उपेक्षित, शोषित, बहिष्कृत, अशिक्षित, शास्त्रज्ञान से रहित किन्तु संस्कारवान रचनाकार हैं, जो श्रमिक वर्ग से जुड़े हुए थे। कबीर इतिहास के विषम परिस्थितियों में जिए थे। इतिहास के उन विषम परिस्थितियों ने ही इनके व्यक्तित्व को विसंगति से लड़ने का साहस प्रदन किया था। चेतना और व्यवहार की निरंतर लड़ाई ने इनकी वाणी को जीवंतता एवं उर्जस्विता प्रदान की है। उनकी वाणी में निहित काव्य एवं व्यवहार संबंधी सिद्धांत अपने जीवन के अनुभव के आधार पर बने हैं और उन सिद्धांतों को जो उनका लोकधर्म हैं, इन्होंने अपने आचरण में अपनाया है। कबीर के जीवन-संघर्ष का अध्ययन करते हुए डॉ. राम गोपाल शर्मा 'दिनेश' जी कहते है कि ''कबीर जनसामन्य की अनुभूतियों के सच्चे कवि हैं। वे लोककण्ठ से लोकहृदय तक जाते हैं और जन-जन की वाणी बनकर उन्हीं के आकाश में गूंज उठते हैं। उनके लिए कविता जीवन का पर्याय बन जाती है। अपनी अद्भुत प्रतिभा आवरणों को भेदकर वे जीवन की सच्ची तस्वीर खींच लाते हैं। इस तस्वीर में केवल जन का स्थान सुरक्षित होता है, विशिष्ट जन जो शोषण पर जीवित हैं एवं उनकी अनगढ़ रेखाओं से स्वतः कट जाता है। बहुत ईमानदारी से वे हर वर्ग, हर धर्म और स्थिति के उस विशिष्ट जन का बहिष्कार करते हैं, जो जनसामान्य के उत्पीड़न में संलग्न है।''[1]

कबीर की वाणी में जो विचार आए हैं वे भी समतामूलक हैं। सद्भाव आत्मभाव के गर्भ से पैदा हुए हैं। उनमें समाहित चेतना लोकवादी और समतामूलक हैं। कबीर का सारा सोच आत्म-परमात्म की दिशाओं वाला होने से कहीं, किसी प्रकार का भेद नहीं मानता। कबीर मात्र उपदेशक नहीं थे, अपितु जनजीवन में व्याप्त 'राम' को चेताते हुए विश्वसनीय सामाजिक चरित्र निर्माण की दिशा में प्रयत्नशील रहे हैं। चेतना से जुड़ा हुआ उनका 'राम' ही इनके सामाजिक चरित्र की कसौटी रहा है। कबीर के काव्य का चिंतन करते हुए डॉ. चमन लाल जी कहते हैं, ''आधुनिक दलित साहित्य ने भी अपनी पहचान समाज के विकृत जातिगत ढाँचे के प्रति अपना आक्रोश जताकर की है। इस संदर्भ में आधुनिक दलित साहित्य की जड़े कबीर और रविदास की वाणी में देखी जा सकती हैं। इसलिए इस तथ्य को यहां

रेखांकित किया जा सकता है कि सही मायनों में कबीर और रविदास हिंदी दलित साहित्य के अग्रदूत हैं। उत्तर भारत के दलित साहित्य का आरम्भ कबीर और रविदास से माना जाना चाहिए और वहीं से दलित साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाना चाहिए।''[2]

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्तर पर दलित विमर्शकारों ने कबीर को नायक के रूप में सामने लाकर खड़ा किया है। कबीर को दलित नायक के रूप में सामने लाने का पहला प्रयास डॉ. धर्मवीर ने किया, बाद में डॉ. धर्मवीर को इस काम में अन्य दलित विमर्शकारों का साथ और समर्थन मिला। डॉ. धर्मवीर की इस संदर्भ में प्रकाशित प्रथम महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'कबीर के अलोचक' है, जिसमें उन्होंने विभिन्न हिन्दूवादी आलोचकों, हिन्दूवादी मानसिकता की गिरफ्त से कबीर को बाहर निकालने के लिए शत-प्रतिशत प्रयत्न किया है। वास्तव में डॉ. धर्मवीर का लेखन और 'कबीर के अलोचक' पुस्तक एक विध्वंसात्मक पुस्तक है, जो हिन्दूवादी सोच को ध्वस्त कर कबीर को एक दलित नायक के रूप में उभारने का भरपूर प्रयास करती है। विभिन्न हिन्दू आलोचकों ने कबीर की व्याख्या करते हुए यह लिखा कि विभिन्न मुस्लिम आक्रमणों से कबीर ने हिन्दुओं को बचाना चाहा तब डॉ. धर्मवीर ने उन पर आक्रमण कर कबीर को दलितों का नायक घोषित किया, जो पूर्णतया दलितों की हितों की रक्षा के लिए आग्रही था। डॉ. धर्मवीर लिखते हैं–''आज के सभी ब्राह्मणवादी विचारक एक स्वर से घोषित करते हैं कि कबीर ने हिन्दुओं को मुसलमानों के धार्मिक आक्रमण से बचाया था। सच यह है कि कबीर ने अपनी दलित जातियों को मुसलमानों और हिन्दुओं के दोहरे आक्रमणों से एक साथ बचाया था।''[3]

डॉ. धर्मवीर के इस वक्तव्य में 'अपनी' शब्द गौर करने लायक है। यह 'अपनी' शब्द आज के दलितों को कबीर से जातिगत स्तर पर एक करता है। डॉ. धर्मवीर ने कबीर के चिंतन को बाबा साहेब अम्बेडकर से जोड़कर एक परम्परा बनाने की कोशिश की है। यह निस्संदेह अपनी सुदृढ़ परम्परा की खोज और विभिन्न नायकों को उस परम्परा में स्थापित करने की ही एक जबरदस्त कोशिश है। डॉ. धर्मवीर लिखते हैं–''कबीर का चिन्तन कहीं लुप्त नहीं हो गया है बल्कि वह डॉ. अम्बेडकर के रूप में पूर्ण रूप से सुरक्षित है। डॉ. अम्बेडकर ने कबीर के इस चिंतन को और भी व्यापक आयाम देकर बौद्ध धर्म की महान वेद-विरोधी परम्परा से जोड़ दिया।''[4] इस रूप में देखें तो डॉ. धर्मवीर ने एक पंक्ति में कहा है–''कबीर दलित समाज का नेतृत्व कर रहे थे।''[5]

डॉ. धर्मवीर द्वारा किये गये कबीर के इस दलितवादी पाठ के उपरान्त हिन्दी समाज में काफी विवाद चला। डॉ. धर्मवीर कबीर के दलित पाठ के लिए दलित विमर्श की वैचारिकता को आधार बनाते हैं। यहाँ यह देखना जरूरी है कि दलित विमर्श की वैचारिकता दलितों के हित में जो बातें कहती है और डॉ. धर्मवीर जिस तरह कबीर का दलितवादी पाठ तैयार करते हैं उसमें कबीर पूरी तरह फिट बैठते हैं या नहीं?

समकालीन दलित आत्मकथाओं की तर्ज पर कबीर किसी न किसी रूप में पीड़ा व्यक्त करते हुए मिल जाते हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि कबीर के यहाँ जातिवाद और उसके आधार पर विभेदीकरण का घोर निषेध है। कबीर ने साफ तौर पर इस बात को मानने से इनकार कर दिया कि ऊँची जाति में महज जन्म लेने से ही कोई मनुष्य ब्राह्मण होकर श्रेष्ठ हो जाता है। उन्होंने ब्राह्मण और दलित जाति में भेद नहीं मानते हुए जन्म आधारित इस विभेदीकरण को स्वीकार करने से साफ इनकार कर दिया। कबीर ने साफ कहा– *''उत्पत्ति व्यंद कहां थैं आया/ जोति धरी अरू लागी माया//नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा/ जाका प्यंड ताहीं का सींचा//जो तु बांभन बाभनी जाया/ तो आन बाट हवै काहे न आया//जे तू तुरक तुरकनी जाया/ तौ भीतरि खतना क्यूं न कराया//''*[6] कबीर ने अपने यहां किसी भी वर्ण को ऊँचा नीचा नहीं माना। उन्होंने साफ-साफ कहा है कि सभी का इस धरती पर जन्म एक ही तरह से हुआ है, इसलिए सब बराबर हैं। अगर कोई जन्म से बड़ा होता तो उसका जन्म का रास्ता भी कोई और होता। कबीर ने अपने यहाँ जाति व्यवस्था पर खुलकर प्रहार किया है– *''ऊँचे कुल क्या जनमिया/ जे करणी ऊँच न होई/''*[7] *'सकल बरण एकत्र हवै/ समति पूति मिल खाहि/''*[8] *''एक बूंद एकै मल मूत्र/ एक चाम एक गूदा/एक जोति थै सब उतपना कौन ब्राह्मण कौन सूदान/''*[9]

कबीर के चिंतन में जाति-वर्ण का कोई स्थान नहीं था, इसमें कोई शक नहीं था। कबीर खुद निचली जाति से आये थे, इसलिए उनके अन्दर इस घृणित व्यवस्था के खिलाफ एक तीक्ष्ण रोष होना जायज भी है।

कबीर की कविता को हमारे देश की श्रम करने वाली, किसानी, कारीगरी, मजदूरी या जीविकोपार्जन के अन्य साधनों को स्वीकार करने वाली बहुसंख्यक जनता है। शुक्ल जी की परिकल्पना में कबीर लोकधर्म के विरोधी हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को कबीर का यह आचरण बुरा नहीं लगता। वे इसमें कबीर के 'अस्वीकार का साहस देखते हैं, उनके व्यक्तित्व का तेज पाते हैं और उनकी

साधना की गहराई और निष्ठा का प्रमाण पाते हैं। किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जहाँ कबीर के इस आचरण में शास्त्र और लोक का द्वन्द्व तो पहचान लेते हैं, उसे उभारते भी हैं, किन्तु उस द्वन्द्व को पहचान नहीं पाते जो कबीर के यहाँ लोक और लोक के बीच है। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक और डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र जी अपनी पुस्तक 'कबीर वचनामृत' में कहते हैं–''सन्त की सामाजिक चेतना की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है आम आदमी की जिन्दगी से जुड़ना। इसलिए उन्होंने अपने लोकधर्म को लोकमंगलकारी रूप प्रदान किया है। इसलिए वे अपनी वाणी में धर्म, व्यवस्था और पाखण्ड का विरोध बड़े उग्र स्वर में करते हैं।''[10] कबीर ने आचरण रहित ब्राह्मण को चोर कहा है–''ब्राह्मन ही सब कीन्हा चोरी/ब्राह्मन ही को लागत खोरी//''[11] जुलाहे को श्रेष्ठ कर्म नायक बताया है कि उसे मात्र एक जाति नहीं मानी–''अस जोलहा को मर्म न जाना/जिन्ह जग आनि पसारन ताना//''[12] और क्षत्री के बारे में उन्होंने कहा–''क्षत्री सो जो कुटुबहि जूझै/पाँचों मेटि एक कै बूझै//''[13]

कबीर के यहाँ धार्मिक सुधार और समाज-सुधार का घनिष्ठ संबंध लोक से है। धर्म सुधारक को समाज-सुधारक होना पड़ता है। कबीर ने भी समाज-सुधार के लिए अपनी वाणी का उपयोग लोक-समाज में किया है जिसका सीधा संबंध हाशिए के समाज से रहा है। हिन्दुओं की जाति-पाँति, छुआछूत, खान-पान आदि के व्यवहारों और मुसलमानों के चाचा की लड़की ब्याहने, मुसलमानी आदि कराने का उन्होंने चुभती भाषा में विरोध किया है और इनके विषय में हिन्दू मुसलमान की जी भरकर धूल उड़ाई है। हिन्दुओं के चौके के विषय में वे कहते हैं– *''एकै पवन एक ही पाणी करी रसोई न्यारी जानी/माटी सूँ माटी ले पोती, लागी कहौ कहाँ धूँ छोती/धरती लीपि पवित्तर कीन्हीं/ देति उपाय लीक बिचि दीन्हीं/याका हम सूँ कहो विचारा/ क्यूँ भव तिरिहौ इति आचार//''*[14] छुआछूत का उन्होंने इन शब्दों में खण्डन किया है– *''काहैं की कीजै पांडे छोति विचारा/ छोतिहिं ते उपना संसारा//हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसें दूध/ तुम कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद//छोति छोति करता तुम्हहीं जाए/ तौ ग्रभवास काहे को आए//जनमत छोति मरत ही छोति/कहै कबीर हरि की निर्मल जोति//''*[15] जन्म ही से कोई द्विज या शूद्र अथवा हिन्दू या मुसलमान नहीं हो सकता। उच्चता और नीचता का संबंध उन्होंने व्यवसाय के साथ नहीं जोड़ा है क्योंकि कोई व्यवसाय नीच नहीं है। अपने को जुलाहा कहने में संकोच नहीं किया और वे स्वयं आजीवन जुलाहे का व्यवसाय करते रहे। वे उन ज्ञानियों में से नहीं थे जो हाथ पाँव समेट कर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बनकर रहते हैं। वे परिश्रम का महत्त्व जानते थे और अपनी आजीविका के लिए अपने हाथों का आसरा रखते थे।

आज जब कबीर के काव्य का लोकधर्म और दलित चेतना पर बात हो रही है तब कबीर को सिर्फ दलित अस्मिता में बांधना ठीक नहीं है क्योंकि उनकी कविता लोक को केन्द्र में रखकर पूरे समाज का अध्ययन करती है। कबीर दलित विमर्श के लिए एक आदर्श हो सकते हैं, लेकिन वे सिर्फ दलित विमर्शकार बनकर रह जायें-ऐसा संभव नहीं है। डॉ. धर्मवीर ने जिस कबीर को डॉ. अम्बेडकर से तुलना करके यह बतलाने की कोशिश की है कि कबीर के यहाँ अम्बेडकर की तरह अन्य समस्याओं पर महज चिंता है जबकि उनका ध्येय मात्र दलित उद्धार ही नहीं था बल्कि सम्पूर्ण मानवता को स्थापित करना था। इस प्रकार स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि कबीर को सिर्फ दलितवादी पहचान में ही समेटना नहीं चाहिए बल्कि उनके काव्य में आये लोक धर्म की व्यापकता के असर को बड़े पैमाने पर देखा जाना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ

1. जनसामान्य में कबीर की लोकप्रियता, डॉ. राम गोपाल शर्मा, संस्करण, 2015, पृ.163
2. ओमप्रकाश बाल्मीकि का इतिहास बोध, कंवल भारती, बया, जन.-मार्च-2015, गाजियाबाद-05, पृ. 95
3. कबीर के आलोचक, डा. धर्मवीर, 1998, पृ. 42
4. वही, पृ. 41
5. वही, पृ. 101
6. कबीर साखी और सबद, पुरुषोत्तम अग्रवाल, सं. 2011, पृ. 196
7. वही, पृ. 171
8. वही
9. वही
10. कबीर वचनामृत (संपा), डॉ. विजेन्द्र स्नातक, डॉ. रमेश चन्द्र मिश्र, 1999, सं. च. पृ. 140
11. वही, पृ. 141
12. वही
13. वही
14. कबीर ग्रंथावली, श्याम सुन्दर दास, पृ. 35,
15. वही, पृ. 35

जुलूस (तेलुगू कहानी)

–बोय जंगय्या
अनुवाद–डॉ. राजू गाजुला

शहर के चौराहे पर अंबेडकर की मूर्ति खड़ी है। चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार ने जैसे ही मूर्ति के गले में फूल माला डाली, चारों ओर खड़े लोगों ने तालियाँ बजायीं।

''डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर''

''अमर रहे''

कार्यकर्ता कहता है, ''सारे गरीब (सर्वहारा)''

समूह ने कहा, ''एक होकर''

कार्यकर्ता ''अमीरों (सुसंपन्न) का अधिकार चलने नहीं देंगे''

समूह, ''नहीं चलेगा...नहीं चलेगा...''

लड़ने वाला उम्मीदवार आगे चल रहा था, डफली, पोंगों के साथ मेइन रोड से जुलूस जा रहा था ।

बाहर आ कर दुकानदार जुलूस को देखते हुए नारे सुन रहे थे। बाजार में लोग समूहों में बंट कर कानाफूसी कर रहे थे।

''लगातार तीन बार जीतने वाली पार्टी इस गाँव के लिए कुछ भी नहीं कर पायी थी। उस पार्टी को नकार कर क्षेत्रीय पार्टी के उम्मीदवार को जिताने से वह मुख्यमंत्री बन कर भी कुछ नहीं कर पाया। इस बार नया उम्मीदवार, नयी पार्टी है। 'देखते हैं' लोग एक-दूसरे से कह रहे थे।

इस बीच जुलूस रेवेन्यू ऑफिस पहुँचा। डफली, पोंगे रोककर नारे देते हुए लोग वहाँ के पेड़ों तले जमा हो गये। उम्मीदवार उसके साथ और चार लोग मिल कर ऑफिसर के कमरे की ओर चल पड़े।

तब तक सत्तारूढ़ पार्टी के उम्मीदवार रंगारेड्डि, बैंड बाजे के साथ आ कर नामांकन भरने के लिए वहाँ पहुँचे। नामांकन भरने के बाद ऑफिस के सामने वाले नीम के पेड़ के नीचे अपनी पार्टी के कार्यकर्ताओं के साथ खड़े हो कर

स्थिति के बारे में चर्चा कर रहे थे।

उससे पहले ही मित्र पक्ष की ओर से देव शर्मा नामांकन भर कर गये थे।

फिर से नारों की आवाज।

उम्मीदवार अंदर जा कर अपना नामांकन पत्र रिटर्निंग अधिकारी को सौंप कर, अखबारों के कैमरों की ओर हंसते हुए देखने लगा।

''तो आप ही हैं सत्याजी'' कहते हुए उम्मीदवार की ओर देखते हुए चुनाव अधिकारी नामांकन पत्र ले लेता है।

हाँ में अपना सिर हिलाते हुए धीरे से मुस्कुराए सत्याजी,

अधिकारी ने कहा, ''आपकी पार्टी की चर्चा अखबारों में देखते आ रहे हैं''

चेहरे पर मुस्कुराहट लिए कुर्सी से उठते हुए उसने कहा, ''इस बार सत्ता हमारी पार्टी के हाथों में आने वाली है।''

''यह प्रजातंत्र है।'' कहते हुए अधिकारी जरा सा हिला और फिर से बैठ गया।

बाहर नारे बाजी चल रही थी।

कार्यकर्ता, ''हासिल करेंगे...हासिल करेंगे...''

समूह, ''राज्याधिकार हासिल करेंगे...''

कार्यकर्ता, ''वोट हमारे...''

समूह, ''सीट हमारे...''

कार्यालय में काम करने वाले सभी लोग एक साथ बाहर आ कर उम्मीदवारों को देख रहे थे।

वहीं पर खड़े रामरेड्डी को उन नारों ने थोड़ा सा चिंतित कर दिया।

''हाँ, पहली बार यह नयी पार्टी है, जिसमें सभी जाति के लोग, मुख्य रूप से क्रिस्टियन्स और मुस्लिम अल्पसंख्यक इसी पार्टी में हैं। वास्तव में वोट सारे उन्हीं के हाथों में हैं, पता नहीं क्या होगा'' रेड्डि ने कहा।

''कुछ नहीं होगा, सत्तारूढ़ पार्टी को हराना कोई आसान बात है क्या?'' एक कार्यकर्ता ने कहा।

''नहीं कहा जा सकता'' एक और कार्यकर्ता ने कहा।

रामरेड्डी ने कहा, ''इस बार की स्थिति अलग है!''

***

वह नया बनाया गया महल है, चारों ओर प्रहरी दीवार है। कार जाने लायक गेट। अंदर लंबे-लंबे सागवान के पेड़ हैं।

सुबह का समय सत्याजी घर में ही रहेंगे सोचते हुए कॉलिंग बेल दबाया। बेल की आवाज पक्षी की आवाज सी थी ।

ऑफिस के कमरे से बाहर आते हुए मुझे देख कर सत्याजी...

''आइए, आइए'' कहते हुए सामने आकर अंदर ले गये।

''लगता है राजनीति उतर गए'' सत्याजी के इशारे से दिखायी गयी कुर्सी पर बैठते हुए कहा।

''उतरना नहीं चाहिए?'' कहते हुए सामने वाली कुर्सी पर बैठ गये।

''दोनों चलायेंगे''

''आप राजनीति में नये हैं, आप की पार्टी चुनाव में नयी है।''

''हर चीज पहले नयी ही होती है न?'' कहते हुए टीपाय पर रखे पेन को अपने जेब में रखते हुए, "थोड़ा मुश्किल है" कहते हुए अपने हाथ की एक साप्ताहिक अखबार को टी पाय के ऊपर रखा।

अखबार के मुख चित्र पर दृष्टि बदलते हुए...

''आप के लाये गये अखबार पर मेरे नेता की तस्वीर! प्रमुख पत्रिका के मुख पृष्ठ पर छाप रहे हैं तो आप को समझ में आ गया होगा...हमारे नेता के बारे में, बिखरे पड़े हम सबको एक नाव पर लाये हैं।'' कहते हुए सीधा मेरे चेहरे को देखते भवों को हिलाया।

''इस पार्टी पर मुझे भरोसा नहीं है।''

''पार्टी ने घोषित किया कि जीत के रहेंगे'' कहते समय छोटी सी जम्हाई लेते हुए मुंह पर अपना हाथ आड़े रख लेते हैं ।

''चुनाव में लड़ने वाली हर पार्टी कहती है कि जीतेंगे'' मैंने कहा। सत्याजी मेरी ओर एक तरह से देखने लगे।

''गलत मत समझिए, मैं जो जानता हूं वही कह रहा हूँ'' सीधे उनके चेहरे की ओर देखते हुए कहा।

''अपना-पराया सोचे बिना ही चुनाव लड़ेंगे क्या?''

''गिनती के दिन पेठी खोलने पर पता चल जायेगा।''

''वह पहले था'' अखबार में छपी अपने नेता की तस्वीर को बिना पलक झपके देखते हुए कहा।

''अब आप की पार्टी की क्या विशिष्टता है?''

''सब एक हो गये हैं, वोट अपने हाथ में है। हम ही सरकार बनायेंगे'' बायें हाथ की मुट्ठी बना कर मेज पर रखते हुए कहा।

''पहले वोट हमारे हाथ में नहीं थे?''

''थे लेकिन उस समय हमारे लिए राष्ट्रीय स्तर की पार्टी नहीं थी, राष्ट्रीय नेता भी नहीं था।''

''लेबर पार्टी, उसके बाद रिपब्लिकन पार्टी किस स्तर

के थे? उनके व्यवस्थापक डॉ. अंबेडकर राष्ट्रीय नेता नहीं थे ?''

बिना बात किए सत्याजी सोच में पड़ गये।

''वैसे आप को अपनी जनता के बारे में ठीक से नहीं पता, उन दिनों उन्हें ही नहीं जिता पाये थे''

''तब वे वोट की कीमत नहीं जानते थे इसीलिए बिक जाते थे।''

''तो अब क्या।''

''वैसा नहीं होगा, वोट की कीमत जान गये हैं।''

''नहीं ब्रदर, पहले का जमाना नहीं रहा, अब आप गाँवों में जा कर देखिये। बेगारी करने वाली सभी जातियाँ एकजुट हो गयी हैं। हम जिस किसी गाँव में जाते हैं डफली, पोंगों से स्वागत करते हैं। मजदूरी छोड़ कर बैठक में भाग लेते हैं ताकि किसी भी तरह राज्याधिकार पा सकें।''

स्वतंत्रता पा कर इतने साल हो गये। हमारी जिंदगी में कोई बदलाव नहीं आया।

एक गाँव में हजार वोट सबके होने पर भी उनमें से पचास वोट वाले रेड्डि जी जीत जाते हैं और कुछ गाँवों में दस वोट वाले वेलम या कम्मा (चौधरी) जीतते हैं। और कहा जाए तो सिर्फ एक घर वाले पुराने करणम् सरपंच! ऐसा हो जरूरी नहीं है। सौ की संख्या में वोट वाले हम यानी बहुजनों में से ही सरपंच बने ऐसा होना चाहिए। वैसे ही हजारों वोट वालों में से ही एम.एल.ए. होना चाहिए। उसी प्रकार लाखों वोट वाले वर्ग से ही एम. पी. होना चाहिए...

हर जगह यही लोग रह कर दिल्ली की गद्दी चढ़ कर राज्यशासन करने की जिद पकड़े हैं। कदम से कदम मिला कर चल रहे हैं। हमें आगे चला रहे हैं। इसीलिए अब की बार अपनी पार्टी की जीत होगी। आप भी हमारे पीछे रह कर जनता की आम सभाओं में आप की कविताओं के द्वारा लोगों को एक जुट कर जीत दिलाने की कोशिश करिए कहते हुए उत्तेजना भरा भाषण देता है।

''अपने लोग अभी एक जुट नहीं होंगे''

''आप देखते रहिए।''

''हम अपनी दौड़ को जारी रखेंगे'' कहते हुए उठते हैं सत्याजी।

''कविताएं कहने से याद आया...''

''कविताएं सुन कर मुट्ठी बाँधेंगे!''

भाषण सुन कर तालियाँ बजायेंगे!

चुनाव आने पर

यहाँ, वहाँ, कहाँ!

जीतने वाले के जुलूस में नाचेंगे कूदेंगे

***

पोलिंग के तीन दिन पहले सरकार ने प्रचार को रोक दिया। उम्मीदवारों के घरों से पतिंगों की तरह उड़ते नोट कार्यकर्ताओं के हाथों से होते हुए पोल की चिट्ठियों के मुंह में दब कर वोटरों के घरों में घुस गए।

उस दिन सारे पोलिंग टाउन में हलचल सी मची थी। उम्मीदवार हर बूथ का दर्शन कर मतदाताओं से मुस्करा कर बात करते हुए घूम रहे हैं।

जनता पोलिंग बुथों के पास क्यू में खड़ी थी। पोलिंग तेजी से चल रही थी।

रामरेड्डि जी, शर्मा जी, सत्या जी हर कोई अपने-अपने कार्यकर्ताओं द्वारा लाये गये समाचार से आराम की सांस ले रहे थे। बीच-बीच में खुद पोलिंग बुथों का दर्शन कर भरोसा बटोर रहे थे। वोटरों को उनके पूरे नाम से, पुराने रिश्तों से बात कर रहे थे ।

उस दिन सत्याजी के घर में चुनाव के बारे में, उनके चुनाव में खड़े होने के बारे में बात करने से पता नहीं क्या समझे होंगे, कभी सामने दिख जाने पर मुंह फेर ले रहे थे ।

जब मैं वोट डालने जा रहा था तब बीच में सत्याजी कार चलाते हुए सामने आए। रिक्शा बीच में आने पर रोक कर हॉरन बजा रहे थे।

तब मैं ठीक उनकी कार के डोर के आगे खड़ा रहा। बगल वाले व्यक्ति से गंभीरता से बात करते हुए मुझे देख कर भी अनदेखा कर चले गये। शायद उस समय उनकी कार के टायर में हवा ज्यादा थी, जरा सी स्पीड से ही उछल-उछल कर जा रही थी ।

सत्याजी अपने चेहरे पर जीत की खुशी को लिए कार चला रहे थे।

कुछ दूर चल कर बस गली में मुड़ा कि नहीं आगे से स्कूटर पर सत्याजी के कार्यकर्ता आए। मुझे देख कर पूछा, ''सर सत्याजी की कार इधर गयी क्या?'' गाड़ी का ब्रेक दबाते हुए उन्होंने पूछा। उसके स्कूटर पर झंडा नहीं था, सिर्फ लकड़ी थी। आदमी कुछ परेशान थे।

मैंने पूछा, ''क्या बात है।''

''दो नंबर वाले बूथ के पास, रामरेड्डि के लोगों ने अपने लोगों की पिटाई की।''

''बाहर वाले।''

''नहीं यहीं के, बहरपेट का चांद, चाकलि पेंटय्या, सुरिगि, मारय्या के सिर फोड़ दिये, सुक्करामुलु का हाथ टूट

गया। उन्हें अस्पताल भिजवा कर यही बताने के लिए मैं आ रहा था।''

मैंने कहा, ''अभी इधर गये हैं। शायद यहां दस नंबर का बूथ होगा न वहाँ मिल सकते हैं।''

''फिर मिलता हूँ।'' कहते हुए उसने गेयर बदला और वहाँ से चला गया।

''मारने वाले हमारे, मार खाने वाले हमारे, जो भी हो और ज्यादा न बड़े जैसा देखो'' कहा ।

गाड़ी निकल गयी। मेरा सर विचारों से भर गया।

***

टाउन हॉल में वोटों की गिनती चल रही थी। कारों में, जीपों में कार्यकर्ताओं की हलचल, बाहर ठेलों पर केले के गेलों के गेले होते चले जा रहे थे। जहाँ भी देखो पूरे मैदान में मूंगफली के छिलके ही छिलके थे! दोपहर में खाने की पुड़ियाँ अंदर जा रही थी। अंदर गिनती चल रही थी ।

वहाँ पर सोडे के शीशे, कोल ड्रिंक्स, चाय के गिलास अपनी हलचल करते जा रहे थे।

हर एक घंटे से लोगों में एक प्रकार का टेन्शन बढ़ता चला जा रहा था। जैसे-जैसे गिनती के राऊंड होते जाते, वैसे-वैसे लोगों के चेहरे का रंग बदल रहा था। हाल के सामने रखे बोर्ड पर देख रहे थे कि किसको कितने वोट मिले हैं।

वहाँ सारे आश्चर्य की नजरें, हंसमुख चेहरे, उतना ही नहीं, मुंह बंद कर लेने वाले। माथे पर हाथ रखने वाले आ-जा रहे थे। किसके वोट किसको गये!

किस पार्टी के वोट कौन सी पार्टी को मिले!

शाम हो गयी।

काउंटिंग हो गयी।

जीत का प्रमाण पत्र ले कर रामरेड्डि बाहर आता है। वहीं खड़े शर्मा जी आगे जा कर हाथ मिला कर बधाई देते हैं। रामरेड्डि, शर्मा के पेट तक सिर झुकाने पर शर्मा हंसते हुए उसका सर सहलाते हैं।

रामरेड्डि जी के कार्यकर्ता उन्हें जमीन पर चलने नहीं देते। उठा कर जीप में बैठा कर जीत के नारे लगाते हुए जुलूस की तरह ले कर चले जाते हैं। शर्मा जी अपने कार्यकर्ताओं के साथ जीप में अपने पार्टी कार्यालय की ओर चले गये। आखिर में हॉल से निकलने वाले सत्याजी के साथ चार-पांच कार्यकर्ता थे। वह खामोशी के साथ जा कर कार में बैठ गये।

कार घर की तरफ जा रही थी। बीच में चौरस्ते के पास रामरेड्डि का जुलूस आतिशबाजी करते हुए, बैंडबाजे के साथ जा रहा था। कार्यकर्ता नारे लगा रहे थे। लोग समूहों में तरह-तरह के नृत्य कर रहे थे। बैंड़ बाजे वाले हिंदी गाना सुना रहे थे। सबसे पहले ड़फलियाँ, पोंगो की आवाज गूंज रही थी।

वोट हमारे, सीट हमारे कहने वाले बहुत से लोग उस जुलूस में ही थे। कुछ लोग डांडिया और कुछ चिरकनी भजन, माथे पर कुमकुम, सारे शरीर पर गुलाल, हंसते, झूमते हुए लोग चल रहे थे।

रामरेड्डि मुस्कराते चारों ओर देखते हुए हाथ जोड़ कर सबका अभिवादन कर रहे थे। बीच-बीच में पार्टी के कार्यकर्ता, चाहने वाले फूल मालाएँ डाल रहे थे। कहीं-कहीं पर जुलूस रोक कर आतिशबाजी जला रहे थे। रामरेड्डि सिर झुका कर अभिवादन कर रहे थे। अचानक एक चाहने वाला फूलमाला की बजाए नोटों की माला ले आया।

रामरेड्डि की आँखों में नई चमक, बहुत ही विनम्रता से झुक कर उस माला को गले में डलवा कर डालने वाले उस व्यक्ति को सहलाते हुए, स्नेह भरी नजरों से देखता है।

वोट, सीट ही नहीं नोट भी आते देख कर सत्याजी असहजता के साथ हिलते हुए कहा, ''ड्राइवर कार को दूसरी सड़क की ओर घुमाओ'' कार कुछ दूर पीछे जा कर बगल की सड़क पर दौड़ने लगी।

''वोट हमारे-सीट हमारे'' का नारा बार-बार याद आने लगा।

***

वह कॉलेज का प्रांगण, ओपन स्टेज, उसके सामने कुर्सियाँ, स्टेज के ऊपर जाने के लिए बीच में से रास्ता छोड़ा गया था। अखबार वालों के लिए अलग।

''राज्य दलित साहिती सभाएँ'' नामक बैनर मंच पर बंधा था। जैसे सभी साहिती सभाओं में आते हैं, वैसे ही लोग इस सभा में भी आये। सभाध्यक्ष, अन्य कवि पंडित सभा में आसीन थे। सभा का उद्घाटन मुझे ही करना पड़ा।

''सभा को नमस्कार, सभाध्यक्ष, मंचासीन साहिती स्रष्टाओं और सभा में उपस्थित साहिती मित्रों, भाई-बहनों, विद्यार्थियों!

हम अपने विचारों को बांटने के लिए इस सभा का आयोजन कर रहे हैं। पहले हम किस ओर जा रहे हैं, इसका परिशीलन करना होगा। हमें किस ओर जाना है, इस पर विचार करना होगा। अपनी पिछड़ी जातियों के पितामह डॉ. अंबेडकर द्वारा रखे गये रिजर्वेशन्स को हम पा रहे हैं, उसका भोग कर रहे हैं। लेकिन उनकी पुकार को

भूल गये हैं। उनके विचारों को व्यवहार में नहीं ला पा रहे हैं।''

सभा में तालियाँ

''एजुकेट, ऑर्गनाइज, एजिटेट''

एजुकेट-अपने बारे में जानना, अपने चारों ओर रहने वालों के बारे में जानकारी रखना। चेतनशील बनना ।

ऑर्गनाइज- सारे दलित एक हो कर सर्वशक्तियों का समीकरण कर चलना, चार व्यक्तियों के साथ चलते हुए और चार लोगों को अपने साथ चलने की प्रेरणा देना।

एजिटेट- सैद्धांतिक रूप से वाद-प्रतिवाद के साथ स्वार्थ पूर्ण संस्कृति को, दुर्नीति का विरोध करते हुए, सामाजिक न्याय को हासिल करने के लिए, संघर्ष करना ।

''तो फिर भाइयों? एक बार फिर विचार करें।''

''हम कहाँ आचरण कर रहे हैं, जैसे उस महान व्यक्ति ने कहा? हम अगर आचरण करें, तो हमारी ऐसी दुर्गति क्यों हो? सोचिये, यह दुर्गति क्यों हमारे साथ लगी रहती है!''

''परसों हुए चुनाव में अंबेडकर के विचारों की स्फूर्ति से ही हम एक नयी पार्टी की स्थापना कर चुनाव लड़ें?''

''फिर रिजल्ट्स?'' ''राज्य में कोई एक भी उम्मीदवार जीता है? क्यों? क्यों?''

''वोट हमारे-सीट हमारे कहा था कम से कम डिपाजिट भी वापस नहीं आया! किसलिए?''

''क्षेत्रीय पार्टी की हवा'' जनता में से आवाज आयी ।

''सब हवाओं के खिलाफ खड़े रहना ही एकता है। ईमानदार ऑर्गनाइजेशन भाई! वहीं हमारे बीच कम पड़ गया। इसीलिए हम क्या बात कर रहे हैं, किस ओर जा रहे हैं फिर एक बार सोचने की विनती करते हुए मुझे यह अवसर देने वाले आयोजकों का शुक्रिया अदा करते हुए धन्यवाद'', कहते हुए बैठ गया।

उसके बाद एक प्रगतिशील लेखक बात करते हुए कह रहे थे कि सिर्फ मार्क्सिजम ही दलित-बहुजनों का मार्ग है।

उसके बाद एक क्रांतिकारी कवि ने बात की। क्रांतिकारी कविता में ही दलित चेतना है, अपनी कविता संकलन को कोटेश को अर्पित करता हूँ कहा।

कुछ युवक दलित गीत गाते हैं। घोषणा की गयी कि दूसरी सभा कल सुबह होगी।

तब तक वह सभा समाप्त हो गायी।

लेखक–बोय जंगय्या

अनुवाद–डॉ. राजू गाजुला
सहायक प्रोफेसर
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद-211002 उत्तर प्रदेश,
मो. 09059379268

प्रो. रजत रानी मीनू का साक्षात्कार

—डा. वंदना

प्रो. रजत रानी 'मीनू' वर्तमान हिंदी दलित साहित्य की एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनकी रचनाओं को पाठकों और आलोचकों के बीच खूब सराहा जा रहा है। न केवल हिंदी बल्कि देश-विदेश में उनके साहित्य पर अनुवाद एवं शोधकार्य भी जारी हैं। उनकी लेखनी में समाज की पर्त दर पर्त गहरी वास्तविकताएँ प्रकट होती हैं। अभी हाल ही में उन्हें भारतीय दलित साहित्य अकादमी द्वारा 'डॉ. अम्बेडकर नेशनल अवार्ड 2022' से नवाजा गया है। हिंदी साहित्य में दलित स्त्री और दलित विर्मश पर उनका यह साक्षात्कार डा. वन्दना ने लिया है।

1. वन्दना : हिंदी साहित्य में दलित स्त्री को क्या मुक्कमल स्थान मिल पाया है? दलित साहित्य में जिस सहानुभूति और स्वानुभूति की बात की जाती है, क्या उसे दलित स्त्री के संबंध में भी देखा जा सकता है?

रजत रानी मीनू : हिन्दी साहित्य में दलित स्त्री की बात सहानुभूति के तौर पर बहुत ही सतही रूप में यदाकदा होती रही है। प्रेमचन्द, पाण्डेय बेचन श्र्मा उग्र, पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला इत्यादि लेखकों ने दलित स्त्री के बाहरी रूप या यूं कहें कि समाज ने उसकी सामाजिक और आर्थिक और शैक्षिक जो दुर्दशा बना रखी थी, उसी रूप की झलक इनकी कुछ रचनाओं में देखने को यदाकदा मिल जाती है। उसके भीतर उमड़ते दर्द, उससे मुक्ति की भावनाएं, उसकी जीवन जीने की एक मनुष्य के रूप में क्या-क्या आकांक्षाएं हो सकती हैं, इन प्रश्नों पर तो चुप्पी पसरी है। दरअसल, समाज में वह उपेक्षित प्राणी है। हिन्दी साहित्य में उसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं गया। स्वयं सवर्ण स्त्रियों ने भी उनके दर्द को मनुष्य के रूप में नहीं समझा। सब अपना-अपना दर्द कह रहे थे। दलित स्त्री को शिक्षा, साहित्य से दूर रखा गया तो वह कहां से हिन्दी साहित्य में मुक्कमल स्थान पाती? वैसे भी, कोई किसी को अपनी जगह या मुक्कमल स्थान नहीं देता, न कोई किसी पर दया करता है। जिसकी जो समस्या होती है, उसे ही समाधान के लिए आगे आना पड़ता है। दुनिया में जो भी नई चेतना साहित्य के माध्यम से आई है या कोई नया विचार आया तो उन्हीं लोगों के द्वारा आया है जो इसके आकांक्षी थे। हिन्दी साहित्य या विश्व में दलित साहित्य या अश्वेत साहित्य के माध्यम से भी समझ सकते हैं। ये विचार अपनी पूरी ऊर्जा और समर्पण के साथ आया जिससे प्रगतिशील और उदारवादियों का ध्यान इस तरफ गया। दलित स्त्री साहित्य और उसको

जगह बनाने के बारे में भी लगभग इसी तरह की बात है। जब दलित स्त्रियां अपने स्वातंत्र्य विचार लेखन में पूरी ऊर्जा और समर्पण के साथ आ रही हैं तो दलित साहित्यकारों और गैरदलित साहित्यकारों का ध्यान उधर जा रहा है। प्रारम्भ में दलित स्त्रियों के लिए मुक्कमल स्थान कल्पनातीत बात थी। हालांकि, दलित और बहुजन समाजों से इनके लिए प्रयास होते रहे हैं जिनमें महात्मा ज्योतिबा फुले और साबित्री बाई फुले ने लड़कियों के लिए शिक्षा का जो बिगुल बजाया था वह इनके सपनों को पंख देने के समान ही था।

दूसरी बात जब दलितों को भी उनका हिन्दी साहित्य में उचित स्थान नहीं मिला तब दलित स्त्री तो उससे भी पीछे खड़ी है। संपूर्ण समाज का मानस ही ऐसा बना हुआ है कि दलित स्त्री की बात अलग से साहित्य में करना जरूरी नहीं है। स्त्रियां, स्त्रियां होती हैं। अब अलग से दलित स्त्री की बात कहां से आ गयी। इस तरह की सोच हिन्दी साहित्यकारों और आलोचकों और समीक्षकों में बनी हुई है। इसमें सवर्ण स्त्रियां-पुरूष और दलित लेखक भी इस सोच से अलग नहीं हैं। हां, दलित स्त्रियों पर केन्द्रित कुछ दलित लेखकों की अच्छी रचनाएं आई हैं, मगर उनकी मुक्कमल बात स्वयं दलित स्त्रियों के लेखन में आने के बाद ही शुरू हुई है। उन्हें उनका मुक्कमल स्थान आजादी के सत्तर साल व्यतीत हो जाने के बाद भी नहीं मिल पा रहा है। यह आश्चर्य जनक भी है और अफसोस जनक भी। वे अभी भी अपने समाज में भी दोयम दर्जे की प्राणी बनी हुई हैं। शिक्षा, स्वास्थ, खान-पान, इच्छा-अनिच्छा, घर परिवार के महत्वपूर्ण निर्णयों में उन्हें पीछे रखा जाता है। वह स्वयं भी अपने को पुरुषों के पीछे रहने की अभ्यस्त बनी हुई हैं। हां, रसोई और घर-परिवार की जिम्मेदारियां संभालना उसकी पहली जिम्मेदारी बनी हुई है। पुरुष ने भी मान लिया है कि स्त्री इसी काम के लिए बनी हुई है। वह हजारों वर्षों से इस काम में लगी हुई है इसलिए उसने इसमें महारत हासिल भी की है। मगर उसकी इस महारत का उसने हासिल क्या किया? वह मुफ्त की आजीवन सेविका बनी हुई है। उसे उसके श्रम और समय का न मूल्य मिल रहा है न समुचित सम्मान।

आपने इसी प्रश्न में सहानुभूति और स्वानुभूति का सवाल भी उठाया है। इस बारे में कहा जा सकता है कि यह दलित साहित्य की तरह ही दलित स्त्री के संबंध में भी देखा जाना चाहिए, क्योंकि स्त्रीत्व से जुड़ी और उसके मन को स्त्री ही अनुभव कर सकती है पुरुष उसकी बाहरी समस्या को देख कर उसके बारे में लिख रहे हैं।

2. वन्दना : यह तो बात हिंदी साहित्य में दलित स्त्री के चित्रण पर हुई। आप दलित साहित्य के भीतर दलित स्त्री के चित्रण को किस रूप में देखती हैं?

रजत रानी मीनू : दलित साहित्य में दलित स्त्री का चित्रण दलित रचनाकारों ने खूब किया है। लगभग सभी रचनाकारों ने कविता, कहानी, उपन्यास और आत्मकथा में दलित स्त्री पात्रों को चित्रित किया है। दलित साहित्य में दलित स्त्री का जो चित्रण दिखाई देता है वह उसके सामाजिक, शैक्षिक और जीवन की जद्दोजहद को दिखाता है। साथ ही जब स्त्री लिखती है तो वह स्त्री मन की परतों को भी खोलती है जिसमें दलित स्त्री जातिसत्ता के साथ पितृसत्ता के बंधनों में जकड़ी हुई दिखाई देती है। इससे उसकी कमजोर आर्थिक दशा का पता भी चलता है।

3. वन्दना : हिंदी साहित्य में दलित आत्मकथाओं ने हाल के वर्षो में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया है, लेकिन जब दलित स्त्री आत्मकथाओं पर बात करें तो उनकी संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती है। ऐसा क्यों?

रजत रानी मीनू : वन्दना आपका सवाल बहुत ही जायज भी है और जरूरी भी है। दलित साहित्यकारों ने लंबा समय इसमें लगाया है। दलित स्त्री लेखन खासकर हिन्दी क्षेत्र में अभी बहुत पुराना नहीं है। इसकी तुलना में कुछ आत्मकथा दलित लेखिकाओं ने लिखी हैं। फिर भी यह सवाल बनता ही है कि इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। इसके कारण लेखिकाओं के पारिवारिक और सामाजिक हैं। एक झिझक मन में है। उनका ईमानदारी से लिखना अभी थोड़ा कठिन है। वे जिस समाज में पली बढ़ी हैं, वह पितृसत्तात्मक समाज है। दलित समाज इससे मुक्त नहीं है। वह संतुलन बनाने की जद्दोजहद कर रही है। पिता और पति दोनों परिवार उसके प्रिय हैं और यहीं उसकी स्त्री चेतना के अंकुर फूटते हैं जो कभी-कभार उसकी विचार धारा के विपरीत होते हैं। वे दर्द भी देते हैं। वह उन्हें व्यक्त भी करना चाहती मगर झिझकती है। उसके समक्ष दलित पुरुष साहित्यकारों से ज्यादा रिस्क हैं। पारिवारिक और सामाजिक दबाव भी हैं। इन सबके बावजूद, कुछ दलित लेखिकाओं ने आत्मकथाएं लिखी हैं। कुछ ने ये रिस्क उठाये हैं।

4. वन्दना : भाषा, संस्कृति और अस्मिता के संदर्भ में दलित आत्मकथाओं में मौजूद दलित स्त्री को आप किस रूप में देख रही हैं?

रजत रानी मीनू : स्त्री भाषा और संस्कृति की संवाहक भी होती है और उसके द्वारा भाषा और संस्कृति संरक्षित भी होती है। इन दोनों से अस्मिताओं की पहचान भी की जा सकती है। दलित पुरुष रचनाकारों की आत्मकथाओं में दलित स्त्री का जो अक्स देखने को मिल रहा है, वह समाज से अलग नहीं है। जीवन की मूलभूत समस्याओं में ही उलझी हुई है। वही रूप उसका आत्मकथाओं में आ रहा है। हां, दलित स्त्री की आत्मकथाओं में स्त्री के दो रूप देखने को मिल रहे हैं। एक, समाज में वह जैसी कमजोर निरीह प्राणी हैऔर दूसरा, उसमें शिक्षा की भूख जाग रही है। शिक्षित होकर स्त्रीत्व की चेतना भी उसमें पैदा होती दिखाई देती है।

5. वन्दना : दलित साहित्य का स्त्रीवादी पाठ कितना जरूरी है? इसके लिए किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए?

रजत रानी मीनू : दलित साहित्य का स्त्रीवादी पाठ कई बिंदुओं से अत्यंत आवश्यक है। एक दलित समाज के विकास के लिए और दो पूरे समाज के विकास के लिए। दलित साहित्य के विकास के लिए भी स्त्रीवादी पाठ जरूरी है। मुझे यहां डॉ. भीमराव अम्बेडकर का वह कथन याद आ रहा है जो उन्होंन स्त्रियों के संबंध में कहा था 'किसी समाज के विकास का पैमाना उस समाज की स्त्री होती है।' दलित साहित्य के संदर्भ में स्त्रीवादी पाठ को इसी नजरिए से देखने और समझने की आवश्यकता है। स्त्री सिर्फ इसलिए जरूरी नहीं है कि वह घर और बच्चों को संभालती है। वह एक ऐसी मनुष्य के रूप में पूरी जीव उसी तरह की है जिस तरह का पुरुष है। आज दलित स्त्री लेखिकाओं की ओर से स्त्रीवादी विचार सामने आने लगा है। इसलिए दलित साहित्य में स्त्रीवादी पाठ को जरूरी पाठ के रूप में समझने की आवश्यकता है, तभी समाज का नजरिया बदलेगा और स्त्री का विकास सही रूप में हो पाएगा।

6. वन्दना : आज भी हिंदी साहित्य में दलित स्त्री की अलग से बात करने की जरूरत नहीं समझी जाती। ऐसे में, दलित स्त्री और गैर-दलित स्त्री के मुद्दों को आप किस रूप में देखती हैं?

रजत रानी मीनू : वन्दना आपने बहुत सही सवाल उठाया है। 'जाके पांव न फटी बिवाई , वो क्या जाने पीर पराई', वाली कहावत दलित स्त्री मुद्दों पर भी लागू होती है। सवर्ण समाज ने दलित स्त्रियों को अपनी चौखट पर नहीं चढ़ने दिया। उनमें सवर्ण समाज की स्त्री भी रही है। चाहे उसका जीवन अपने घर में कितना ही उपेक्षित अपमान भरा था, मगर वह स्त्री होने के नाते दलित समाज की बहिष्कृत स्त्रियों के साथ उसका व्यवहार उतना ही कटु और अपमान जनक रहा। अपने समाज के पुरुषों की तरह उसने भी जातिसत्ता को बढ़ावा दिया है। स्त्री स्त्री होने के नाते उसके मन में बहनापा नहीं आया। वह उनके साथ बराबर नहीं बैठ सकती थी। हां, उसकी सेविका बन कर जरूर रही है। शिक्षित उच्चशिक्षित और लेखन कार्य से जुड़ी स्त्रियां भी दलित स्त्रियों की आवाज नहीं बन सकीं। हां, अब कुछ लेखिकाओं ने दलित लेखिकाओं के लेखन को पढ़ना अवश्य शुरू किया है मगर प्रतिक्रिया वे कम ही देती हैं। यानी नकार की स्थिति बनी हुई है।

7. वन्दना : दलित स्त्री के दोहरे शोषण की बात सामने आ रही है, आप इसे किस रूप में देखती हैं? अपनी रचना-प्रक्रिया के विषय में भी बताते हुए आप अपने संघर्षों को लेखन के दौरान किस रूप में देखती हैं?

रजत रानी मीनू : ठीक कहा आपने दलित स्त्री दोहरे ही नहीं तिहरे या कहें कि मल्टीपिल शोषण की शिकार होती है। वह जातीय आधार पर, आर्थिक आधार पर, लिंग के आधार पर और दलित समाज में पितृसत्ता के आधार पर और भी न जाने कितने प्रकार के शोषण को सहती है। वह पितृसत्ता और जातिसत्ता और आर्थिक सत्ता और शैक्षिक जगत में भी वह सबसे पीछे खड़ी है।

मेरी रचना- प्रकिया के बारे में भी आपने जानना चाहा है। इस बारे में मेरा कहना है कि हमारे चारों ओर जो घटनाएं घटती हैं वे ही रचना का रूप लेती हैं। लेखन के दौरान मुझे दूसरे समाजों की अपेक्षा बेहतर माहौल मिलता है। मगर हम रहते तो इसी पितृसत्तात्मक और जातिसत्तात्मक समाज में। उसकी छाया से कैसे दूर हो सकते हैं?

8. वन्दना : आपके लेखन पर पाठकों, शोधार्थियों के बीच काफी चिंतन, अध्ययन और शोध हो रहा है और यह राष्ट्रीय ही नहीं बल्कि वैश्विक स्तर पर चर्चा के विषय में है। हाल ही में आपकी कहानियों का कई विदेशी भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। इस रूप में अपनी उपलब्धियों को देखते हुए आप दलित स्त्री के वैश्विक होते स्वर को किस परिदृश्य में देखती हैं?

रजत रानी मीनू : वन्दना जी किसी भी रचनाकार की

रचनाओं पर पाठक, शोधार्थी जब शोध करते हैं। वह भी वैश्विक स्तर पर शोध हो रहा हो तो इससे रचनाकार को सुकून मिलना स्वाभाविक है। यह उसके लेखन की सार्थकता के संकेत भी हैं। यह खुशी की बात भी है और दुख की भी। खुशी इसलिए कि हमारा स्वर का विस्तार हो रहा है। दुख इस बात का कि दलित स्त्री आजादी के 72 सालों के बाद भी आजाद नहीं हो पाई है। उसकी सामाजिक, शैक्षिक, और आर्थिक स्थितियां अत्यंत कमजोर हैं। वह व्यवस्था की शिकार रही है। आज दलित स्त्री का स्वर वैश्विक होता है तो यह उसकी मजबूती और साहस का प्रतीक भी है।

9. वन्दना : दलित स्त्री लेखन और साहित्य के मूल या जड़ों को आप कहाँ पाती हैं? वे कौन सी आधारभूत नींव है जिस पर आप दलित स्त्री लेखन की मजबूत इमारत को खड़ा देखती हैं?

रजत रानी मीनू : दलित स्त्री लेखन और साहित्य के मूल जड़ों के बारे में आपने जानना चाहा है। इस बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि दलित स्त्री चेतना लेखन की जो शुरुआत इतिहास में साबित्रीबाई फुले ने की थी, उसमें भले ही दलित स्त्री कहीं नहीं थी, मगर स्त्री चेतना की सुगबुगाहटों ने दलित स्त्री को भी चेतना देने का कार्य किया है। वह अपने हिस्से की बात जो छूट गयी थी वह कहने का साहस कर रही है। इससे स्त्री चेतना की इमारत भी मजबूत होगी और दलित स्त्री का भवन भी बनने की ओर अग्रसर हो रहा है। इस ओर अनेक नई संभावनाएं दिखाई दे रही हैं। यह सुखद भी है और जरूरी भी है।

10. वन्दना : दलित स्त्री लेखन के भविष्य को आप कैसा देखती हैं? वे कौन सी चुनौतियाँ हैं जिन्हें आप इसके समक्ष पाती हैं?

रजत रानी मीनू : हमें यह उम्मीद रखनी ही चाहिए कि दलित स्त्री लेखन का भविष्य उज्ज्वल है। यह निराधार नहीं है। अनेक विरोध और सुगबुगाहटों के बावजूद, दलित स्त्री लेखन और उसके स्वर को सुनने के लिए बौद्धिक वर्ग स्त्री-पुरूष दोनों कान लगाए हुए हैं। इसके अलावा इस ओर हमारी नई पौध रुचि ले रही है, वह पढ़ रही है और बढ़ भी रही है। इस बारे में सोच रही है और लिख भी रही है। बशर्ते उसके समक्ष अनेक चुनौतियां हैं। वह दलित चेतना और दलित स्त्री चेतना की जड़ों को नहीं भूले और छोटी-छोटी महत्वाकांक्षाओं को पालने के बजाए समाज में अपना योगदान देने का प्रयास करे। इसके लिए उसका सुशिक्षित होना बहुत जरूरी है। यहां मैं सामाजिक शिक्षा की बात कर रही हूं। वरन्, दलित जाति से संबद्ध अनेक स्त्रियां ऐसी रही हैं, जिन्होंने बड़ी डिग्रियां लीं मगर उपयोग अपनी शादी तक सीमित कर दिया। इस तरह उन्होंने अपनी शिक्षा का सही उपयोग नहीं किया। यह चेतना की बात है। सामाजिक जागरूकता आनी चाहिए और समाज को 'पे बैक टू सोसाइटी' की सोच बनने की आवश्यकता है। यह सोच दलित स्त्रियों में ही क्यों दलित समाज के पुरुषों में भी बहुत कम है। शिक्षा को नौकरी पाने का मात्र साधन मान लिया है। माना कि आज की शिक्षा का पाठ्यक्रम इसी तरह का है। मगर अपने इतिहास और अपने समाज के समाज सुधारकों, चिंतकों को पढ़ने सीखने की आवश्यकता है। यह चुनौतियां दलित स्त्रियों के समक्ष भी हैं। इनका सामना उन्हें करना होगा तभी सही मायने में दलित स्त्री चेतना का लेखन कार्य हो पायेगा ।

डॉ. वंदना
असिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ), हिन्दी विभाग
श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय, दिल्ली
विश्वविद्यालय
मो.-8178190409

रिपोर्ट

प्रो. रजत रानी 'मीनू' को डॉ. अंबेडकर नेशनल अवार्ड और माता सावित्रीबाई फुले अंतरराष्ट्रीय अवार्ड

दिनांक 11 दिसम्बर 2022 को हिंदी दलित साहित्य की महत्वपूर्ण कवयित्री, कथाकार, संपादक, आलोचक एवं कमला नेहरू कॉलेज के हिंदी विभाग में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत प्रो. रजत रानी 'मीनू' को 38 वें राष्ट्रीय दलित साहित्यकार सम्मेलन में भारतीय दलित साहित्य अकादमी की ओर से खासकर उनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए डॉ. अंबेडकर नेशनल अवार्ड 2022 से नवाजा गया ।यह अवार्ड उन्हें भारतीय दलित साहित्य अकादमी के अध्यक्ष डॉ. एस.पी. सुमनाक्षर और वर्तमान भारत के मध्यप्रदेश से वरिष्ठ सदन राज्यसभा के सांसद एवं संसदीय बोर्ड और केंद्रीय चुनाव समिति के सदस्य भाजपा नेता डॉ. सत्यनारायण जटिया द्वारा प्रदान किया गया। इसके साथ ही उन्हें दिनांक 23 जनवरी 2023 को दिल्ली विश्वविद्यालय के गेस्ट हाउस में अंतरराष्ट्रीय माता सावित्रीबाई फुले शोध संस्थान द्वारा भारत की पहली महिला शिक्षिका माता सावित्रीबाई फुले की 192 वीं जयंती के अवसर पर 'माता सावित्रीबाई फुले अंतरराष्ट्रीय अवार्ड-2023' के साथ शॉल, स्मृति चिह्न, प्रशसित पत्र और 11000 की राशि से भी सम्मानित किया गया। यह सम्मान उन्हें अंतरराष्ट्रीय माता सावित्रीबाई फुले शोध संस्थान के अध्यक्ष डॉ. हंसराज सुमन और कार्यक्रम के मुख्य अतिथि दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. योगेश कुमार सिंह द्वारा प्रदान किया गया। इस कार्यक्रम में विशिष्ट अतिथि के रूप में कुलसचिवडॉ. विकास गुप्ता, विभागाध्यक्ष प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन (हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय), प्रो. अनिल राय (हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय), सीनियर प्रो. पी.डी. सहारे(भौतिकी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) और श्री आर. एन. वत्स की गरिमामय उपस्थिति रही। कार्यक्रम की अध्यक्षता दिल्ली विश्वविद्यालयके डीन ऑफ कॉलेजिज प्रो. बालाराम पाणि जी ने की।

प्रो. रजत रानी 'मीनू' हिंदी की पहली ऐसी शोध छात्रा रहीं हैं जिन्होंने 1992 में 'हिंदी दलित कविता पर अम्बेडकर का प्रभाव' शीर्षक से जेएनयू में एम. फिल का लघु शोध तैयार किया जो कि 'नवें दशक की हिंदी दलित कविता' नाम से पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुआ। इससे पूर्व हिंदी में देश के किसी भी विश्वविद्यालय से न तो अम्बेडकर के प्रभाव का अध्ययन हुआ था और ना ही दलित साहित्य की किसी विधा का विश्वविद्यालय स्तर पर मूल्यांकन हुआ था। यह

पुस्तक नवें दशक की हिंदी दलित कविता को समझने का एक जरूरी पाठ है जो कि हिंदी दलित कविता के मूल्यांकन की पहली कड़ी है। जिससे गुजरे बिना हिंदी दलित कविताओं की प्रवृत्तियों का शुरुआती स्वर कहीं दब जाएगा। साथ ही यह पुस्तक हिन्दी दलित कविता के क्षेत्र में रुचि रखने वाले शोधार्थियों के लिए एक मार्गदर्शक की तरह है। जो उन्हें राह दिखा सकती है और उनके भ्रांतियों के कोहरे को साफ कर,नवीन दृष्टि से लैस एक दिशा प्रदान कर सकती है। उपयोगिता और प्रासंगिकता की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है जिसे पढ़ा जाना जरूरी है।

शोध और आलोचना की आधा दर्जन किताबों के अलावा प्रो. रजत रानी 'मीनू' ने मौलिक सृजन में भी अपनी खासी पहचान बनाई है। उन्होंने दर्जनों कहानियाँ लिखीं, उनका पहला कहानी-संग्रह 'हम कौन हैं ?' काफी चर्चित रहा। यह संग्रह वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ था जिसका मराठी और अंग्रेजी में अनुवाद भी हुआ है। साथ ही इस पर फ्रेंच, इटालियन में शोध भी हुआ है। इस संग्रह में कुल बारह कहानियाँ हैं। प्रो. मीनू का एक रूप कवयित्री का भी है, इनका पहला कविता-संग्रह 'पिता भी तो होते हैं मां' को बहुत सराहा गया। इस संग्रह को दिवंगत आलोचक प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने एक श्रेष्ठ कृति बताया था। 'पिता भी तो होते हैं मां' कविता संग्रह पर टिप्पणी करते हुए प्रो. कालीचरण स्नेही जी ने लिखा है कि यह कविता-संग्रह डॉ. रजत रानी की रचनाओं का भावात्मक आख्यान है। वहीं बहुचर्चित कवयित्री डॉ. अनामिका जी लिखती हैं-डॉ. रजत रानी 'मीनू' की कविताओं से गुजरना दण्डकारण्य से गुजरने जैसा गझिन अनुभव है- कहीं तीक्ष्ण धूप, कहीं सघन छांव, देसी जड़ी-बूटियों की तरल गंध से नहाई हुई छांव, कहीं तीर-तरकश, कहीं-कहीं बाबा आम्टे का आश्रम, कहीं बच्चों को स्कूल और जीवन के बृहत्तर पाठों के लिए तैयार करती सजग सरल मातृदृष्टि, भेदभाव रहित नये समाज की सरंचना बुनती मातृदृष्टि! अभी हाल ही में उनकी पुस्तक 'जाति, स्त्री और साहित्य' एकैडमिक पब्लिकेशन से प्रकाशित हो कर आई है जिसमें उनके द्वारा लिखे गए सत्ताईस महत्वपूर्ण एवं विचारणीय लेख मौजूद हैं जिनमें ग्यारह लेख स्त्री विमर्श से संबन्धित हैं जो कि दलित स्त्री के संदर्भ में दलित साहित्य का विश्लेषण करते हैं और स्त्री विमर्श की सीमाओं का बोध कराते हैं। इसके साथ ही उन्होंने कई पुस्तकों का संपादन भी किया है जिनमें 'भारतीय साहित्य में दलित स्त्री', अस्मितामूलक विमर्श और हिन्दी साहित्य, रजनी तिलक एक अधूरा सफर, अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में हिंदी साहित्य', हाशिए से बाहर (संपा. कहानी संकलन) आदि प्रमुख हैं। इसके अलावा उनके हंस, कथादेश, आउटलुक, युद्धरत आम आदमी, अन्यथा, अपेक्षा, दलित दस्तक, हिन्दुस्तानी जुबान, समकालीन भारतीय साहित्य इत्यादि पत्र-पत्रिकाओं में कहानी, कविता, समीक्षात्मक लेख इत्यादि प्रकाशित होते रहे हैं।

अनुज कुमार
शोधार्थी, हिंदी विभाग(दिल्ली विश्वविद्यालय)

RNI NO. : DELHIN/2008/27588
An International Peer Reviewed Journal
Website : www.bahurinahiawana.in

भरम में भूल रहा संसार।
बीज वस्तु कैसे के पावै, जाका सकल पसार?
किरतम नाम जान बहु थापे, करता रहा नियार ॥
एक दृष्टि चितवन नहिं तन में, को है सिरजनहार?
बेद पढ़ै पर भेद न जानै, कथनी कथै अपार ॥
आप न बूझै जगत बुझावै, सूझै वार न पार।
कहै कबीर वा घट परगट है, जो कोइ बूझनहार ॥[1]

–सद्गुरु कबीर

1. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2017, पृष्ठ संख्या 405, पद संख्या-9